हमारा धर्म

और

उसकी वैज्ञानिक रूपरेखा

लेखक

श्री नारायण सिंह

बी०-ए०, एल-एल० बी०

संपादक

श्री रामनाथ 'सुमन'

२००६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हमारा धर्म
और
उसकी वैज्ञानिक रूपरेखा

लेखक

श्री नारायण सिंह

बी०-ए०, एल-एल० बी०

संपादक

श्री रामनाथ 'सुमन'

२००६

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

सम्मेलन से इस पुस्तक को प्रकाशित करते हुए किंचित् संकोच और हर्ष दोनों होता है। संकोच इसलिए कि आज का युग और आज का पाठक धर्म के नाम से खिंचता है। उसके लिए धर्म अंधविश्वास और संकुचित परम्पराओं का द्योतक-मात्र है। इसलिए ऐसी रचनाओं का स्वागत कम ही होता है। हर्ष इसलिए कि कल्पना-प्रधान 'साहित्यिक' रचनाओं और व्यवहार-प्रधान 'उपयोगी' रचनाओं के बीच हमें एक आत्म-चिन्तन प्रधान ग्रन्थ देने का अवसर मिल गया। आज जब संसार स्थूल स्वार्थों को लेकर अस्थिर है तब तात्विक धर्म चर्चा विस्तृत मरु के बीच स्थित उस हरित लघु भूमि-खण्ड के समान है जहाँ एक छोटा-सा झरना, प्रभु की कृपा की भाँति, यात्री के ताप एवं उत्ताप को चुनौती देता है।

आज राष्ट्र निर्माण की पुकार के इस युग में हमें अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं पर भी ध्यान देना होगा। मनुष्य कुछ भी कहे और कुछ भी दावा करे—वाणी-स्वातंत्र्य एवं वाणी-सुलभता के इस युग में भी यह सत्य सत्य ही रहेगा कि मनुष्य केवल रोटी खाकर नहीं जी सकता। जीवन की गहराई में जाकर उसे आत्मार्थी होना ही पड़ेगा और बिना आत्मार्थी हुए सभ्यता का यह प्रतिदिन टेढ़ा हो रहा मेरुदण्ड सीधा नहीं किया जा सकता। इतिहास के लम्बे युगों में भारतीय संस्कृति का मानवता के प्रति यही संदेश रहा है। इस पुस्तक से उस संदेश को समझने में किंचित् सहायता मिलेगी, यह हम समझते हैं।

जैसी पुस्तक, वैसे ही उसके लेखक सीधे;—निस्पृह, उच्चस्तर पर जीवन-निर्माण की साधना में लीन। अध्ययनशील, जिन्होंने धर्म की वास्तविक भावना को अपने जीवन में उतारने की बराबर चेष्टा की है। इसलिए जो कुछ उन्होंने लिखा है वह शास्त्र-वचन ही नहीं है; वह साधना की अनुभूति भी है।

—श्री रामनाथ 'सुमन'
साहित्य मंत्री

विजयादशमी, २००६

प्राथमिक वक्तव्य

एक दिन सदा की नाईं ब्राह्म वेला में निद्रा समाप्त होने पर कौतूहल-वश और अकस्मात् मुझ जैसा चींटी सा तुच्छ जीव परमात्मा के अगम-अगाध लीला-सागर की लहरों में कूद पड़ा। शीघ्र ही जब अपनी असमर्थता देखी तो अपनी मूर्खता पर पश्चात्ताप होने लगा। किन्तु दूसरे ही क्षण मुझे उसी हरि-प्रेरणा ने हँसा दिया जिसने अभी-अभी मुझे उक्त दुष्प्रयास में प्रेरित किया था। फिर तो हरि के आनन्द में ही उसी के बल पर भला-बुरा जिसमें मुझे आनन्द आया लिखता चला गया; इसका ख्याल भी न आया कि लोग मेरे इस दुष्प्रयास का उपहास भी करेंगे या कि इस अनधिकार चेष्टा में मेरी क्या गति होगी! हरि-गुणानुवाद का रहस्य ही यह है; 'स्वान्तः सुखाय' ही उसका ध्येय है। इसीलिए, यद्यपि दूसरों को मेरे इस क्षुद्र प्रयास की आलोचना या उपहास करने का पूर्ण अधिकार है, तथापि जो आनन्दमय शान्ति मुझे इस पुस्तक के लेखन काल में प्राप्त हुई उसका न कोई चोर हो सकता है, न घातक ही। और इसीलिए इन पृष्ठों में विद्वत्ता या शास्त्रज्ञान अथवा परिमार्जित भाषा व शैली को खोजना व्यर्थ ही होगा। इन गुणों के अभाव में पुस्तक पाठकों को अरुचिकर तो लगेगी ही, किन्तु यदि उसके कंटक-वन में एक सुगन्धित पुष्प भी आपको प्राप्त हो गया तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। कम से कम जब आप पुस्तक पढ़ने के बहाने हरि-चर्चा करेंगे तो 'पवन कुमार' सैकड़ों कोस दूर से यह संदेश मेरे हृदय में पहुँचाया करेंगे। इस तरह हरि-चर्चा में आनंद ही आनंद है।

पुस्तक के शीर्षक में 'हमारा धर्म' किसी साम्प्रदायिकता का द्योतक नहीं है। उसे आद्योपान्त पढ़कर पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे। पुस्तक १२ अध्यायों में विभक्त है। विचार-तारतम्य की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय एक दूसरे से सम्बन्धित है। परन्तु जिन्हें अवकाश कम मिलता हो वे इसके किसी भी भाग को स्वतंत्र रूप से पढ़ सकते हैं। लेखक ने धर्म-जैसे क्लिष्ट विषय को यथाशक्ति

सरल, व्यावहारिक ढंग से ही व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। विचार-गाम्भीर्य क्रमशः बढ़ता हुआ मिलेगा यहाँ तक कि ११ वें अध्याय का वह भाग जहाँ सङ्गत्यनुसार यजुर्वेदीय मंत्रादि पर विचार किया गया है, आपको अत्यन्त अरुचिकर सा प्रतीत होगा। जिन्हें ऐसा लगे वे उसे छोड़ भी दें तो भी मुख्य विषय के पठन-क्रम में कोई बाधा नहीं आयेगी। पुस्तक में जहाँ कहीं किसी के मत या अर्थ का खण्डन किया है वह किसी विरोध-भाव से या स्वमत को सर्वोपरि शुद्ध सिद्ध करने की दृष्टि से नहीं किया गया है। मैंने अपने जीवन, मनन और अध्ययन से धर्म को जैसा समझा है इसमें व्यक्त किया है। यदि इससे धर्म की अनुभूति का उदय थोड़े पाठकों में भी हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

इस पुस्तक की प्रेम व लगन पूर्वक शुद्ध लिपि तैयार करने वाले श्रीयुत शोभाराम जी 'मञ्जु' तथा आग्रहपूर्वक प्रोत्साहन देने वाले श्री कस्तूर चंद जी गुप्त का मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

अंत में साहित्य-विज्ञ श्री रामनाथ जी 'सुमन' का मैं विशेष रूप से आभारी हूं जिन्होंने इस पुस्तक के सम्पादन का भार अपने ऊपर लेकर इसे इस रूप में आपके समक्ष प्रस्तुत करने की कृपा की है।

—नारायण सिंह

विषय-सूची

: १ :

विषय-प्रवेश

विषय की कठिनता

यह बाह्य जगत् स्थूल है। स्थूल जगत् का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा हो सकता है, परन्तु स्थूल जगत् की तह में सूक्ष्म तत्त्व वर्त्तमान रहते हैं, और उन सूक्ष्म तत्त्वों की तहों में उनसे भी सूक्ष्म तन्मात्रायें रहती हैं। जब हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होते हैं तब हमारे ज्ञान के साधन भी सूक्ष्म होते जाते हैं, और ज्ञान प्राप्त करना भी कठिनतर होता जाता है। इसीलिये कठिनता के दृष्टि-कोण से गम्य, दुर्गम्य और अगम्य तथा ज्ञेय, दुर्ज्ञेय और अज्ञेय इन त्रिभावात्मक शब्दों का प्रयोग भाषा में किया जाता है।

जिस विषय में हम प्रवेश करना चाहते हैं, उसका सम्बन्ध भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों स्थितियों से है। मानसिक एवं आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कठिन परिश्रम की आवश्यकता होती है; परन्तु देखते हम यह हैं कि लोग दस-पाँच पुस्तकें पढ़कर दो-चार साल के स्वाध्याय के अनन्तर ही अपने आप को प्रगाढ़ धर्मवेत्ता या तत्त्वज्ञानी समझने लगते हैं। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के लोग धर्म विषय से इतना चिढ़ जाते हैं कि उसे केवल गप्प या कल्पनायें कहने लगते हैं। पर यह उनकी भूल है। जब भौतिक ज्ञान के अन्वेषक तद्विषयक शास्त्रों के अध्ययन में वर्षों व्यतीत करने पर भी उसकी सीमा तक नहीं पहुँच पाते तो फिर उनका ऐसे गहन और सूक्ष्म दार्शनिक विषयों से इतनी जल्दी ऊब उठना कहाँ तक युक्तिसंगत है। एक विद्यार्थी मैट्रिक परीक्षा पास करने के लिये १०-११ वर्ष व्यतीत कर देता है; वही बिना स्वाध्याय के, बिना अभ्यास के, बिना सत्संग या योग्य गुरु के

धर्म-विषय से चिढ़ जावे या उसे केवल काल्पनिक कहे, यह अज्ञान नहीं तो क्या है ? हमारा विश्वास है कि यदि कोई व्यक्ति जिज्ञासु हो और मनन करे तो स्थूल जगत् के साधारण से साधारण उदाहरणों के आधार पर चलकर वह शनैः-शनैः सूक्ष्म धर्मतत्त्वों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ऋषि-मुनियों के साधन भी इन्हीं पर निर्भर रहे हैं। इसलिए सर्वप्रथम जिज्ञासु होना चाहिये। यदि किसी चीज को जानने की इच्छा ही नहीं है तो उपाय ही कहाँ से आवेंगे। दृढ़ इच्छा के साथ कठिन अभ्यास और सत्संग अथवा गुरु-सङ्ग होना नितान्त आवश्यक है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि भौतिक विज्ञानों से परिचय प्राप्त करने के लिये तो कई वर्षों तक रात रात भर पढ़ा जाय, कई अध्यापक पढ़ाते-लिखाते रहें और माता-पिता, भाई-बन्धुओं, सखा-मित्रों की सुसंगति पर विचार रखा जाय, परन्तु धर्म-शास्त्रों तथा तत्वज्ञान को केवल दो-चार वर्षों में ही बिना परिश्रम, बिना गुरु और बिना अभ्यास के मनुष्य सीख डालना चाहे।

लेखक की कठिनाइयाँ

किसी बात को समझना कठिन है, पर समझी हुई बात को समझाना और भी कठिन है। वक्ता और लेखक को इस कठिनाई का अनुभव होता है। परन्तु वक्ता से लेखक का कार्य कहीं अधिक कठिन है। वक्ता के पास भाव-प्रदर्शन के दो साधन रहते हैं—शारीरिक संकेत और भाषा। परन्तु लेखक का साधन केवल भाषा ही है। वक्ता श्रोताओं के चेहरों पर उनके शंकायुक्त प्रश्नों से, उनकी विरोधात्मक ध्वनि से तथा उनकी अरुचिसूचक संकेतों से जान जाता है कि वह अपने भाव को ठीक नहीं समझा सका। परन्तु लेखक इन सब संकेतों से वंचित रहता है। वक्ता को एक ही बात समझाने के लिए कई उदाहरण और प्रमाणों द्वारा अवकाश मिलता है, लेखक को नहीं। वक्ता की भाषा मिश्रित और अपरिमार्जित रहे तो चिन्ता नहीं, पर लेखक को इस पर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। लेखक के पास केवल भाषा ही साधन-स्वरूप रह जाती है।

भाषा की अपूर्णता

पर आप जानते हैं, भाषा विचार-विनिमय का कृत्रिम साधन मात्र है। यद्यपि उपयोगिता की दृष्टि से उसका स्थान अत्यन्त मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण माना जाता है, तथापि गंभीरभाव और स्वानुभवों को पूर्णरूपेण सफलतापूर्वक प्रगट करने के लिए वह असहाय अबला-सी सिन्धु तीर पर सहमी हुई खड़ी हो जाती है। वह अनाड़ी, अनुभवहीन माली की तरह फूलों को तोड़-मरोड़ कर बेतुकी माला तैयार करती है। भावों के उद्गम तक उसकी पहुँच क्वचित् ही होती है। युरोप के नोबेल पुरस्कार-विजेता श्रीयुत हैमसन ने ठीक ही लिखा है कि शब्दों के द्वारा अन्तर के दर्शन की कल्पना निरर्थक है। बाह्य जगत् का समझना या समझाना सुगम है, आन्तरिक सूक्ष्म जगत् की स्थिति दूसरी है। पदार्थ-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान से सरल होता है और तत्त्वज्ञान भावात्मक ज्ञान से। इन्द्रिय, मन और आत्मा इन तीनों के विषय भिन्न हैं। और उनकी गति सरलता से दुरूहता और रहस्यमयता की ओर है। हाँ, यह भिन्नता ऐसी नहीं कि वह एक दूसरे से सम्बन्धित न हो। जब तक मनुष्य विमुक्त नहीं होता तब तक इन तीनों का सम्बन्ध, चाहे जिस रूप और अंश में हो, बना ही रहता है।

जिस प्रकार एक ढुलकती हुई गेंद का या एक छोटे से निर्मल गर्म स्रोत के बहते हुए पानी का, विकृत परिस्थितियों को पार करने के कारण, अन्त में कुछ दूसरा ही स्वरूप स्पष्ट होता है उसी प्रकार आध्यात्मिक आत्मानुभवों का सम्बन्ध श्रोताओं और पाठकों के समक्ष आते-आते परिवर्तित हो जाता है, क्योंकि उन्हें आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की विकृत परिस्थितियों से पार होना पड़ता है। दृष्टांत लीजिये, एक मनुष्य एक दूसरे मनुष्य को मार रहा है। दूसरे दो मनुष्य दर्शक हैं। दोनों के हृदय में दया उठी और अन्त में जनता के सामने बात आई। पर दोनों के विवरणों में कितना अन्तर हो गया? एक में क्रोध अधिक, दूसरे में कम। जिसको मोह अधिक हुआ वही क्रोध से जल उठा। यदि पिटने वाले से किसी दर्शक का किसी प्रकार का स्वार्थ है तो मोह और

क्रोध का रूप और भी प्रचण्ड हुआ। लड़ाई समाप्त होने के बाद भय उत्पन्न हुआ कि अमुक बात कहने से कोई मुझे ही न मार बैठे इत्यादि इत्यादि परिस्थितियाँ पार करके दयाभाव को उपस्थित होना पड़ा। अब देखिये उसका मूल स्वरूप और अन्तिम स्वरूप एक ही घटना और उसके भिन्न भिन्न भाष्य! क्यों? मनुष्य काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि विषयों का पुतला है जिनका निवास शरीर के ढांचे की रगरग में रहता है। उत्तम-शुद्ध-सत्य-स्वरूप भाव जैसे-तैसे इन विकारों से पार हुआ कि बाह्य जगत् के राग-द्वेष, जाति-भेद, शिक्षा-संस्कृति इत्यादि कारणों से प्रभावित होता है, तब कहीं भाषा-रूप कृत्रिम साधन उसके पास पहुँचता है और उसका स्वरूप-दर्शन कराने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार का विकृत चित्र खींचने में भी भाषा बहुधा असफल ही होती है। शब्द-भाण्डार भाषा की साधन-सामग्री है। जिस कलाकार के पास जितनी प्रचुर और उपयुक्त मात्रा में यह भांडार होता है उतना ही वह सत्य रूप को प्रगट करने में समर्थ होता है।

पुस्तक लिखने का कारण

मेरे पास न प्रचुर शब्द-भांडार है, न मँजी हुई सुन्दर भाषा ही; न मैं अनुभवी हूँ, न स्वाध्यायी; न सत्संगति ही मिली, न मनन ही किया। फिर भी चल पड़ा हूँ। केवल इसलिये कि समस्त वेदनायें इस बहती हुई हृदयोद्भूत गंगा में बुझा ली जाँय। इस प्रकार की तीव्र जिज्ञासा की वेदना समय-समय पर सभी संस्कृत मनुष्यों को हुआ करती है क्योंकि जिज्ञासा की शान्ति के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता, जो प्रत्येक मनुष्य का ध्येय है। यह शांति कोई ऐसी चीज नहीं जो बाहर पड़ी हो और उठा ली जाय अथवा कोई किसी को दे दे। उसका स्थान है हमारा हृदय जो बहुधा आंसुओं के रूप में बहकर धधकती हुई ज्वालाओं को बुझा देता है।

शान्ति तो मैं किसी को दे नहीं सकता पर इस बहे हुए प्रवाह में यदि कोई उसे प्राप्त करने का केवल साधन ही पा जाय तो मुझे अपने परिश्रम पर अत्यन्त संतोष होगा, उसके सुख के साथ मेरा भी सुख बढ़ेगा। मेरा स्वार्थ

यही है कि बिखरे हुए भाव-प्रसूनों को एकत्र कर एक धागे में पिरो करके उनकी एक माला बना लूं और अपने प्रभु को पहिनाकर आनन्दोल्लास में मग्न हो जाऊँ। यह बालक का प्रयास है।

पाठकों से प्रार्थना

बालक सरलता का द्योतक है, इसलिये उसकी रचनाओं में सरलता रहना स्वाभाविक है। वह सरल से कठिन की ओर जाता है। उदाहरणों की सीढ़ियों का आधार लेकर सिद्धान्त तक चढ़ना उसका मुख्य कार्य है। यही इस पुस्तक में मिलेगा। बालक भूलें भी बहुत करता है, पर भूलों के काँटों में छिदते-छिदते ही उसका हाथ गुलाब-पुष्प तक पहुँच पाता है। इसलिए सुधी जन इस प्रयास में जो अच्छाई हो उसे ले लें, जो अवांछनीय जँचे, उसे छोड़ दें।

: २ :

सुखेच्छा और उसका साधन

मनुष्य नकल का पुतला

मनुष्य नकल का पुतला कहा जाता है और है भी यह बात सच! उसका जीवन मानो पूर्वजों और समकालीन मनुष्यों के अनुभव एवं उनकी चलाई हुई लीकरेखा का सम्मिश्रण (परिणाम-स्वरूप) है। उसमें नकल का इतना समावेश हो जाता है कि उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि कौन नकल है, कौन असल। यहाँ तक कि वह अपने कार्यों का न तो कारण ही बता सकता और न उनके फल पर ही विचार करता है। शरीर-स्वांग जैसे केश-कलाप, शरीर अच्छादन जैसे नेकटाई आदि लगाना, भोजन जैसे चम्मच और फॉर्क आदि से खाना, इन सब बातों में सम्मिश्रण देखिये। इस नकल का साम्राज्य केवल शारीरिक दिन-चर्या ही में नहीं, वरन् मानसिक और आध्यात्मिक बातों में भी रहता है। अपने आधिपत्य के कारण वह मनुष्य को इस तरह चंगुल में फँसा लेती है कि वह उससे निकलकर भागने की भी नहीं सोचता।

वह कभी इसपर विचार ही नहीं करता कि किस मनुष्य ने किस देश की किन परिस्थितियों में कौन से समय पर अमुक बात निर्धारित की थी, और क्या अब भी वही कारण विद्यमान है। उसे इन सब बातों से कोई मतलब नहीं। वह तो लकीर का फकीर बन गया है। यही कारण है कि सन्तति अपने पूर्वजों की धर्म-लीक छोड़ना नहीं जानती और वह धीरे-धीरे कट्टर सम्प्रदाय बन जाता है।

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म का सामान्य अर्थ 'धारण करना' है। जिस वस्तु की जो मूल

प्रकृति होती है वही उसका धर्म कहलाता है। जैसे अग्नि का धर्म है जलाना, जल का धर्म है शीतल करना और विष का धर्म है मारना। मनुष्य का धर्म है अपने 'स्व' को पहचान कर अपने चतुर्दिक फैले अज्ञान से ऊपर उठना और यह अनुभव करना कि उसकी आत्म-प्रकृति चिर आनन्दमयी है—दुख का आच्छादन मिथ्या है। धर्म किसी व्यक्ति-विशेष या जाति-विशेष के लिए नहीं; वह है सर्व-सामान्य के लिए। इसीलिए जन साधारण का हित-चिन्तन ही धर्म-प्रवर्तकों का ध्येय रहता है और उसी ध्येय को प्राप्त करने के अभिप्राय से वे दशा, देश वा काल के अनुसार सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु कालान्तर में उन्हीं सिद्धान्तों की तोड़-मरोड़ की जाने लगती है। कभी जान बूझकर स्वार्थ एवं द्वेषभाव के कारण और कभी अज्ञान एवं स्वजातीय अभिमानवश। इस तोड़ मरोड़ के कारण संसार में परस्पर मुठभेड़ होती और खून-खच्चर होने लगता है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इसका प्रमाण है। परिणाम यह होता है कि धर्मानुयायी धर्म-प्रवर्तकों के ध्येय से कोसों दूर हो जाते हैं। वे उनके नाम पर सारे संसार के जीवन को नारकीय बना देते हैं और प्रवर्तकों की आत्मा तथा उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों पर घोर आघात करते हैं।

प्रत्येक धर्म का उद्देश्य शान्ति और सुख है

यदि ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक का उद्देश्य सदा से यही रहा है और रहेगा कि समाज में शान्ति की स्थापना हो, क्योंकि शान्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता, जिसे प्राप्त करने की आकांक्षा प्राणि-मात्र को होती है। भिन्नता यदि होती है तो केवल साधनों की क्योंकि—समय और परिस्थितियों के अनुसार उनका भिन्न होना स्वाभाविक है। साधनों का निर्धारित करना धर्म-प्रवर्तक विशेष की ज्ञान-सीमा तथा संस्कृति पर भी निर्भर रहता है।

साधन-भिन्नता रहते हुए भी मूलाधार सब धर्मों का एक ही है। वह है वास्तविक सुख की प्राप्ति। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सदा सुखी रहे,

एक क्षण भी उसे दुःखांश न हो। परन्तु वह सुख चाहता है दूसरों से प्राप्त करना; स्वयं कुछ नहीं करना चाहता। यह सुख, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शान्ति के बिना नहीं मिल सकता। प्रत्येक धर्म इस शान्ति की पुकार करता है। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को बार-बार इसकी याद दिलाता है। क्या मुसलमान, क्यां ईसाई, क्या हिन्दू हर एक को आदेश है कि अपनी प्रार्थना 'शान्ति' शब्द पर ही समाप्त करे। मुसलमान 'आमीन', ईसाई 'एमीन' (Amen)* और हिन्दू "शान्तिः शान्तिः शान्तिः" कहकर प्रार्थना समाप्त करता है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों ने शान्ति शब्द को तीन बार दुहराने की आज्ञा देकर उसके महत्त्व पर विशेष ध्यान दिलाना चाहा है। शान्ति की प्राप्ति ध्यानावस्था पर निर्भर है। विकार-रहित मनःस्थिति का ही नाम शान्ति है। शान्त शम् धातु से बना है, अर्थात् वह स्थिति जहां समस्त विकारों का शमन हो चुका हो।

निर्विकल्प समाधि

पूर्ण शान्ति शून्यवत् होती है; वहां अस्थिरता का नाम नहीं। आकाश, जो शून्याकार है, शान्ति का द्योतक माना जाता है। अनेकानेक लघु-दीर्घ अण्ड-ब्रह्माण्डों की क्रियायें-प्रतिक्रियायें होते रहने पर भी वह अविचल समाधि-सी धारण किये रहता है। किसी चहल-पहल का उस पर कोई असर नहीं होता। इसी आकाश को कबीर, दादू आदि सन्त कवियों ने गुरु कहकर संकेत किया है। जहाँ किसी प्रकार के आन्दोलन, चहल-पहल या चंचलता का कोई प्रभाव न पड़े उसे निर्विकल्प कहते हैं। इसी शून्यावस्था के प्राप्त करने को निर्विकल्प-अचल समाधि कहते हैं। यह अवस्था प्राप्त किये बिना मनुष्य को पूर्ण सुखानुभव नहीं हो सकता। ध्यानावस्थित हो जाना ही समाधि है। ध्यान अवस्था वही है जब मनुष्य एकाग्र अथवा एकचित्त हो जाता है। यद्यपि एकचित्त होने

---

*'आमीन' यह एक हेब्रू भाषा का शब्द है, इसका शब्दार्थ है—'ऐसा ही हो'।

का अनुभव प्रत्येक मनुष्य को प्रति क्षण अपने हर एक कार्य के सम्पादन करने में होता है क्योंकि उस साधन के बिना उसका कोई कार्य ही सिद्ध नहीं हो सकता तो भी वह उसके महत्त्व-ज्ञान से वंचित रहता है।

हमारी एकाग्रता और योगी की समाधि में केवल श्रेणी-भेद है, परन्तु वह अन्तर इतना अधिक है कि यदि हम प्रथम सीढ़ी पर हैं तो वह हमसे कोसों दूर अन्तिम सीढ़ी पर। जो ध्यान लगाना सीख लेता है उसी को आनन्द होता है। उसी को कार्य की सफलता होती है। मनुष्य का काम बिना ध्यान के एक क्षण नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ एक लकड़ी छीलते हुए बढ़ई को लीजिये। ज़रा भी ध्यान उचट जाय तो वह हाथ-पैर काट ले, भोजन करते समय ध्यान न हो तो ग्रास कहीं का कहीं चला जाय, चलते समय पैर कहीं के कहीं पड़ जाँय, एक दूसरे से टकरा जाँय। परन्तु खूबी है अभ्यास की। रात दिन समय-समय पर एक ही कार्य को एक ही विधि से करते रहने पर हम इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हमें इस बात का विचार ही नहीं आता कि हम उस कार्य को ध्यान से कर रहे हैं या बिना ध्यान के। इस अभ्यास के कारण हमारी कर्मेन्द्रियाँ भी आप से आप अपने कर्मकेन्द्रों पर पहुँचने लग जाती हैं।

ध्यानावस्था की सीमाएँ

शारीरिक कार्यों के लिये जितने ध्यान की आवश्यकता होती है उससे कई गुणा अधिक ध्यान मानसिक कार्य के लिये आवश्यक होता है। विद्यार्थी का ध्यान यदि ज़रा भी उचट जाय तो वह अपने विषय को पूरा नहीं कर सकता। गणित, पदार्थ-विज्ञान इत्यादि किसी भी विषय को लीजिये। जो जितनी अधिक एकाग्रता से अध्ययन करेगा वह उतनी ही सफलता पा सकेगा चाहे वह पाठशाला का विद्यार्थी हो अथवा कोई और उन विषयों का इच्छुक या प्रेमी। फिर अध्यात्म ज्ञान तो मानसिक ज्ञान से भी कठिन है, इसलिये उसे प्राप्त करने के अभिप्राय से ध्यान-मात्रा और भी अधिक बढ़ानी पड़ती है।

ऋषि, मुनि और योगी इसे प्राप्त कर सकते हैं अथवा यों कहिए कि

उसे वही प्राप्त कर सकते हैं जो अपने ध्यान की सीमा अभ्यास द्वारा उच्चकोटि तक ले जाते हैं। धर्मशास्त्रों में इस उच्चकोटि के ध्यान को समाधि कहते हैं। योगशास्त्र में वर्णित यह समाधि ध्यान की आठवीं तथा अन्तिम श्रेणी कही गयी है। समत्व प्राप्त कर लेने की शक्ति का नाम ही समाधि है। जिस स्थिति में केवल किसी एक वस्तु का ध्यान रहे, वह सविकल्प समाधि कहाती है। उसका आधार मात्र एक ही विचार रहता है। धर्मशास्त्रों की भाषा में यह कहा जाता है कि उक्त स्थिति में केवल ईश्वर-चिन्तन का विचार जारी रहता है। वही एक ज्योति रहती है जिसके प्रकाश में योगी लीन रहता है। वह ज्योति है अहंभाव की। इस अवस्था में केवल एक भाव 'अहं ब्रह्मास्मि' कार्यशील रहता है। इसे तुरीयावस्था कहते हैं। जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन के बाद, तुरीय अवस्था प्राप्त होती है। संस्कृत में तुर्य वा तुरीय 'चतुर्थ' शब्द के द्योतक हैं। तुरीयावस्था से भी उच्चकोटि की समाधि है जिसे निर्विकल्प या तुरीयातीत समाधि कहते हैं। वहां न किसी का चिन्तन, न कोई चिन्तन करने वाला और न चिन्तन क्रिया ही विद्यमान रहती है। ध्यान, ध्येय और ध्याता सब एक हो जाते हैं। उत्तर योग-दर्शन के निर्माता महर्षि पतञ्जलि ने इसी स्थिति को 'असम्प्रज्ञात' समाधि कहा है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देखने वालों को इस प्रकार का समाधिस्थ पुरुष निर्जीव-सा प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थ में वह ऐसा नहीं होता। वह अचेत नहीं, पूर्ण चैतन्य रहता है। अहंभाव विलीन हो जाने पर वही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

ध्यान और अभ्यास

यदि इस ओर भी निरन्तर अभ्यास किया जाय तो उसी प्रकार सफलता प्राप्त हो सकती है, जिस प्रकार शारीरिक कार्यों में हो जाती है। परमहंस रामकृष्ण ऐसे योगी अभ्यास-सिद्ध होने के कारण चाहे जब हँस देते, चाहे जब रो देते, चाहे जब अपने आप बातें करने लगते और चाहे जब अचेत दिखाई देने लगते। इसी अभ्यास द्वारा ध्यानावस्था में सिद्ध होने से समस्त क्रियाएँ प्रतिक्रियाएँ योगी को विचलित करने में नितान्त निष्क्रिय होती हैं।

ध्यान-प्राप्ति का साधन

जब ध्यान का इतना महत्व है तो उसे हम किस तरह प्राप्त करें, यह प्रश्न स्वभावतः मन में उठता है। विद्वान्-अनुभवी महानुभावों ने इस पर मनन किया और इस विषय पर भी ग्रन्थ पर ग्रन्थ लिख डाले। इस विषय पर लिखे हुए ग्रन्थों का नाम है योगशास्त्र। योग का अर्थ है 'जोड़'। बिखरी हुई शक्तियों को जोड़ लेने या एकत्र कर लेने की क्रियाओं को बताने वाले शास्त्र का नाम है योग-शास्त्र। सूर्य की किरणें बिखरने पर तेज-हीन उष्णता-हीन हो जाती हैं, अथवा यों कहिये कि उनमें विद्यमान तेज और उष्णता का प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर हो जाता है। उन्हीं किरणों को एक कांच के लेन्स (चश्मा के कांच) से इस तरह निकालो कि जिससे वे सलाई के रोगन पर केन्द्रित हो जांय तो तुम देखोगे कि वे ही निस्तेज किरणें उस रोगन को जला देती हैं। इसी तरह हमारे अन्दर सूर्य के समान् तेजस्वा एक अद्वितीय शक्ति विद्यमान रहती है, परन्तु उसकी शक्ति मन और इन्द्रियों द्वारा बिखर या विनष्ट हो जाती है। यदि हम अपने मन और इन्द्रियों को बाहर न जाने देकर भीतर ही खींचने की शक्ति प्राप्त कर लें तो इसमें सन्देह नहीं कि हम उक्त केन्द्रित किरणों के समान पुनः तेज को प्रकट कर सकते हैं। इन बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित कर लेने की कार्य-कुशलता के क्रम से हमारा तेज पुञ्ज लघु से लघु और दीर्घ से दीर्घ स्वरूप हो सकता है। इन्द्रियों को संकुचित कर अपने भीतर खींच लेने का उदाहरण धर्मशास्त्रों में कच्छप से दिया जाता है जो अपने सिर आदि अग्र भाग को इच्छानुसार भीतर कर लेता है।

मन को वश में करने के उपाय

ध्यान को विचलित कर देने वाला मन है। वह इतना चंचल है कि क्षण में इधर तो क्षण में उधर घसीट ले जाता है। मनुष्य को चकरी-सा घुमाया करता है। पांचों कर्मेन्द्रियाँ और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इसकी चाकरी बजाया करती हैं। वह उन्हें जी चाहे जैसा नचाया करता है। वह बुद्धि और चित्त को आतंकित कर देता तथा उनको दूषित कर विक्षिप्त बना देता है। इन्द्रियाँ इधर-

उधर खींचकर न ले जा सकें तथा बुद्धि एवं चित्त अपनी विक्षिप्त स्थिति के कारण मूल स्वरूप को मृग-जलवत् कहीं और आरोपित न करने लगें, इन्हीं के उपाय योग-शास्त्र में बताये गये हैं। चूँकि मन ही जीव पर आधिपत्य जमाकर क्षण-क्षण में विकार उत्पन्न करता रहता है इसलिए इसी को वश में करने की क्रियायें योग ग्रन्थों में बताई जाती हैं। यथार्थ में प्रत्येक कार्य को कुशलतापूर्वक अथवा भली-भाँति निबटाने का नाम ही योग है इसलिए "कर्मसु कौशलम् योगः" (गीता अ० २ श्लो० ५०) कहा गया है। जहाँ कार्य-कौशल है वहीं योग है, अथवा जहाँ योग है वहीं कौशल है। इसी कारण से कर्म, ज्ञान और भक्ति-मार्गी सभी अपने अपने पन्थ-सूचक शब्द के साथ योग या योगी जोड़ते हैं यथा कर्म योग—कर्म योगी, ज्ञान योग-ज्ञान योगी इत्यादि। परन्तु यह कार्य-कुशलता मन को वश में किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती और मन की वृत्तियों को रोके बिना मन वश में नहीं किया जा सकता। वेदान्ती अन्तःकरण-चतुष्टय, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों को उनकी भिन्न-भिन्न वृत्तियों के रहते हुए भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध के कारण मन ही के भेद मानते हैं। सांख्य दर्शन में भी उन्हें अवान्तर भेद से माना है जैसा कि इस सूत्र से ज्ञात होता है—"करणं त्रयोदश विधमवान्तरभेदात्" (२।३८)। महर्षि पतञ्जलि ने भी अपने योग—दर्शन के दूसरे सूत्र में सम्भवतः इसी सम्बन्ध पर ध्यान रखते हुए कहा है "योगश्चित्त-वृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है। मूल में चित्त वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं। दुःखप्रद और सुखप्रद, जिन्हें महर्षि पतञ्जलि ने क्लिष्ट और अक्लिष्ट कहा है। मन को रोक कर उसे एक स्थान पर केन्द्रित कर लेने वाले को गीता में कथित व्यवसायात्मक बुद्धि, समत्व बुद्धि, स्थित प्रज्ञावस्था इत्यादि प्राप्त होती है। यथार्थतः समत्व ही योग है—"समत्वं योग उच्चते" (गीता २।४८)

मनोनिग्रह करना सरल नहीं

मन या चित्त की वृत्तियों को रोकना या उनका निग्रह करना वायु-

गति के समान अत्यन्त कठिन है। इसका सम्बन्ध हमारे भोजन, शरीर, संगति आदि से रहता है। सर्वप्रथम सात्विक भोजन करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। विचार करने पर और अनुभव से यह बात शीघ्र समझ में आ जाती है कि भोज्य पदार्थ के गुणों का प्रभाव मन वा बुद्धि पर पड़े बिना नहीं रहता। भोज्य और अभोज्य पदार्थों पर विचार रखने के अतिरिक्त यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि हम अपने शारीरिक अवयवों और देहान्तरिक वायु का सामञ्जस्य रखें। अर्थात् हमको आसनों और प्राणायाम का भी अभ्यास करना चाहिये। गरज़ यह है, कि शास्त्र-विहित शारीरिक व्यायाम और अन्य क्रियाओं एवं प्राण वायु को नियमपूर्वक चढ़ाने उतारने से मन की चपलता का विनाश होता है और क्रम क्रम से उसका आधिपत्य एवं उसकी निरंकुशता घटती जाती है। निरन्तर वैराग्य-युक्त अभ्यास, शास्त्राध्ययन, मनन एवं सत्संगति से भी मन को काबू में करने की शक्ति बढ़ती है। ज्यों-ज्यों यह शक्ति आती जाती है त्यों-त्यों हमारी बुद्धि और चित्त निर्मल और ज्योतिर्मय होते जाते हैं। उनकी उज्ज्वलता और निर्मलता में हमें अपना ही सच्चा स्वरूप इस तरह दिखाई देने लगता है जैसे निर्मल शुद्ध दर्पण में मुख। उनके प्रकाशमय होने से हमारा आन्तरिक अन्धकार मिटने लगता है और हम ज्योतिर्मय आभा में मग्न होने लगते हैं। जितना अधिक मन की वृत्तियों का निग्रह होगा उतना ही अधिक वह एक स्थान पर स्थिर रह सकेगा और उसी क्रम से ध्यान लगाने की मात्रा बढ़ती जावेगी, तथा जितनी प्रचुरता ध्यान मात्रा की होगी उतनी ही कार्य-क्षमता, उतनी ही कार्य-कुशलता, प्राप्त होगी।

कठिन होने पर भी आशामय

इतिहास, पुराणादि तथा अन्य गाथाओं में हमें ऐसे ऋषि-मुनि एवं श्रेष्ठ विज्ञजनों के दृष्टान्त मिलते हैं कि जन्म जन्मान्तर की तपस्या और कठिनतम कष्ट-सहन के पश्चात् भी समय पाकर उनका मन विचलित हो उठा जिसके कारण मोहादि में फँस वे अपने उच्चादर्श से गिर गये। रामायण

पढ़ने वालों के समक्ष नारद-मोह का उदाहरण है। नारद मुनि सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी और भक्त थे फिर भी स्त्री-मोह के कारण उन्हें डिग जाना पड़ा। परन्तु इन दृष्टान्तों से निराश होने की आवश्यकता नहीं। गिरने-उठने, भूल और पश्चात्ताप से, तथा संघर्ष से ही विकास होता है। यह मार्ग दुर्गम होने पर भी त्याज्य नहीं है, और न लोगों ने उसे त्यागा है क्योंकि उसका अनुसरण किये बिना हृदय की जलन कभी नहीं बुझी और न बुझेगी। आशा का बाना लेकर जो इस कठिन मार्ग को क्रमशः पार करने में लगे रहते हैं वे ही सुखानुभव कर सकते हैं और दूसरों को सुखी बना सकते हैं। इसलिए निराश कभी न हो।

सारांश यह कि मानव-मात्र में सुख की स्पृहा है। पर जब तक वह आत्मरूप को नहीं पहचानता, तब तक सच्चे सुख की प्रकृति का भी उसे परिचय नहीं होता। यह सच्चा सुख, जिसे शास्त्र की शब्दावली में निरतिशय आनन्द कहा जाता है, तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक मनुष्य मन के ताने-बाने को तोड़कर ऊपर नहीं उठता, जब तक मन के बंधनों में वह बँधा है। इसलिए मन को निर्मल, एकाग्र, आत्मस्थ और केन्द्रित करना आनन्द-साधना की पहली सीढ़ी है। चित्त-वृत्तियों का निरोध सतत अभ्यास, गुरु-अनुग्रह, आहार-संयम से धीरे-धीरे होता है।

: ३ :

व्यक्ति और समाज

पुनः स्मरण

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके कि प्रत्येक मनुष्य सुख की इच्छा करता है। सुख शान्ति के बिना नहीं मिलता, शान्ति ध्यान की सहवासिनी है। ध्यान एकाग्र अथवा एक चित्त हो जाने का नाम है जो उच्च कोटि पर पहुँचने से सविकल्प और निर्विकल्प समाधि कहा जाने लगता है। ध्यान की प्राप्ति मन के विकारों को रोके बिना असम्भव है। मन के विकारों पर विजय प्राप्त करना मनोनिग्रह कहलाता है। मनोनिग्रह योग-क्रियाओं और निरन्तर अभ्यास पर अवलम्बित है।

सत्य सुख और विषय-भोग

मनोनिग्रह से प्राप्त किया हुआ सुख ही सच्चा सुख है। इसे चाहे स्वर्गीय सुख कह लो, चाहे पारलौकिक या बन्ध-मुक्त। यही चिरस्थायी और नित्य है। लौकिक सुख क्षणिक और विष से भरे हुए कनक-कलश सा रहता है। वह सदा दुखदायी रहता है। उसे सुख न कह कर विषय-भोग, विषय मोह अथवा विषयवास कहना ही उपयुक्त है। रात दिन के प्रत्यक्षानुभव से हमें ज्ञात है कि मुकुटधारी छत्रपति से लेकर नग्न-भेषी भिखमंगा तक किसी न किसी चिन्ता में व्यस्त रहता है जो आस्तीन के साँप सरीखी भीतर ही भीतर डसा करती है। जहाँ चिन्ता है वहाँ अशान्ति, और जहाँ अशान्ति है वहाँ सुख कहाँ।

वैयक्तिक सुख सामाजिक सुख के लिये है

ध्यान लगाकर बैठ जाने से शान्ति प्राप्त कर सुखानुभव करना यह वैयक्तिक धर्म हुआ। परन्तु मनुष्य का जीवन केवल वैयक्तिक ही नहीं,

वह सामूहिक भी है। उसे समाज में रहना पड़ता है इसलिए वैयक्तिक धर्म के अतिरिक्त उसका सामाजिक धर्म भी होना आवश्यक है। समाज व्यक्ति का ही फैला हुआ रूप है। ज्यों-ज्यों मनुष्य मनोनिग्रह द्वारा निर्मल और पवित्र होता जाता है त्यों त्यों वह अन्तःस्थ आत्मस्थ होता जाता है। और ज्यों-ज्यों वह आत्मस्थ होता है, सबको आत्मरूप देखता है, जीव मात्र के प्रति उसमें अभिन्नता की अनुभूति उदित होती है। इसलिए आत्मानुभव के मार्ग में अपने से पिछड़े जनों के प्रति स्वयं कर्म बन्धन से मुक्त होकर भी, वह द्रवित होता है तथा लोक संग्रहार्थ सामाजिक धर्म का पालन करता है।

फिर सभी मनुष्य मन के बन्धनों से मुक्त होकर निश्चल नहीं हो सकते। अधिकांश साधना-पथ में चलते हुए भी स्थूल जगत् के अनेक कर्मों में बँधे रहते हैं। उनका जीवन एक दूसरे के सुख-दुख, अनुभव पर निर्भर करता है। इसलिए समाज के सामूहिक हित-चिन्तन के बिना सामान्य मनुष्य, स्वार्थ की दृष्टि से भी, सफल नहीं हो सकता। मनुष्य के विचारों को चतुर्दिक का वातावरण तथा संस्कार प्रभावित करते हैं। दुष्ट भावनाओं से वातावरण में अशान्ति का प्रचार होगा। इस अशान्ति का असर वैयक्तिक शान्ति-साधक पर भी हुए बिना नहीं रह सकता। उसके कार्य में विघ्न आये बिना नहीं रह सकते चाहे वह कितनी ही दूर निर्जन घने जंगल में चला जाय या गुफाओं में बैठ तपस्या करने लग जाय। क्या स्मरण नहीं है कि रावण-राज्य के खलों से भरे हुए समाज के कारण ऋषि-मुनियों को कितनी बाधायें आती थीं। वे खल—खल ही राक्षस कहलाते हैं—ढूँढ़-ढूँढ़ कर दूर छिपे हुए बेचारे तपस्वियों को कारणवश या अकारण ही सताते थे जिसका फल यही होता था कि उनकी शान्ति भंग हो जाती थी और उसी शान्ति-स्थापना के लिए उन्हें परमात्मा से प्रार्थना करनी पड़ती थी। यही कारण है कि धर्मप्रवर्त्तकों ने अपने निर्धारित सिद्धान्त एवं नियमादि में केवल वैयक्तिक सुख का ध्येय नहीं रखा। वैयक्तिक सुख-साधना के बिना सामाजिक सुख नहीं हो सकता। इसलिये उसकी प्रधानता दिखाई देती है। खल-प्रकृति का एक ही व्यक्ति समाज को उसी प्रकार दूषित बना सकता है जिस प्रकार एक ही कीड़ा फल को सड़ा सकता है।

लोक-संग्रहार्थ कर्म करना

इसलिए आत्यन्तिक सुख-साधना या परमार्थ की ओर अग्रसर होते हुए भी लोक-कल्याण के लिये प्रत्येक मनुष्य को कर्म-शील होना अत्यावश्यक है। कोई भी धर्म उसे अकर्मण्यता का पाठ नहीं पढ़ाता। वह पढ़ाता है विकार-हीन ध्यानावस्था में पूर्ण शान्ति से अपने लक्ष्य को ढूढ़ना जिससे कार्य में चूक न हो। यह वही कर्मण्यता है जिसे धर्म-शास्त्र में कर्म योग कहा जाता है। कर्म करने का अभिप्राय और ढंग जितनी उत्तम रीति से श्रीमद् भगवद् गीता में श्रीकृष्ण भगवान् द्वारा बताया गया है उतना किसी अन्य साहित्य में नहीं मिलता, यह मानी हुई बात है। 'लोक-संग्रह' उसका अभिप्राय है। शान्तिमय स्थिति में मनुष्य अपने लक्ष्य को ढूँढ़ परमात्मा की शरण ले आत्मसमर्पण करे तथा परिणाम क्या निकलेगा—सफल होगा या असफल—बुरा फल होगा या भला—इस पर विचार न करे और निर्धारित किये हुए कर्म में संलग्न रहे—यही उस गीता-विहित कर्म करने का ढंग है।

ज्ञान-भक्ति-कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध

समाज में समन्वय या एकता स्थापित करने का नाम ही लोक-संग्रह है। लोक-संग्रहार्थ कर्म करना धर्म का सामाजिक ध्येय है। लक्ष्य को ढूँढ़ने के पूर्व उसके महत्व को जानना आवश्यक है। महत्व को जानकर उसमें भक्ति और श्रद्धा हो तब कहीं कर्म सम्पादन किया जा सकता है। भावार्थ यह है कि जब तक किसी वस्तु का ज्ञान न होगा और ज्ञान द्वारा उसके महत्व को न समझ लेंगे तब तक हमारी रुचि उसकी ओर नहीं हो सकती अथवा हम उसके उपासक नहीं बन सकते; और इसी तरह जब तक हम उसके उपासक या भक्त नहीं बनते तब तक हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते। यह हम प्रतिदिन देखते हैं। परन्तु प्रायः हम भूल जाते हैं कि ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी भूल के कारण कोई ज्ञान-योग, कोई भक्ति-योग और कोई कर्म-योग को ही प्रधान बताते हैं। वे अपने आप

को ज्ञानकांडी, भक्तिकांडी या कर्मकांडी कहकर एक दूसरे की खिल्ली उड़ाया करते हैं जिससे निरर्थक सम्प्रदाय उठ खड़े होते हैं।

दृष्टान्त

वास्तव में बात यह है कि जब तक जिज्ञासु में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों विद्यमान नहीं रहते तब तक उसका जीवन आदर्श नहीं बन सकता। वह अधकट ही रहेगा। इन तीनों के योग की कितनी आवश्यकता है यह नीचे लिखे उदाहरण से स्पष्ट होगा। हमारे सुनने में आया कि 'अ' नाम का व्यक्ति बड़ा विद्वान्, कर्म-शील, न्याय तथा धर्म का आकर है। हमारे हृदय में उसके विषय में इससे भी अधिक जानने की उत्कट इच्छा हुई। इसलिये हम उन मनुष्यों के निकट पहुँचे जो उससे हमारी अपेक्षा अधिक परिचित हैं और उसके विषय में उनसे पूछा, उसके द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ अथवा उसके विषय में लिखे हुए ग्रन्थों का हमने अध्ययन किया और यदि वह संसार में जीवित है तो हम उससे सम्पर्क स्थापित करने के लिये उसके पास स्वयं दौड़े। इस तरह हमने 'अ' के बारे में ज्ञानोपार्जन किया। ज्यों-ज्यों हमने उसकी महत्ता का ज्ञान प्राप्त किया, त्यों-त्यों उसके प्रति हमारी श्रद्धा और विश्वास बढ़ा और क्रमशः हम उसके सच्चे भक्त होते गये। भक्त हो जाने पर क्या हमें 'अ' की वाह-वाह करने ही से सन्तोष हो जाता है? क्या हमारा काम केवल 'अ' के प्रति प्रशंसा की फुलझड़ी लगाने ही में समाप्त हो जाता है? नहीं, हम उसका अनुकरण करने के लिये उद्यत होते हैं। उसके पद-चिह्नों का आसरा लेकर अपना जीवन-मार्ग निर्धारित करते हैं। उसके किये हुए और बताये हुए मार्गों को ग्रहण कर उसकी आज्ञाओं का पालन अपनी दिनचर्या में करते हैं। गरज यह कि हम अपने जीवन को 'अ' के जीवन के समान बनाने की चेष्टा करते हैं। 'अ' हमारा आदर्श है और हम अपने आदर्श के सदृश होना चाहते हैं। 'अ' हमारे स्वामी और हम उसके अनुचर या सेवक बनते हैं। यह सादृश्य अथवा सेवकाई केवल माला फेरने से या गला फाड़ने वा जप करने से प्राप्त नहीं होती। वह प्राप्त होती है प्रतिदिन के

जीवन-कार्यों को करने के लिये आदर्श द्वारा निर्धारित पथ पर स्वयं चलने से। चरित्र नायक 'अ' के अनुयायी बनने के लिये हमें आचारवान् और कर्म-शील होना पड़ेगा। इसी सिद्धान्त को भक्त-शिरोमणि तुलसीदास जी ने अपने प्रातः-स्मरणीय ग्रन्थ रामायण में यह कह कर दर्शाया है कि जो तुम्हें जानता है वह तुम्हारे ही सदृश हो जाता है अथवा तुम्हारा भक्त और तुम एक हो जाते हो। यह भक्ति का रहस्य है और रामायण का भी यही रहस्य है। वह समाज में चरित्रशील व्यक्तियों को जन्म देने के लिये लिखी गई है न कि मुख से केवल राम-राम जपने के लिये। उसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का पाठ है। भगवद्गीता में भी, इसी कारण से, भक्तों को अत्यन्त प्रिय कहा है ('भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' अ० १२श्लो०२० ।, क्योंकि वे मुझको ही प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् भगवान-स्वरूप ही हो जाते हैं ('ते प्राप्नुवन्ति मामेव' अ० १२श्लो०४) अतः भगवद्गीता में भी ज्ञान, भक्ति और कर्म इन्हीं तीनों का पाठ है। संसार के किसी भी साहित्य में देखिये जब कभी किसी आदर्श पुरुष की गाथा लिखी जाती है तब साम्प्रदायिक विचारों से विमुक्त लेखक का ध्येय इन्हीं तीनों पर रहता है। प्रसंगवश कभी-कभी किसी विशेष अंग की प्रधानता दिखानी पड़ती है और उसे पराकाष्ठा पर पहुँचाने के निमित्त कभी अतिशयोक्ति का आसरा भी लेना पड़ता है। परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि दूसरे अङ्ग त्याज्य हैं या कि वे अल्प मूल्यवान् हैं।

एकमार्गी कहना भूल है

इन तीनों, ज्ञान, भक्ति और कर्म का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि जहाँ एक वहाँ दूसरे दो होना ही चाहिये। जो ज्ञान-मार्गी है उसे भक्ति (उपासना) मार्गी होना ही पड़ता है चाहे वह भक्ति (उपासना या श्रद्धा) भले ही निराकार की हो। जो भक्त या उपासक है उसे अपने उपास्य के अनुकरण करने की उत्कण्ठा हुए बिना नहीं रह सकती जिससे उसे कर्ममार्गी भी बनना ही पड़ता है। इसी प्रकार जो भक्तिमार्ग को ग्रहण करता है उसे अपने स्वामी के गुणों को जानने की इच्छा होती है जिससे उसे ज्ञान प्राप्त होता है और ज्यों-ज्यों वह आन्तरिक दृष्टि से उन गुणों का महत्व देखता है त्यों-त्यों वह उन्हें अपनी

जीवन-चर्य्या के कृत्यों में प्रत्यक्ष रूप से प्रगट करता है, उसे उनके अनुसार कर्म-शील होना पड़ता है। इसी तरह से जो कर्म-मार्ग को अपनाता है उसे भी भक्त और ज्ञानी होना पड़ता है। अगर कोई अपने आप को केवल एक-मार्गी कहे तो समझना चाहिये कि वह या तो अपने मार्ग का सच्चा अनुयायी नहीं है या साम्प्रदायिक जंजीरों से जकड़ा हुआ हठ-धर्मी है। अथवा यह कहा जा सकता है कि उसका ध्यान उस एक मार्ग की ओर इतनी अधिक प्रधानता लिये हुए रहता है कि दूसरे दोनों मार्ग विद्यमान रहते हुए भी इस तरह अदृश्य हो जाते हैं जैसे दिन में सूर्य-प्रकाश के समक्ष तारागण।

व्यक्तिगत और सामाजिक आदर्श

समाज को श्रेष्ठ बनाने में व्यक्तिगत श्रेष्ठता का विशेष भाग रहता है। परन्तु जीवन के जिन नियमों के आधार पर व्यक्तियों का जीवन श्रेष्ठ बन सकता है केवल ये ही नियम सामाजिक जीवन को उत्कृष्ट बनाने में समर्थ नहीं हो सकते। कारण यह है कि मनुष्य समूह में सभी मनुष्यों का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक विकास एकसा नहीं रहता। इसके अतिरिक्त सामूहिक सम्बन्ध हो जाने से प्रत्येक व्यक्ति के स्वत्व एवं कर्तव्यों का उतार-चढ़ाव होना अनिवार्य है। ज्यों-ज्यों यह सम्बन्ध फैलता है त्यों-त्यों उन स्वत्वों और कर्तव्यों में लघुता या विशालता आती जाती है। कौटुम्बिक, नागरिक, राष्ट्रीय, पर-राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध-विस्तीर्णता पर विचार कीजिये तो आपके सम्मुख भिन्न-भिन्न स्वत्व, अधिकार, कर्तव्य एवं जिम्मेदारियों की झलक आ जायगी। इसी तरह अर्थ (सम्पत्ति), धर्म आदि की भिन्नता होने के कारण भी उन स्वत्वादि में भिन्नता होना आश्चर्य का विषय नहीं हो सकता। इसलिये सामाजिक जीवन को शान्ति और सुखमय बनाने के लिये अनेकानेक नियम-उपनियमों का सङ्कलन करना नितान्त आवश्यक होता है तथा उनका सर्वोत्तम रीति से पालन करने वाला मनुष्य समाज के क्षेत्रानुसार उत्तम कुटुम्बी, उत्तम नागरिक, उत्तम राष्ट्रवादी इत्यादि कहा जाता है। परंतु जब हम सामाजिक नियम-उपनियमादि की बात करते हैं तब लोक-संग्रह की बात को नहीं भूलना

चाहिये। लोक-संग्रहार्थ जो नियमादि बनाये जावें वे ही ग्राह्य हैं और उन्हीं नियमों का पालन करने वाला लोक-संग्रहार्थी श्रेष्ठ पुरुष कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि एक पुरुष वह है जो व्यक्ति की उत्तमता की दृष्टि से आदर्श कहा जाता है और एक वह जो समाज की दृष्टि से। यदि किसी पुरुष में दोनों आदर्श विद्यमान हैं तो वह पुरुषों में उत्तम कहा जायगा।

जिस मनुष्य में उक्त दोनों प्रकार के आदर्श हों वही मन, वचन और कर्म से लोक-संग्रहार्थी कहा जा सकता है। परन्तु इतिहास के पढ़ने वालों तथा प्रचलित राज्य एवं समाज-व्यवस्थाओं की गवेषणापूर्ण आलोचना करने वालों को विदित होगा कि लोक-संग्रही मनुष्य का मिलना कितना कठिन है। सिद्धान्त के नाते मनुष्य-मनुष्य को एक ही पिता का पुत्र कह कर भले ही भाई कहे, अथवा सम्पूर्ण जगत् और उससे सम्बन्ध रखने वाले सम्पत्ति आदि व्यापारों को दुःखदायी कह कर भले ही आपस में दो का भाव मिटा एक-मय की तूती बजावे, पर जब प्रत्यक्ष कार्य-व्यवहार रूपी क्षेत्र में उतरता है तो वही मनुष्य दूसरे का गला काटने के लिये लुक-छिपकर या प्रकट-रूप से तैयार रहता है। ब्राह्मण और शूद्र, पेट्रीशियन और प्लीबियन, भूमिपति और सेवक, पूँजीपति और श्रमिक इत्यादि-इत्यादि वर्गी-करण संसार के इतिहास में लोक-विच्छेद के ही दृष्टान्त हैं।

: ४ :

पूजा और उसका महत्व

पुनः स्मरण

व्यक्तिगत सुख सामाजिक सुख का अंश है। सामाजिक अशान्ति की दशा में वैयक्तिक सुख का टिकना कठिन भी है। इसलिये समाज में सुख की स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है। समाज में शान्ति स्थापित करने के लिये केवल उन्हीं नियमों से काम नहीं चल सकता जिनसे व्यक्ति को शान्ति और सुख मिलता है। केवल ध्यान में मग्न होकर शान्ति रस का पान करने वाला व्यक्ति समाज के विशेष काम का नहीं। उसे समाजोत्थान के लिये कर्मशील होना ही चाहिये। उसके कर्म लोक-संग्रहार्थ हों। लोक-संग्रह के हित जिनके कर्म रहते हैं वे श्रेष्ठ हैं और वे ही अनुकरणीय हैं।

पूजा-भाव

जो आदर्श है वही वन्दनीय है, वही पूज्य है। श्रद्धा, प्रेम और हर्ष-युक्त अभिवादन का नाम ही पूजा है। वह हार्दिक उमङ्ग का साकार रूप है और भावोद्‌गार की प्रत्यक्ष बही हुई धार। स्वागत और आतिथ्य-सत्कार भी पूजा के रूप हैं। पूजा स्नेहयुक्त हर्ष का प्रगट बाह्य रूप है। पूजा के विरुद्ध कड़ी से कड़ी समालोचना करने वाले भी पूजा किये बिना नहीं रह सकते। वे भले ही यह समझें कि हम पूजा नहीं करते परन्तु उनके नित्य के कार्य पूजा के द्योतक हैं।

पूजा के कुछ सामान्य रूप

(क) श्याम का मामा कल श्याम के घर आने वाला है। श्याम की माँ ने श्याम के पास आया हुआ पत्र पढ़ा। उसके हृदय में भाई से कई दिनों

के पश्चात् मिलने की उत्कण्ठा हुई, हर्ष हुआ। उसके स्वागत के लिये घर को लीप-पोतकर स्वच्छ किया। ओढ़ने-बिछाने के कपड़े धोकर साफ किये। यथाशक्ति उत्तम भोजन कराने के लिये घी, दूध, शक्कर, साग आदि सामग्री एकत्र की। भाई आया। भाई ने बहिन के पद-स्पर्श किये। बहिन ने हृदय से भाई को आशीर्वाद दिया। आँखों में प्रेमाश्रु झिल-मिला उठे। उत्तम प्रकार का भोजन बनाया। बड़े प्रेम से भाई को खिलाया। भिन्न-भिन्न प्रकार से भाई का स्वागत किया; स्नेह और प्रेम की मात्रा के अनुसार अन्य प्रकार के अतिथि का सत्कार भी होता रहता है।

(ख) महात्मागांधी की आज जयन्ती है। अपने लोक-संग्रहार्थ कार्यों के कारण जन-साधारण में महात्मा गांधी के प्रति विशेष प्रेम हो गया है। जनता उस प्रेम को जुलूस निकाल कर और सभाओं में श्रद्धाञ्जलि रूप वक्तव्यों द्वारा अपना प्रेम प्रकट कर रही है। घरों में स्त्रियाँ, बाल-बच्चे, युवक-बूढ़े सभी उनकी फोटो या चित्र पर पुष्प-वर्षा कर उन्हें फूलों की माला पहिना रहे हैं। उनके प्रति जो स्नेह है उसी का यह प्रगट स्वरूप है।

(ग) राम के पिता का स्वर्गवास हो चुका है। पिता पुत्र पर और पुत्र पिता पर स्नेह करते थे। पिता का केवल एक फोटो राम के कमरे में लगा है। पिता की पूर्व बातों पर विचार कर राम के हृदय में उनके प्रति प्रेम-मय भक्ति उमड़ी। राम के नेत्र सजल हो गये। पिता पुत्र का आदर्श है। वह प्रति दिन उनकी फोटो पर पुष्प-माल चढ़ाता है।

(घ) रवि अपने पिता को देख ही नहीं पाया। उसके जन्म के पूर्व पिता का स्वर्गवास हो चुका था। फिर भी अपनी माता आदि से उनके गुणों के विषय में सुनकर वह नित्य प्रति उनके खिंचे हुए चित्र को देख आनन्दोल्लास में मग्न हो उठता है और कभी बिना चित्र को देखे ही उसके हृदय में उच्च भाव उत्पन्न हो उठते हैं। श्राद्ध के समय वह बड़ी रुचि से अपने पिता के नाम पर अर्घ्य, होमादि करके अपना प्रेम प्रकट करता है। श्रद्धा श्रद्धेय के प्रति प्रेम और विश्वास का भाव है जो श्राद्ध-क्रिया द्वारा प्रकट किया जाता है। जापानियों के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में पितृपूजन का विशेष स्थान

है। वहाँ का शासन ही 'पूजन-विधान' (मत्सुरी गोतो) के नाम से प्रसिद्ध रहा है।

वास्तविक देव

जीवित तथा मृत पुरुष या विदुषियों के स्मृति-चिन्हों को देख हमारे मन में उनके किए हुए कृत्यों का दृश्य उठ खड़ा होता है और हृदय में उनके लिये स्थान बन जाता है। संसार में जिन्होंने हमारे शरीर के समान जन्म लिया और अन्त में चल बसे उनकी गणना ऐतिहासिक पुरुषों में होती है। यह तो हुई स्थूल-शरीर धारियों की बात। अब यदि सूक्ष्म शरीर-धारियों पर विचार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि स्थूल-शरीर-धारी स्थूल इंद्रियों द्वारा सूक्ष्म-शरीर-धारियों को देखने, सुनने की सामर्थ्य नहीं रखते। इसलिये उनकी दृष्टि में सूक्ष्म-संसार ही नहीं है। जो उनसे सूक्ष्म-संसार के अदृश्य सूक्ष्म शरीर-धारियों की चर्चा कर उठता है उनसे वे बुरी तरह से बिगड़ उठते हैं और उसे गप्प-गोष्ठी करने वाला कहने लगते हैं। यह ठीक उसी प्रकार की मूर्खता है जिस प्रकार कि एक इतिहासज्ञ एक गणितज्ञ की अथवा अन्य किसी शास्त्र-वेत्ता की बात को गप्प समझे। समय पाकर स्वकीयज्ञान अथवा दूसरों के ज्ञान के आधार पर आज की गप्प कल सत्य दिखाई देती है। वर्तमान महायुद्ध ने यह सिद्ध कर दिया कि जिन बातों का वर्णन रामायण में किया गया है वे सत्य हैं। जो मायावी लड़ाई कही जाकर असत्य मानी जाती थी वही आज प्रत्यक्ष दिख रही है। अध्यात्मज्ञानियों की ज्ञान-दृष्टि के सम्मुख इस प्रकार के भौतिक प्रमाणों अथवा भौतिक सिद्धियों को जान लेने की बात तो बहुत ही निम्न श्रेणी की है। भौतिक ज्ञान तथा सूक्ष्म यंत्रों द्वारा जो-जो सफलता दिखाई देती है वह अध्यात्म बल की सफलता के सामने बिलकुल तुच्छ है। अध्यात्म-बल प्राप्त करने वालों को जो सिद्धियां आदि प्राप्त होती हैं वे इन भौतिक ज्ञानियों की सिद्धियों से कई गुणी उच्च कोटि की होती हैं।

यथार्थ में अध्यात्म-ज्ञानी सिद्धियों की उलझन से निकलकर और भी अधिक

ऊँचा पहुँच जाता है। गरज यह है कि स्वाध्याय-विहीन, अनुभव-शून्य, अज्ञानी पुरुष को क्या हक है कि वह व्यर्थ ही उन विषयों में अपनी नाक ठूँसे जिसके बारे में उसने कभी मनन ही नहीं किया। यदि अपनी विक्षिप्त बुद्धि को भी वह कभी-कभी मनन करने में लगावे तो भी उसे अध्यात्म ज्ञान का अथवा उस ज्ञान-बल का थोड़ा बहुत अन्दाज लग जावेगा। आँख ही लीजिये, जब उसकी ज्योति तेज होती है तो उसके द्वारा बारीक से बारीक चीजें देखी जा सकती हैं। अत्यंत बारीक या सूक्ष्म वस्तुओं को देखने की जब उसकी सामर्थ्य नहीं रहती तब उसे सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता लेनी पड़ती है। इसी यंत्र के द्वारा हवा, पानी तथा रक्त आदि में रहने वाले असंख्य कीटाणु हम देख सकते हैं। इन यंत्रों की ताकत बढ़ाई जाने पर मनुष्य-देह एवं वृक्षादि के अन्दर चलने वाली लहरें देखी, सुनी और गिनी जा सकती हैं जिनके कारण हर्ष विषादादि क्रियाओं (emotions) का पता लग जाता है। परंतु ये सब साधन भौतिक ज्ञान-प्राप्ति के लिये होते हैं। मानसिक क्रियाओं की पहिचान के लिये उनकी जो कुछ पहुँच हुई है वह नहीं के बराबर है अध्यात्म क्षेत्र को तो वे छू भी नहीं सकते। इन्हीं बातों पर विचार करने से सूक्ष्माति-सूक्ष्म तन्मात्राओं के जगत् का कुछ आभास हो सकता है।

इस दृष्टि से सूक्ष्माति-सूक्ष्म शरीरधारी देवी देवताओं का अस्तित्व मानना असम्भव नहीं कहा जा सकता।

देव : स्मार्त्त-चिह्न

मान लिया जाय, कि उनका अस्तित्व नहीं है तो भी यह तर्क उठता है कि क्या यह सम्भव नहीं, कि अमुक देव किसी पूर्व काल में हम-तुम ऐसा संसार में जीवित रहा हो और अब केवल उसका स्मृति-चिह्न रह गया हो? यह तो मानना पड़ेगा कि संसार अनादि है और अनादि काल से क्या क्या होता आया है, किसने कब जन्म लिया और कौन कब मरा इत्यादि ऐसी कई बातें हैं, जिन्हें जानने के लिये हमारे साधन अत्यन्त परिमित—नहीं के बराबर ही हैं। हमारी सीमित जानकारी के अनुसार जिन्हें हम आज ऐति-

हासिक घटनायें या ऐतिहासिक पुरुष कहते हैं उनका भी हमें अधूरा ज्ञान है। एक दो हजार वर्षों पहिले की बातें भी हमें पूरी तरह नहीं मालूम। समय-समय पर संसार में भूडोल, आँधी, जल-प्रवाह, महायुद्ध इत्यादि अनेक प्रकार की भयंकर प्रलयकारी घटनायें हुआ करती हैं जिनके कारण पूर्वकालिक संस्कृतियों का लोप हो जाया करता है, तब किसी व्यक्ति-विशेष को भूल जाना कोई आश्चर्य नहीं। इन सब कारणों से क्या यह सम्भव नहीं, कि हम एवं हमारे पूर्वज प्राचीनतम महात्माओं की यथार्थ-स्थिति को भूल गये हों और उन्हें केवल काल्पनिक समझने लग गये हों ? इसके अतिरिक्त दशा, देश और काल के अनुसार स्मृति चिह्न भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं और कालान्तर से तथा कलाकार के कला-कौशल के अनुसार मूल-स्मृति-चिह्नों में परिवर्तन हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। साहित्य के इतिहास से ज्ञात होता है कि न केवल भाषा में परिवर्तन हो जाता है वरन् लेखकों और कवियों की रचनाओं तक में क्षेपक आदि मिल जाने से भिन्नता आ जाती है। इस तरह न केवल स्मृति-चिह्नों बल्कि तत्सम्बन्धी गाथाओं में भी भिन्नता आ जाती है। स्मृति कायम रखने के लिये आजकल हम बहुधा फोटो या मुद्रित चित्र को सुरक्षित रखते हैं। कुछ दिन पूर्व ये कलायें नहीं थीं। तब कलाकार पत्थरों द्वारा अपनी कला की अभिव्यक्ति किया करते थे। अजंता इत्यादि का प्रत्यक्ष प्रमाण अभी मौजूद है। देव और देवियों की मूर्तियाँ उसी प्राचीन कला की प्रदर्शक हैं। राम, कृष्ण, हनुमान इत्यादि की ऐतिहासिकता पर शंका करना अवांछनीय है। उनकी मूर्ति-स्थापना का वही महत्व है जो आज आप अपने पूर्वजों की फोटो या चित्र को देते हैं।

काल्पनिक देव

अब थोड़ी देर के लिए यह भी मान लीजिये, कि कोई भी देवी-देवता कभी ऐतिहासिक प्राणी नहीं रहा। वे सब अथवा उनमें से अधिकांश काल्पनिक ही हैं। यदि वे काल्पनिक हैं तो वे भावात्मक भी तो हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। सारे धर्म-शास्त्रों का सार है मनुष्यों का उत्थान। मनुष्य में स्वभावतः

प्रवृत्ति और निवृत्ति-सूचक अनुसन्धान चला करते हैं। सत, रज और तम इन तीनों गुणों का उसमें निवास है। विषयात्मक और वैराग्यसूचक दोनों प्रकार की क्रियायें उसमें विद्यमान रहती हैं। भले और बुरे दोनों भाव उसमें अपना-अपना काम करते रहते हैं। जब हम किसी को अच्छा या खराब, भला या बुरा, ऊँच या नीच कहते हैं तब उसका अर्थ केवल यह होता है कि उसमें एक विशेष प्रकार की शक्ति का बाहुल्य है। जो सतोगुणी होता है वह तम और रज गुणों को दबा कर रखता है। यथार्थ में मनुष्य इन तीनों गुणों का समाहार है। जहाँ तम है वहाँ अंधकार है, जहाँ रज है वहाँ प्रकाशाभास होता है परंतु वह केवल मृगजल के समान धोखा देने वाला है और जहाँ सत है वहीं प्रकाश है जिसकी ज्योति में हम अपने स्वरूप को पहचानने लगते और यह जानने लगते हैं कि इस स्वरूप और ईश्वर के विराट् स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है—हम दो नहीं हैं, एक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि जिन विचारों और क्रियाओं से हमारा अज्ञानान्धकार अर्थात् तम मिटे वे ही श्रेयस्कर हैं और उनमें अधिक श्रेष्ठ वे विचार और कार्य हैं जो हमें राजसी ठाट-बाट अर्थात् सांसारिक ऐश्वर्य की चमकती हुई झिलमिलाहट से भी, जो अनित्य और असत्य है, बचाकर सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म-ज्ञान की ओर ले जावें। उच्च कार्य तभी हो सकते हैं जब उच्च भाव जागृत हों। इन्हीं भावों का जागरण तथा उनकी वृद्धि करने के लिये देव-पूजा को धर्म-शास्त्रों में उच्च स्थान दिया गया है। देव वह है, जिसमें दिव्य शक्ति हो। दिव्य का अर्थ है, ईश्वर सम्बन्धी, स्वर्गीय अर्थात् उच्च व श्रेष्ठ। जिसमें श्रेष्ठ गुण विद्यमान हों, वही देव है। सर्वोच्च भाव का जागरण करने के लिये जब कोई आदर्श ऐतिहासिक पुरुष नहीं मिलता तब गाथाओं द्वारा कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। ये कल्पनायें निरी हवाई-महल या बालू की भीत नहीं होतीं। इनका आधार है मनुष्यों का गुण और स्वभाव और इस आधार पर ही उच्चतम गुण किसी काल्पनिक व्यक्ति में आरोपित किये जाते हैं। इस काल्पनिक व्यक्ति का नाम भी वही गुण-सूचक रहता है जो उसमें आरोपित किया जाता है। साङ्गोपाङ्ग विद्या की चरम सीमा पर पहुँची हुई काल्पनिक देवी का नाम 'सरस्वती' है। सरस्वती नाम विद्या

का ही है। इसके द्वारा विद्या-सम्बन्धी सम्पूर्णता-प्राप्त देवी का आदर्श हमारे सम्मुख रखा गया है जिससे उसका अनुकरण कर हम उत्तम से उत्तम और ऊँची से ऊँची विद्या को प्राप्त करने के लिये तत्पर हों। इसी अभिप्राय से चित्रकार एवं मूर्तिकार उक्त देवी का चित्रण करते हैं ताकि जन साधारण उसे न केवल देखें वरन् उसके गुणों का मनन भी करें। जहाँ सोये हुए भाव जगे कि विकास का ताँता लगा और आदर्श के सादृश्य को (उसी के समान होने का नाम सादृश्य है) प्राप्त करने के लिये कदम बढ़े। जिस प्रकार विद्योपासना के लिये सरस्वती देवी की प्रतिष्ठा की गई है उसी प्रकार शक्ति-वृद्धि के लिये दुर्गा व काली की कल्पना की गई है।

देव-पूजा की महत्ता

इसी प्रकार पार्वती, महादेव, गणपति, ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि देव संज्ञाओं के मूलार्थ पर विचार कीजिये। उनका चित्रित स्वांग (भेष), उनके अंग-प्रत्यङ्गों का बाहुल्य—यथा चार हाथ चार मुँह इत्यादि, उनके समीप रखी हुई सामग्रियां, उनके बाहनादि—जैसे मूषक, नन्दी, गरुड़ इत्यादि, तथा उनके निशानादि—जैसे त्रिशूल, तलवार, वीणा, शंख इत्यादि—ये सब भाव-सूचक रहते हैं। उन पर मनन करने से कलाकार का कला-कौशल प्रकट होने के साथ-साथ हममें उत्साह बढ़ता है। हां, यदि हमने केवल अपनी आँख से उन्हें देखकर मन और बुद्धि को बिना जगाये हुए सन्तोष कर लिया तो फिर वह निरा कागज पर छपा हुआ चित्र या पत्थर पर बनी हुई मूर्ति रह जाती है। फिर भी यह बात माननी पड़ेगी कि जब तुम किसी वस्तु विशेष या उसके स्मृतिचिह्न को अपनी इच्छा से नमन करते हैं तो उसके प्रति हमारे भाव अवश्य जागरित होते हैं चाहे वे निमेष-जीवि ही क्यों न हों। इसलिये देव-सूचक मूर्तियों की पूजा करना विशेष महत्व की बात है। वह धर्म का मुख्य अंग है। उसको खण्डन करने वाले मानो पूजा-भाव का ही खण्डन करते हैं। हमारी समझ में पूजा करना धर्म का हो अङ्ग नहीं है बल्कि वह तो मनुष्य मात्र का स्वभाव है। प्रत्येक धर्माव-लम्बी कोई न कोई त्योहार मानता है और प्रायः प्रत्येक त्योहार किसी न किसी

महान् आत्मा की यादगार में मनाया जाता है अर्थात् उस दिन किसी न किसी रूप में उसकी पूजा की जाती है। जब कि पूजा भाव-प्रदर्शक है और मनुष्य को उच्च कोटि तक ले जाने का साधन है तब फिर पूज्य का उच्च से उच्च आदर्श पूजक के सामने क्यों न रखा जाय? क्या हानि है यदि वह आदर्श अनुभवी पुरुषों की आन्तरिक दृष्टि से देखा हुआ कल्पना द्वारा ही निर्माण किया गया हो? यदि यह कहा जाय कि कल्पना द्वारा निर्मित होने के कारण उसका महत्व जिज्ञासुओं तथा अन्य दर्शकों की दृष्टि में घट जाता है अथवा उसका उनके प्रत्यक्ष जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता सो ठीक नहीं। एक तो कल्पना यदि है तो केवल व्यक्ति की न कि उन गुणों की जो उसमें आरोपित हैं, क्योंकि गुण सब मनुष्य मात्र में विद्यमान हैं और जागृत किये जा सकते हैं। वे असम्भव केवल उन्हीं को प्रतीत होते हैं जिन्हें मनन और स्वाध्याय करने की शक्ति नहीं और जो सच्चे जिज्ञासु नहीं हैं। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है, कि धर्मप्रचारकों का दृष्टिकोण जन साधारण की ओर विशेष प्रकार से रहता है। गिरे हुओं को उठाना उनका ध्येय है। यों तो पूजा स्वाभाविक गुण है, जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, तो भी निराकार संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह उसी प्रकार की प्राथमिक विद्या है जैसे साहित्य-ज्ञान की इच्छा रखने वाले के लिये वर्णमाला। प्रचलित शिक्षा-पद्धति के अनुसार "घ" वर्ण की शिक्षा देने के लिये बच्चे के सामने घर का चित्र रखा जाता है और उससे कहलवाया जाता है "घर का घ"। अभ्यास करते-करते-उसके मन में "घर" और "घ" का इतना घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध हो जाता है कि 'घर' कहते ही उसके सन्मुख 'घ' की आकृति झलक उठती है और 'घ' कहते ही 'घर' की। अंत में ज्यों-ज्यों अभ्यास चरम-सीमा की ओर पहुँचता जाता है त्यों-त्यों घर का दृश्य धीरे-धीरे लोप होता जाता है और केवल 'घ' का रहता जाता है। 'घ' पर पहुँचा देने वाला कृत्रिम 'घर' का साधन 'घ' पर पहुँचते ही निरुपयोगी प्रतीत होने लगता है। यथार्थ में वह न तो निरुपयोगी है और न वह भुलाया जा सकता है। उच्च शिखर पर बैठे हुए पुरुष को वहाँ तक पहुँचने के लिये प्रत्येक सीढ़ी की आवश्यकता और उपयोगिता है। साकार साधनों के बिना,

जैसा कि हम आगे देखेंगे निराकार तक पहुँचना कठिन है। शिव की मूर्ति सम्मुख देखते ही वैराग्य का भाव उत्पन्न हो उठता है और वैराग्य का भाव आते ही वैराग्य-भूषण शिव का ध्यान आ जाता है। जिस प्रकार भाषा-विज्ञ अंत में घर, गाय, कलस इत्यादि के चित्र जिनके सहारे उसने प्रवेशिका प्रारम्भ की थी, भूल जाता है उसी प्रकार निराकार में लीन होने वाला उस निराकार के भिन्न-भिन्न गुणसूचक देव, देवियों तथा उनकी कल्पित मूर्तियों को भूल जाता है।❀

हमने ऊपर यह बताने का प्रयत्न किया है कि देवताओं का अस्तित्व मानना असम्भव नहीं है, अर्थात् देव-योनि, जिसकी चर्चा धर्म-ग्रंथों में पाई जाती है, इनकी निरी-मन-गढ़न्त गप्प नहीं। अन्यान्य योनियों के जीवधारियों से परिचित हमारी स्थूलेन्द्रियाँ देव योनि के जीवधारियों की सूक्ष्मता, विशेषता एवं भिन्नता से अनभिज्ञ रहती हैं। इसलिये हम उसे निर्मूल समझते हैं। हमने यह भी बताया है कि यदि देव-संज्ञा केवल कल्पना-सूचक है तो भी वह मान्य है। हमारी समझ में देव-संज्ञा त्रिभावात्मक है—एक वे दिव्य आत्मायें जो सूक्ष्म शरीर धारण किये विद्यमान हैं, दूसरे वे मूर्तियाँ या चिह्न जो प्राचीनतम महान आत्माओं की यादगार में चले आते हैं और तीसरी दिव्य शक्तियों की आदर्श काल्पनिक मूर्तियाँ। इन्हीं तीनों का सम्मिश्रण देव-वर्ग है।

❀हम पहिले अध्याय ही में कह चुके हैं कि लेखक का साधन भाषा है, जो भाव-प्रदर्शन के करने में बहुधा अपूर्ण और शिथिल रहती है। पाठक कृपया इस उक्त बात पर अवश्य ध्यान बनाये रखें। यहां निराकार में लीन हो जाना कहा गया है और भूल जाना भी। ये दोनों बातें असङ्गत हैं। जो निराकार में लीन है उससे भला भूल क्यों कर हो सकती है—वह तो सर्व-विज्ञ हो जाता है। 'लीन' के स्थान में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग ठीक होता। परन्तु लोग 'ज्ञान' का अर्थ केवल 'जानना' लगा लेते हैं। ऐसा अर्थ लगाना गलत है। इससे 'लीन' शब्द ही लिखा है।

धर्म ग्रंथों में देव-संज्ञा का स्थित रहना इसलिये भी आवश्यक है कि असीम और अथाह निराकार का स्वरूप-दर्शन एकबारगी होना असम्भव है। ब्रह्म का स्वरूप अगम एवं अकथ है। ईश्वर भी जिसमें ब्रह्म की स्थिति ठोस होती है, अनन्त है। फिर भी मनुष्य उसी को आदर्श मान कर बढ़ना चाहता है। इस अगम्य आदर्श के किसी एक छोर को वह देखता है और उसी की महत्ता पर मुग्ध हो उसी के सदृश होने की चेष्टायें करता है। उसी विशाल स्वरूप भगवान् के अङ्ग-उपाङ्ग देव हैं। उस पूर्णता के वे विभाग-उपविभाग हैं। उस प्रचण्ड कान्ति के वे किरण-उपकिरण हैं। गुण-उदधि परमात्मा का एक कण भी प्राप्त करने के लिये मनुष्य को वर्षों की आवश्यकता होती है। इन्हीं गुणों को क्रमशः प्राप्त करने के लिये समान वर्गीय गुण-विभाग की ज़रूरत पड़ती है। समान वर्गीय गुणों का आरोपण देव-विशेष में इसीलिये किया जाता है कि जिससे उस देव विशेष का भक्त उन समस्त गुणों को या उनमें से किसी एक दो को ही प्राप्त कर सके। सफलता-प्राप्ति का साधन विभाग-रहस्य है और यही विभाग-रहस्य है जिसके कारण देव-स्थिति का महत्व है।

प्राकृतिक आभास भी देव

उपर्युक्त त्रिभावात्मक देव-संज्ञा के अतिरिक्त हमारे धर्म शास्त्रोंमें ऐसे देवों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें हम स्थूल ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जान सकते हैं। विशेष बुद्धि-विकास न होने के कारण जन साधारण ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त ज्ञान को पर्याप्त समझते हैं। ऐसे लोगों के लिये ईश्वर की महत्ता-दर्शन के अभिप्राय से उनके सम्मुख ऐसे प्राकृतिक दृश्य रक्खे जाते हैं जिनमें दिव्यता और नित्यता का आभास होता है जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु, जल (वरुण) इत्यादि। इन प्राकृतिक पदार्थों की दैवी-शक्ति के कारण इन्हें भी देव मान कर इनकी पूजा करने के लिये धर्म-विज्ञों ने आदेश दिया है। भगवान के महत्तम तेज और प्रकाश का दिग्दर्शन कराने के लिये तेजोमय एवं प्रकाश-युक्त सूर्य देव की आराधना हमें बचपन से ही सिखाई जाती है। इसी तेजोमय सूर्य का अल्प स्वरूप अग्नि है जो हमें हरदम प्राप्य है। इसीसे उसकी भी पूजा

करना कहा गया है। पारसी लोग अग्नि के प्रमुख पूजक हैं। इस पूजा का मूल भाव है महान तेज और पूर्ण प्रकाश की ओर अपनी शक्ति को बढ़ाना। परन्तु मनुष्य अपने स्वभावानुसार मूल भाव को भुलाकर बाह्य स्वरूप को ही पकड़कर बैठ जाता है।

तीर्थयात्रा

सूर्यादि नक्षत्र एवं जल वायु आदि महाभूतों के अतिरिक्त बड़े-बड़े पर्वतों तथा नदियों में भी देव-प्रतिष्ठा की गई है। एक ओर कैलाश और गोवर्धन आदि पर्वत हैं और दूसरी ओर गङ्गा, यमुना, सरयू आदि सरितायें हैं, जहाँ हजारों मनुष्य एकत्र होकर उनकी पूजा करते हैं। पृथ्वी पर स्थित इस प्रकार के देव-सूचक पवित्र स्थानों पर जाना ही तीर्थ यात्रा है। पूर्व-काल में जब कि रेल आदि नहीं चलती थी, तब यात्री पैदल यात्रा किया करता था और अभी भी कई पैदल ही जाते हैं। तीर्थ-यात्रा के महत्व का वर्णन करना यद्यपि हमारा विषय नहीं है तो भी यह कहना आवश्यक है कि उचित प्रकार से तीर्थयात्रा करने से पूजा के महत्व की पूर्ति होती है। पैदल चलने से जितना समय घर के बाहर व्यतीत होता है उतने काल तक कम से कम सांसारिक मोह लोभादि से अलिप्त रहने का अवकाश मिलता है तथा विज्ञ और साधुजनों की सत्संगति से बुद्धि निर्मलता को प्राप्त होती है और ज्ञान बढ़ता है।

यज्ञ, मंत्र एवं शरीर में देवाधिष्ठान

इन प्राकृतिक देव-देवियों के सिवाय और भी ऐसे देव-देवियाँ हैं जिनका अधिष्ठान यज्ञों, मंत्रों एवं शरीराङ्गों में किया गया है। जिस प्रकार अमुक यज्ञ का अमुक देव रहता है उसी प्रकार अमुक ऋषि-द्वारा प्रणीत मंत्र का भी कोई न कोई देव रहता है। इसी तरह हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न देव-देवियों का निवास बताया है जैसे मुख में अग्नि, हाथ में इन्द्र, पांव में उपेन्द्र, पायु (गुदा) में यमराज, तथा उपस्थ (लिङ्ग) में प्रजापति का।

इसी तरह आँख, कानादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों में, क्रमशः सूर्य, दिक् आदि का एवं मन बुद्धि आदि में चन्द्र, ब्रह्म आदि का। देवों का इस तरह अधिष्ठान करने का अभिप्राय यह है कि हमारी जीवन-चर्या धर्म-प्रधान हो और हमारे कार्य सकुशलपूर्ण हों जिससे हम यथार्थ सुख प्राप्त कर सकें। मनन और अभ्यास की आदत जिन्होंने नहीं डाली उन्हें पूर्वोक्त कथन झूठा प्रतीत होगा क्योंकि जो उनकी समझ में न आया अथवा जिसे उन्होंने अपनी आँखों से न देखा वही सब उनके लिये गप्प है।

देव-पूजा की विधि

जिन भावात्मक, प्राकृतिक एवं अधिष्ठित देव-देवियों के विषय में ऊपर कहा गया है उन सब की गणना जन-साधारण की दृष्टि से दो विभागों में की जा सकती है यथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। इनकी संख्या कितनी है, वे गण्य हैं या अगण्य, इस विषय पर अभी कुछ न कहकर हम केवल यह बताना आवश्यक समझते हैं कि जब तक उनकी आराधना तथा पूजा विधि-पूर्वक न की जावेगी तब तक न हमें सांसारिक ऐश्वर्य ही प्राप्त हो सकता है और न पारलौकिक सुख। विधि-पूर्वक कहने से हमारा अभिप्राय वही है जो हम पहिले कह आये हैं, अर्थात् सच्ची लगन से जानना, जानकर उसके उपासक या भक्त होना और उस ज्ञान को कार्य रूप में व्यक्त करना। यद्यपि ऋषि-मुनियों ने पूजा या आराधना की विधियाँ लिख दी हैं और अपनी अपनी भाषा में प्रार्थनाओं के रूप में भी उन्हें प्रकट किया है तो भी यह आवश्यक नहीं है कि हम भी लकीर के फकीर बनकर तोता सरीखे उन्हीं को दुहराया करें।

राजभोगार्थ आराधना और पूजा

इन्द्रिय-मन-बुद्धि के विकसित होने से तथा पञ्च महाभूतादि की शक्तियों को सिद्ध करने से राजसी गुण की प्रधानता होती है। संसार की पदार्थ-वादिनी जातियों में इसी गुण की प्रधानता रहती है। रावण भी इसका भोगी था। देवताओं के राजा इन्द्र की कल्पना भी इसी सुखोपभोग

के भाव को दर्शाने के लिये की गई है। वर्तमान काल में जिन्होंने सूर्य-देव तथा उसके स्वरूप विद्युत एवं अग्नि देव तथा वायु एवं जल (वरुण) देव आदि को जितना अधिक अपनाया है उतना ही अधिक वे कला-कौशल में निपुण हुए हैं। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान तथा साइंस की भाषा में इसका अर्थ केवल यह है कि जिसने जितनी अधिक उपर्युक्त शक्तियों की साधना की है उतनी अधिक उन्हें उसमें सफलता मिली है, और जितना अधिक परिश्रम कर वे उन्हें अपनावेंगे उतने ही अधिक नये नये आविष्कार कर सफलता प्राप्त करते जायेंगे क्योंकि परमात्मा के शक्ति-रूप प्रत्येक अङ्ग में असीम शक्तियाँ हैं। यही उनकी सच्ची लगन-लगी पूजा है और कठिन परिश्रम ही उनका त्याग है। जो जितना त्याग करेगा उतना ही सफल होगा। विचारपूर्वक देखा जाय तो यही त्याग शब्द यज्ञ, हवन, होम शब्दों का भी पर्यायवाची है। त्याग की पराकाष्टा का उदाहरण एक ओर तो रावण, मेघनादादि राक्षसों का है और दूसरी ओर राजा शिवि का। रावणादि अपने राजसी ऐश्वर्य के लिये अपने सिर और भुजायें भी काट काट कर चढ़ाने में नहीं हिचकते थे तब कहीं उन्हें ब्रह्मास्त्र एवं अन्य अद्भुत अस्त्र-शस्त्र प्राप्त हुए थे। आज के संसार में लड़ने वाली जातियों के जल-थल और आकाश में उपयोग में आने वाले यंत्र तथा शस्त्रास्त्रादि प्राकृतिक महाभूतादि रूप देवों की पूजा के फल हैं। किसी नवीन आविष्कार को सर्वोपयोगी बनाने के लिये उसकी परीक्षा करनी पड़ती है। इन परीक्षणों में कितनों के हाथ पैर कट जाते हैं और कितने मर जाते हैं। यह त्याग नहीं तो क्या है? मोटरों, वायुयानों के प्रारम्भिक काल में कितनों की जानें गई होंगी इसका अनुमान कीजिये। जिस व्यक्ति में त्याग है वही श्रेष्ठ हो सकता है। जिस समाज या देश में त्यागी पुरुष नहीं, परिश्रमी नहीं, उसके रसातल जाने में कोई सन्देह नहीं। परन्तु इस प्रकार का त्यागमय परिश्रम यद्यपि आवश्यक है तथापि वह उच्चकोटि का नहीं है। यह व्यक्ति या समाज-विशेष की सांसारिक दृष्टि से भले ही मान्य हो पर आदर्श नहीं है। एकदेशीय होने के कारण वह विग्रहकारी होता है। स्वार्थमय होने के कारण उसमें परमार्थ नहीं रहता और इसलिये लोक-संग्रह के सिद्धान्त के विपरीत है। कठिन तपस्या द्वारा प्राप्त अपनी

शक्तियों और सिद्धियों का दुरुपयोग कर इस प्रकार का व्यक्ति लोक-विच्छेदक बन अशान्ति और दुख का कारण होता है।

त्याग

इस प्रकार के त्याग की अपेक्षा वह त्याग अच्छा होता है जो दूसरों के हित-चिन्तन के लिये किया जाय। राजा शिवि की कथा इसी त्याग के भाव को दर्शाने के लिये कही जाती है। परन्तु हमारे त्याग का आदर्श है इससे भी ऊँचा। व्यक्ति-विशेष या जीव-विशेष के लिये त्याग करना आदरणीय तो है ही परन्तु पूर्ण आदर्श त्याग वही है जो लोक-संग्रहार्थ हो।

तात्पर्य

तात्पर्य यह निकला कि भिन्न भिन्न शक्तिरूप देव-देवियों की जो जितने त्याग से पूजा करेगा उसको उतना ही उत्कृष्ट फल मिलेगा। परंतु रजोगुण-प्रधान फलों को पाकर ही संतोष नहीं कर लेना चाहिये। रजोगुण-प्रधान कार्यों पर सतोगुण रूपी लगाम सदा चढ़ी रहे अन्यथा वे गड्ढे में डाले बिना नहीं रहते।

: ५ :

उलझन और तात्विक देह-विभाग

पुनः स्मरण

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि पूजा करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है जो पूज्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम के कारण उत्पन्न होता है। आदर्श की ओर बढ़ने के लिए पूजा एक साधन है। देव-पूजा का निर्माण इसी सिद्धान्त के आधार पर है। वह निराकार ज्ञान का साकार साधन है। देव-पूजा से जिन शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उनका बहुधा दुरुपयोग किया जाने लगता है, जिससे लोक-विग्रह बढ़ता और अशान्तिमय दुख फैलता है।

ऐक्य स्थापन के हेतु सर्वव्यापी एक सत्ता का निरूपण

ऐक्य का अभाव ही सारे झगड़े की जड़ है। वही लोक-विच्छेदक हो अशान्ति और दुख का कारण होता है। अतः इसी एकता की स्थापना के हेतु कर्म का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें एक सर्वव्यापी सत्ता का निरूपण किया जाने लगा और सर्वजन समुदाय—नहीं सर्व जगत् ही—उसी एक सत्ता का रूप कहा जाने लगा। यह वही सत्ता है जिसे कोई ब्रह्म कहता है, कोई ईश्वर, कोई 'गॉड', कोई अल्लाह और कोई सर्वशक्तिमान् पिता ही कह कर पुकारता है। उसके एक नहीं, अनेक नाम हैं।

सत्ता-सम्बन्धी पाँच प्रश्न

यह सत्ता क्या है, कहाँ है, कबसे है, क्यों है और कब तक रहेगी, इन पाँच बातों के ज्ञान की अपेक्षा प्रायः प्रत्येक मनुष्य को रहती है परन्तु अन्त तक वह अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पाता। वस्तुतः सारे संसार की फिलासफियाँ यहाँ घुटने टेक कर रह जाती हैं और समस्त दार्शनिक दाँत तले अंगुली दबा

कर रह जाते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को दावे के साथ सिद्ध करना असम्भव है और इसीलिए वह अज्ञेय कहा जाता है अर्थात् जो ज्ञान से परे हो। इसी कारण उसे अगम्य, अथाह आदि उपाधियां भी दी जाती हैं अर्थात् जो हमारी पहुँच के बाहर है। जब मनुष्य उसे ढूंढते-ढूंढते थक जाता है और नहीं पाता तब उसकी सामान्य बुद्धि कहती है कि ईश्वर है ही नहीं। जब उसके मन में इस भाव का बार-बार दौरा होता है तब वह नास्तिक बन जाता है। नास्तिक का सामान्य अभिप्राय वेद में विश्वास न रखने वाले से है पर व्यापक एवं जनप्रिय रूप में उस व्यक्ति से है जो ईश्वर की नास्ति (न+अस्ति)* में विश्वास करे। इसके विपरीत ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाला आस्तिक कहा जाता है। चार्वाक ऐसे बड़े-बड़े तर्क-शास्त्री विद्वान समय-समय पर नास्तिकता के पक्ष को पूर्ण बलवान बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं और सम्भवतः भविष्य में भी कोई न कोई करता रहेगा। परन्तु आस्तिकता में विश्वास करने वाले अनेक हैं और नास्तिकता में कहीं दो चार। क्या कारण है कि आस्तिक पक्ष सदा बहुसंख्यक और बलवान रहता है? क्या कारण है कि मूर्ख से मूर्ख तक ईश्वर को मानता है? क्या सभी ईश्वरास्तित्व सिद्ध कर सकते हैं या कि उन्होंने ईश्वर-दर्शन प्राप्त कर लिया है? नहीं, सिद्ध भले ही न हो, दर्शन भले ही न हों, पर उन्हें उसके अस्तित्व में विश्वास है। क्यों? एक तो इसलिये कि यद्यपि वह बुद्धि और ज्ञान के परे है तो भी वह अनुभवगम्य है। दूसरे इसलिये कि संसारी जीव होने के कारण हमारे सम्मुख आप बीती और पर बीती इतनी अनेक आश्चर्यजनक एवं दुःख-सुखमय घटनाएँ या परिस्थितियाँ आती हैं कि हमें किसी अदृश्य अद्वितीय सत्ता के अस्तित्व में विश्वास किये बिना न शान्ति मिलती है, न सन्तोष। तीसरे वह परंपरागत है। प्राचीनकाल से उसके अस्तित्व का विश्वास चला आ रहा है। विरोधात्मक खण्डनकारी तर्कों का

---

*अस्ति शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ है "है"। जो "नहीं है" वही नास्ति हुआ। इसी 'अस्ति' से 'अस्तित्व' शब्द बना है और इसी से 'आस्तिक' और 'नास्तिक' बने हैं।

प्रबलतापूर्वक सामना करते हुए आस्तिक धर्म की प्रधानता रहना ही उसकी सत्यता का चिन्ह है। कट्टर से कट्टर नास्तिक को भी अपने दुःख के समय इस अपूर्व सत्ता की याद आ ही जाती है चाहे वह अभिमान वश दूसरों को उसे प्रकट न करे। इतिहास से मालूम होगा कि पदार्थ-विज्ञान-प्रसार के काल में अनीश्वरता की प्रधानता दिखाई देने लगती है परन्तु अन्त में ईश्वर-वाद की विजय रहती है। विज्ञानी रावण, मेघनाद आदि का काल उसी प्रकार विज्ञान-काल था जैसा कि इस समय है। उनके वैज्ञानिक मोह को अन्त में राम से पराजित होना पड़ा। अनीश्वरवादी होते हुए भी रावण को युद्धारम्भ के पूर्व तथा युद्ध-काल में संकट में ईश्वर की याद आये बिना नहीं रही। परन्तु ईश्वरानुगामियों की संख्या बहुत अधिक होने पर भी उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने ईश्वर को पहिचान लिया हो। विरले दो चार ही स्वानुभवी होकर उसको जान पाते हैं, बाकी प्रायः सभी अन्धविश्वासी होते हैं। जिन्होंने जाना है वे भी नेति नेति (न+इति) कहकर चुप हो जाते हैं, और केवल यही कह कर सन्तोष पाते हैं कि वह वर्णनातीत है। शक्कर मीठी है कहने से सुनने वाले को शक्कर का मजा नहीं आ सकता। जब तक वह खुद न चखेगा तब तक उसे शक्कर की मिठास का ज्ञान नहीं हो सकता।

उक्त पाँच प्रश्नों के उत्तर की खोज

तब फिर स्वाभाविकतः यह प्रश्न होता है कि क्या कारण है जिससे हम उस सत्ता को नहीं जान पाते और यदि जान सकते हैं तो किस सीमा तक? यह तो निर्विवाद है कि अभी तक कोई सिद्धान्ती, तार्किक या दर्शन-वेत्ता इस बात को जान नहीं पाया कि यह सत्ता क्यों है, कब से उसका प्रारम्भ है, और कब उसका अन्त होगा। जब इन तीनों प्रश्नों का उत्तर नहीं मिला तो उसे क्रमशः स्वयंभू ,अनादि और अनन्त कहकर उन्हें सन्तोष करना पड़ा। शेष दो प्रश्न रहते हैं अर्थात् वह क्या है और कहाँ है, जिनके उत्तर की खोज में ही विज्ञजन लगे हुए हैं। परन्तु यहाँ भी वे उलझन में फँस जाते हैं। संसार में भिन्न-भिन्न मतों और धर्मों का पाया जाना ही अनिश्चितता का लक्षण है। इस

अनिश्चितता के दो कारण हो सकते हैं एक तो प्रतिपाद्य ही अनिश्चित हो, और दूसरे प्रतिपाद्य निश्चित रहते हुए भी प्रतिपादक अनिश्चित दशा में हो। उदाहरण लीजिये—दूर से लकड़ी एक का ठूंठ देखा। 'अ' कहने लगा, वह सफ़ेद रंग का घोड़ा है। 'ब' बोला, नहीं वह गाय है। 'स' ने झगड़ कर कहा, तुम मूर्ख हो, वह तो एक आदमी सफेद कपड़ा पहिने खड़ा है। यहाँ प्रतिपाद्य जो लकड़ी का ठूंठ है, निश्चित है, पर सभी प्रतिपादकों अथवा दृष्टाओं की दृष्टि भ्रममूलक साबित हुई। दूसरा उदाहरण गर्मी के दिनों का लीजिये। दूर से चमकती हुई सूर्य की तेज किरणों और वायु की लहरों के समागम से ऐसा प्रतीत होता है कि आगे चलकर कोई जल-स्थल मिलेगा। इसी को मृगजल कहते हैं। भ्रममूलक दृष्टि के कारण हमें जल का आभास हुआ पर यथार्थ में है कुछ नहीं। भ्रम-वश रज्जु (रस्सी) को सर्प मान बैठना तीसरा उदाहरण है। वस्तु कुछ और हो और भ्रमवश उसे कुछ और मान लेने के ही उपर्युक्त उदाहरण हैं। इसी प्रकार यदि अपनी आँखों की पलकों पर अंगुली रख हलके रूप से उनकी गटेरनों को दबाओगे तो देखोगे कि एक ही चीज़ दो दिखाई देने लगती है। और यदि अनेक आईनों के बीच में किसी चीज़ को रखकर आईनों में देखोगे तो एक ही चीज के अनेक रूप दिखाई देंगे। इसी तरह पदार्थ-विज्ञान के विद्यार्थी को मालूम होगा कि यदि किसी पानीभरे कटोरे में अथवा नदी के स्वच्छ पानी में एक मुद्रा या कोई भी वस्तु डाल दी जाय तो वह यथार्थ स्थान से कुछ ऊँची उठी हुई सी दूसरे स्थान पर दिखाई देगी। जब हम प्रत्यक्ष संसार की प्रत्यक्ष वस्तु के विषय में अपनी प्रत्यक्ष ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा भी, विकारों के कारण, यहाँ तक भ्रम में पड़ जाते हैं कि यह नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु है या नहीं, और यदि है तो क्या है, कहाँ है, कितनी है, तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ और उनकी तन्मात्राओं के विषय में, जो केवल मनन और शुद्ध मँजी हुई बुद्धि द्वारा जाने जा सकते हैं, भ्रम हो जाय तो क्या आश्चर्य है? इसलिये इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के परे जो बिना रूप, बिना आकार का हो उसके विषय में भ्रमवश मत-भेद होना स्वाभाविक ही समझना चाहिये, क्योंकि उसे जानने का साधन निर्मल विवेक,

जो बुद्धि से भी परे है, हर एक को बिना कठिन परिश्रम के उपलब्ध नहीं होता। दूषित दृष्टि, दूषित बुद्धि और दूषित विवेक भ्रम उत्पन्न कर द्रष्टा को मार्गभ्रष्ट कर देते हैं। वह अपनी अनिश्चित दशा को दृश्य (प्रतिपाद्य) में इस प्रकार आरोपित करने लगता है जैसे रेल, वायुयान आदि में चलने वाला अपने आप को स्थिर समझ बाहर के स्थिर दृश्य पदार्थों को चलती हुई दशा में समझता है। वह अपना दोष दूसरे के सिर मढ़ने लगता है।

प्रतिपाद्य अथवा दृश्य निश्चित है या नहीं और यदि है तो किस रूप में और कहाँ, यह वही प्रतिपादक अथवा द्रष्टा बता सकता है जो स्वयं निश्चित हो अर्थात् जिसका ज्ञान-साधन भ्रम से परे हो। परन्तु भ्रम-विहीन ज्ञान-साधन रहने पर भी जो मनुष्य के ज्ञान से न जाना जाय उसी का नाम अज्ञेय है। अज्ञेय के बारे में कौन मनुष्य निश्चयपूर्वक कह सकता है कि वह है, और जब उसके अस्तित्व का प्रतिपादन निश्चयपूर्वक नहीं किया जा सकता तो फिर वह कहाँ और कैसे है, यह किस प्रकार बताया जा सकता है। सम्भव है कि कोई यह कहे कि भ्रम-विहीन ज्ञान ही विवेक है और जब विवेक अदूषित हो तो ईश्वर क्योंकर अज्ञेय कहा जा सकता है। कई एक महामुनि और महर्षियों ने अपने इसी विवेक के कारण उसे ज्ञेय कहा है। यही तो बात है जो जिज्ञासुओं को उलझन में डाल देती है। उसका वर्णन करने में, जिन्होंने उसे देखा-समझा है वे भी उसमें दो परस्पर विपरीत गुणों का आरोपण करते हैं। कोई उसे निराकार, कोई साकार कहता है। कोई उसे अजन्मा, कोई जन्म लेने वाला अवतारी मानते हैं। कोई निर्गुणवादी तो कोई सगुणवादी हैं। कोई कहता है कि वह हमारे कर्मों का निपटारा कयामत के दिन करेगा, कोई कहता है कि वह पापियों को दण्ड देता तथा पुण्यात्माओं का स्वर्ग में आदर करता है, परन्तु इसके विपरीत कोई उसे अकर्ता मान यह कहते हैं कि वह तो केवल द्रष्टा (देखने वाला) ही है, न किसी को दण्ड देकर नरक में डालता और न किसी की प्रशंसा कर उसे स्वर्गासन पर बैठाता है। एक ओर भक्त उसे शीघ्रगामी कहता है तो दूसरी ओर ज्ञानी उसे अचल बताता है। तात्पर्य यह कि उसके सम्बन्ध में कोई नकार का और कोई सकार का प्रयोग कर उसका सम्बोधन

करते हैं। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें इतने अधिक परस्परविरोधी गुणों का आरोपण किया गया हो। यह उलझन केवल इसलिये नहीं बढ़ती कि एक मनुष्य का मत दूसरे मनुष्य से भिन्न है बल्कि इसलिये और बढ़ती है कि एक ही पुरुष, एक ही लेखक, एक ही ग्रन्थ में किसी एक स्थान पर उसे नकार विशेषण युक्त बताता है तो किसी दूसरे स्थान पर सकार विशेषण युक्त। वेद-वेदान्त, पुराण, रामायण आदि हमारे माननीय धार्मिक ग्रन्थों में भी इसी प्रकार का वर्णन आता है—बस, यही शाब्दिक गोरखधंधा है कि जिसमें फँसकर हम घबड़ा जाते हैं।

उलझन के बाह्य कारण और उसका परिणाम

क्या कारण है कि जो धर्म-विषय हमें मुक्त करने के लिये जन्म लेता है वही अन्त में दलदल बनकर हमें फँसा देता है? इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य स्वयं अपूर्ण और सीमित है। उसकी बुद्धि और उसका ज्ञान कितने ही निर्मल और उच्च शिखर पर क्यों न पहुँच गये हों वे अपूर्ण ही रहेंगे। अपूर्णता में पूर्णता का बाँधना तथा सीमित में असीम का भरना असम्भव है। समुद्र के जल का एक कण सम्पूर्ण समुद्र को क्या जाने? एक छोटे से सीमित घट में असीम समुद्र कैसे भरा जा सकता है! इसके अतिरिक्त अपूर्णता की सीमा भी कोई निश्चित नहीं है, कहीं कम है कहीं ज्यादा, पर है वह अपूर्ण ही। जितना अधिक अंश अपूर्णता का होगा उतना ही अधिक पूर्णता को बाँधने का प्रयत्न करना निष्फल होगा। जिसका जितना अधिक आन्तरिक विकास होता है उसमें उतने ही अधिक पूर्णता के अंश प्रवेश करते जाते हैं और उतना ही अधिक वह पूर्णता का दर्शन कर सकता है। एक तो अपूर्ण और दूसरे अपूर्णता के भिन्नांश जब मनुष्य में विद्यमान हों तब कैसे कहा जा सकता है कि सब का दृष्टिकोण उस सर्व-व्याप्त पूर्ण असीम सत्ता के विषय में एक ही सा फल निकाले? इसके अतिरिक्त जब यह विचार किया जाता है कि परमात्मा (वही सर्वव्याप्तसत्ता) बिना स्वानुभव के नहीं जाना जा सकता तब हमारी कठिनता और भी अधिक बढ़ जाती है। प्रत्येक धर्मप्रवीण महर्षि

अपने स्वनुभव को, जो अपूर्ण रहता ही है, जब कभी दूसरों के समक्ष प्रकट करता है तो उसे अपूर्ण संकेत-साधनों का सहारा लेना पड़ता है। इन संकेत-साधनों में भाषा एक है जिसकी अपूर्णता के विषय में हम प्रथम अध्याय में कह चुके हैं। 'अ' ने किशमिश खाई, 'ब' ने कभी नहीं खाई। 'अ' को किशमिश के स्वाद का अनुभव है, 'ब' को नहीं। 'ब' ने 'अ' से पूछा, किशमिश कैसी लगती है? 'अ' ने कहा, मीठी। 'ब' ने पूछा, कैसी मीठी, शक्कर सी क्या? 'अ' ने कहा, नहीं उसमें दूसरे प्रकार का ही मीठापन है। 'ब' ने कहा, क्या गुड़-सा मीठापन, या कि अंजीर या जरदालू सरीखा? 'अ' ने कहा, नहीं। फिर 'अ' ने उसके मीठेपन का वर्णन करना प्रारम्भ किया, कभी उसे खटमिट्ठा कहा, कभी इस वस्तु के स्वाद के समान कभी उस वस्तु के स्वाद के समान बताया, परन्तु फिर भी जब वह उस स्वाद का यथार्थ वर्णन करने में असमर्थ हुआ तो उसको 'ब' से यही कहना पड़ा कि जाओ तुम खुद किशमिश ढूँढ़ लाओ और खाकर उसका अनुभव कर लो। इसी प्रकार परमात्मा के स्वानुभवी महात्मा उसका वर्णन करने में भिन्न-भिन्न उक्तियों तथा दृष्टान्तों का सहारा लेते हैं और जब देखते हैं कि भाषा की असमर्थता के कारण वे सर्व वर्णन अपूर्ण हैं तो उसी प्रकार मूक हो जाते हैं। उपर्युक्त अपूर्णताओं के साथ-साथ निम्न तीन कारणों का प्रभाव भी विषय-विशेष का निरूपण करने पर पड़ता है। (१) जिस प्रसङ्ग में जो बात कही जायगी उसीके अनुसार उसका निरूपण किया जायगा। अतिथि को मिष्ठान्न परोसने के समय जितनी अधिक प्रशंसा मिष्ठान्न की होगी उतने ही अधिक उसके दूषण एक रोगी के सम्मुख प्रकट करना पड़ेंगे हालां कि चीज एक ही है (२) श्रोता तथा पाठकों की श्रेणी के अनुसार भाव एवं भाषा-गाम्भीर्य आदि में भिन्नता लाये बिना काम नहीं चलता। बालक को समझाने के लिये जो बात एक ढंग से कही जायगी वही बात किसी प्रौढ़ बुद्धि वाले युवक के सामने दूसरे ढंग से कहेंगे (३) विषय-प्रतिपादन के लिये साहित्य के जिस अङ्ग का आधार लिया जाता है उसीके अनुसार एक ही वस्तु का वर्णन करने में भिन्नता आ जाना स्वाभाविक है। इतिहासज्ञ की यथार्थता कवि की कल्पना में कितनी भिन्नता लिये दिखाई देती

है ? उसी बात को दार्शनिक एक दृष्टि से देख अपनी कलम चलावेगा तो कहानी-लेखक दूसरे ढंग से वर्णन करेगा। यही कारण है कि काव्य-प्रधान वेदों, दर्शन-प्रधान वेदान्तों एवं कथा (कहानी)-प्रधान पुराणों में भिन्नता दिखाई देती है।

इतना ही नहीं बल्कि दशा, देश, काल वा व्यक्ति विशेष के कारण भी एक ही बात का निरूपण भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। आर्यावर्त की प्राचीन परिस्थितियों में गाये हुए वेद यदि अरब देश की कुछ ही दिन पूर्व प्रचलित दशाओं में कहे हुए कुरान से भिन्न हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। इसी भिन्नता के कारण जिज्ञासु अपने आराध्य के पूर्ण स्वरूप को पाने में कठिनता अनुभव करता है। समय-समय पर व्याकुल और अधीर होकर निराश भी हो जाता है। ज्यों-ज्यों वह इस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश करता है त्यों त्यों वह और भी अधिक उलझता जाता है। टीकाकार, समालोचक, मीमांसक, समीक्षक इत्यादि उसे अपना अपना अर्थ बता कर अपनी अपनी ओर बहा ले जाने लगते हैं। इतने पर भी उसके झंझट का अन्त नहीं होने पाता। साहित्य में कई एक शब्द अलंकारयुक्त तथा अनेकअर्थवाची होते हैं। कई एक मूलार्थ को छोड़ निराला ही अर्थ प्रकट करते हैं। सिद्धान्तप्रवर्तक ने किस भाव का प्रदर्शन करने के लिये किस शब्द का उपयोग किस अर्थ में किया है, यह जानना जिज्ञासु का प्रथम कर्तव्य है क्योंकि अपना, अपना अर्थ सिद्ध करने के लिये बड़ी खींचातानी की जाती है। इन्हीं सब कारणों के धागों से तैयार किये हुए जाल में फँस जिज्ञासु मछली सा तड़पने लगता है। इस जाल से मुक्त होने का केवल एक उपाय रहता है और वह है मननयुक्त अध्ययन।

उलझन के आन्तरिक कारण

यह तो हुआ बाहरी जाल, बाहरी खाईं। किले तक पहुँचने के लिये एक भीतरी खाईं और रहती है जिसे पार करना और भी कठिन है। वर्षों पर्यन्त मोर्चे लगाकर सतत परिश्रम (तप) करने के पश्चात् यह भीतरी खाईं पार की जा सकती है। यह खाईं हमारे अन्दर ही रहने वाला तथा अज्ञान

के नेतृत्व में चलने वाला विषय-दल (जो हमारे द्वारा ही पाला-पोसा जाता है) खोदता है और वही हमारे खेमे में रह हमारे ही विरुद्ध उपद्रव मचा कर उसका संरक्षण करता है। इसलिये सब से पहिले यह आवश्यक है कि हम इस बात का पता लगावें कि यह विद्रोही दल हम में क्यों, कब से और कहाँ वास करता है, और फिर यह देखें कि उसका नाश किस प्रकार किया जाय। यह जानने के लिये हमें स्वयं अपने स्वरूप को जानना चाहिये। स्वरूप को जानने की चेष्टाओं द्वारा ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान भी होता है। यथार्थ में ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने स्वभाव-वश यह जानने की इच्छा की कि मैं क्या हूँ और फिर तर्कों द्वारा निरीक्षण करते करते अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहूँचा कि मैं सर्व-व्याप्त विराट् स्वरूप का एक लघु (अंश) रूप हूँ; मैं और वह भिन्न नहीं हैं, मैं वही हूँ।

कार्य कारण सम्बन्ध से नर देह के विभाग

इसलिये मनुष्य ने मैं क्या हूँ यह जानने के लिये उन्हीं मार्गों का आश्रय लिया जिन के द्वारा वह अपने जीवन के अन्य क्षेत्रों में खोज करता है। उसने विचार किया कि जहाँ कार्य है वहाँ कारण होना ही चाहिये। उसने देखा कि जब कोई जीवधारी मर जाता है तब उसका शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है पर वह कुछ काम नहीं कर सकता। उसे विचार आया कि उसकी तह में कुछ ऐसा कारण होना चाहिये जो उस से काम कराता है। कार्य और कारण का निश्चयात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये तर्क और प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों की आवश्यकता होती है, जो न्याय-शास्त्र का विषय है। अन्य जीवधारियों पर प्रयोग अथवा परीक्षा करके उसने प्रमाण एकत्र किये और अन्त में यह निर्णय किया कि समस्त स्थूल संसार, जिसे हम देख रहे हैं, पञ्चभूतात्मक है। भूतों के यथाक्रमानुसार मिश्रण होने से जगत के जड़ और चेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उसका यथा-क्रम बन्धन टूट जाने से उन पदार्थों का अन्त हो जाता है। परन्तु इन पञ्चभूतों में शक्ति देने वाला कोई दूसरा और कारण होना चाहिये। इस प्रकार स्थूल कार्य का कारण ढूँढ़कर

विज्ञानी पुरुष उस कारण का कारण भी ढूँढ़ने की इच्छा करता है और इसी तरह एक के बाद एक कारण स्थिर करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। परन्तु अन्त में उसके तर्क शिथिल हो एक स्थान पर बैठ जाते हैं जहाँ उसे यह मानना पड़ता है कि इसके आगे और कोई कारण नहीं। उसको यही कहकर अपना मन समझा लेना पड़ता है कि यही एक सर्वशक्तिमान सत्ता है जो अपने आप प्रादुर्भाव होने की शक्ति रखती है। वहीं उसकी बुद्धि हार मान लेती है और इसीलिये उस सत्ता को बुद्धि और ज्ञान के परे कहा है। इसी कार्य कारण के सम्बन्ध की दृष्टि से विज्ञजनों ने स्थूल-सूक्ष्मादि के भेद से निम्नांकित देहत्रय का प्रतिपादन किया है। देहत्रय अर्थात् जिसे हम तीन तहें कह सकते हैं।

स्थूल देह

जिस देह को हम देखते हैं वह स्थूल है। वह पञ्चभूत और उनके परस्पर योग अथवा पञ्चीकृत द्वारा पच्चीस तत्त्वों (गुणों) का बना हुआ होता है। पञ्चमहाभूत जिनसे हमारा शरीर और समस्त आभासित जगत् बना है, ये हैं:—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। आकाश सूक्ष्म से सूक्ष्म भूत का प्रदर्शक है, उसीको अन्तरिक्ष कहते हैं। कोई उसे ईथर और कोई नक्षत्र-क्षेत्र (ऐस्ट्रल प्लेन) कहते हैं। यह आकाश भूत आकाशवत् शून्याकार होने पर भी स्थित है। वायु आकाश से स्थूल है। इसी प्रकार अग्नि, जल और पृथ्वी सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप की ओर ले जाते हैं। अग्नि को तेजस् और जल को अप् भी कहा जाता है। पृथ्वी स्थूलता या ठोसपन के भाव को व्यक्त करती है। सृष्टि के समय सृष्ट को आकाश क्षेत्र से पृथ्वी तक पार होना पड़ता है और लय होते समय पृथ्वी से आकाश तक पुनः उलटा व्यापार चलता है। गरज यह है कि इन्हीं पांच तत्त्वों तथा उनके पञ्चीकरण का एक प्रकार से चलता हुआ चक्र रहता है जिनसे जन्म और मरण, उत्पत्ति और

अन्त और सृष्टि और प्रलय घूमा करते हैं।* परन्तु ये स्वयं जड़ हैं अर्थात् इनमें क्रिया उत्पन्न करने वाला दूसरा ही कारण है।

सूक्ष्म देह

उक्त पञ्चीकृत भूतात्मक स्थूल देह के अन्तर्गत कुछ ऐसे सूक्ष्म तत्वों का समावेश रहता है कि जिनके बिना मनुष्य, मनुष्य नहीं कहा जा सकता। इन्हीं तत्त्वों के कारण वह पृथ्वी के अन्य पदार्थों से भिन्नता रखता है और उनसे उच्चकोटि का गिना जाता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना उत्कृष्टता का लक्षण है और वही विकास का धर्म है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि समस्त आभासित सृष्टि के रूप पञ्च महाभूतों के कारण दिखायी देते हैं—कोई एक, कोई एक से अधिक के योग का परिणामस्वरूप रहता है। जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थ इन्हीं का सहारा लेकर विकसित होते हैं। इस विकास का क्रम जन्म जन्मान्तर तक जारी रहता है। इसी के कारण जड़ से चेतन होते और चेतन पदार्थों से क्रमशः शनैः शनैः मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य योनि की श्रेणी तक पहुँचने में इस विकास काल में मनुष्य को ये ही सूक्ष्म तत्व प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि वे सभी तत्व मनुष्य मात्र में विद्यमान रहते हैं तो भी समस्त मनुष्य वर्ग में वे एक से नहीं होते क्योंकि विकास का क्रम मनुष्य वर्ग में भी चलता रहता है—किसी मनुष्य में वे उच्च कोटि के होते हैं तो किसी में निम्न श्रेणी के। जो विकास की जितनी उच्चकोटि

---

*पञ्चीकरण इस तरह से होता है—प्रथम पाँचों महाभूतों के दो-दो समान भाग मानो। फिर केवल एक-एक भाग के चार-चार भाग बराबर-बराबर और करो। तत्पश्चात् इन चार-चार भागों में से एक-एक भाग को दूसरे चार महाभूतों के भागों में मिला दो। इस प्रकार मेल करने से हर एक भूत में पाँच विभाग हो जाते हैं जिनमें से आधा भाग तो उसी भूत का विद्यमान रहता है और बाकी चार परस्पर सम्मिश्रण के। एक-एक भाग का जो आधा-आधा रहता है प्रधानता के कारण हम कहते हैं 'यह पृथ्वी है', 'यह जल है' इत्यादि।

पर पहुँच गया है उतनी ही उच्चता लिये हुए उसमें ये सूक्ष्म तत्व रहेंगे। परन्तु सूक्ष्म देह का वर्णन करते समय मनुष्यवर्गान्तर्गत विकास की ओर ध्यान न देकर हमें केवल यह देखना है कि कौन से तत्व ऐसे हैं जो सभी मनुष्यों में समान रूप से पाये जाते हैं।

इन सूक्ष्म तत्वों की गणना करने में कुछ दार्शनिकों में मत, भेद है। कोई उन्हें केवल १७ बताते हैं तो कोई उनकी गणना २४ तक करते हैं। कोई गणना करते समय अपने गणना-समुदाय में किन्हीं तत्वों का समावेश करते हैं तो कोई किन्हीं दूसरों का। परन्तु हम निम्न प्रकार से विभाजन करते हैं।

(१) पाँच कर्मेन्द्रियां—हाथ, पैर, मुख (वाणी), जननेन्द्रिय और गुदा
(२) पाँच ज्ञानेन्द्रियां—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा
(३) पाँच प्राण—ये पाँच प्रकार की हवायें हैं जो हमारे शरीर के भीतर अपने-अपने नियुक्त स्थानों में क्रियाशील रहती हैं। इनके नाम ये हैं—प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान
(४) दो और—मन और बुद्धि
कुल योग १७ [१]
(५) दो और—चित्त और अहंकार
कुल योग १९ [२]
(६) एक और—अन्तःकरण
कुल योग २०
(७) पाँच विषय—काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह
कुल योग २५ [३]

---

[१] श्री शिवानन्द ब्रह्मचारी कृत 'तत्व दर्शन'
[२] माण्डूक्योपनिषद—जहाँ पर मनुष्य की जीव-आत्मा को एकोनविंशति मुख अर्थात् १९ मुख वाला कहा है।
[३] श्री शिवानन्द ब्रह्मचारी कृत 'तत्व दर्शन' जहाँ पर ब्रह्मचारी जी ने अन्य लोगों का मत बताया है।

(८) एक और—अविद्यामूला प्रकृति

कुल योग २६

(९) एक और—महत्तत्व

कुल योग २७

(१०) एक और—शुभाशुभ कर्म-वासना

कुल योग २८

(११) पाँच भूतों की पाँच तन्मात्रायें

कुल योग ३३ [४]

(१२) पुरुष (जीव) [५]

कुल योग ३४

मतभेद केवल तत्वों की संख्या के बारे में है न कि उनके अस्तित्व के बारे में। इसलिये यथार्थ में कोई भेद नहीं समझना चाहिये। जब तक पाठक यह न जान लेंगे कि उक्त तत्व क्या हैं और उनके गुण क्या हैं, तब तक उन्हें इस मतभेद का रहस्य समझ में नहीं आवेगा। मूल तत्व १७ हैं इसमें कोई मतभेद नहीं है जो ऊपर नं० १ से ४ तक में बताये हैं। इनमें चित्त और अहंकार और जोड़ने से १९ होते हैं। चित्त और अहंकार का अस्तित्व अलग-अलग है यह सभी मानते हैं। लेकिन किसी-किसी के मत के अनुसार वे केवल मूल तत्वों, विशेषतः मन और बुद्धि के ही व्यापार रूप हैं इसलिये उनकी गणना मूल तत्वों में नहीं की जाती। हमारी समझ में उन्हें भी मूल तत्वों में गिनना चाहिये। यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है तो उनमें इतनी अधिक विशेषता व्याप्त है कि उन्हें अपना स्वतंत्र स्थान देना ही उपयुक्त होगा। इसी विशेषता के कारण अनेक दार्शनिक उन्हें सदैव से अपना निजी स्थान देते आ रहे हैं। उनकी गणना सदा मन और बुद्धि के

---

[४] श्री शंकराचार्यकृत विवेक चूड़ामणि अ० २, श्लोक ६८

[५] सांख्य—अ० १ सूत्र ६१ में 'पुरुष' को भी पच्चीस गुणों में सम्मिलित किया है।

साथ की जाती है और वे चतुष्टय के नाम से प्रख्यात हैं। वे अन्य तत्वों के केवल व्यापार रूप हैं अर्थात् उनसे विकसित हैं इसलिये उन्हें तत्त्वों की गणना में से छोड़ देना चाहिये, यह उक्ति मान्य नहीं हैं; क्योंकि जैसा हम कह आये हैं सभी तत्व जिन्हें हम मूल मानते हैं विकास के परिणाम स्वरूप हैं और इस दृष्टि से मूल में केवल एक ही तत्व रह जाता है। यथार्थ में यदि भाषा और व्याकरण की दृष्टि से 'तत्त्व' शब्द की व्याख्या कर ली जाय तो उससे एक ही बोध होता है—वह ऐक्य का ही सूचक है—वह अद्वैत की ही सिद्धि करता है।

नं० ६ में बताये हुए अन्तःकरण को विज्ञ जन अधिकतर अलग से नहीं मानते। बहुधा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों के समूह को अन्तःकरण कहते हैं और वे ही अन्तःकरण चतुष्टय कहाते हैं।

नं० ७ में दिये हुए विषय-पंचक हमारी समझ में तत्व नहीं कहे जा सकते। यद्यपि हम यह मानते हैं कि उनका व्यापार मनुष्य मात्र में रहता है जैसा कि अन्य तत्वों का चलता है तो भी उन्हें केवल विकार रूप ही मानना ठीक है। मनादि तत्वों के वे तो केवल लक्षणमात्र या धर्म अथवा वृत्तिमात्र हैं। 'विषय' शब्द ही इस बात का सूचक प्रतीत होता है। विस्तार-भय से इनके बारे में संक्षिप्त ही कहा है। इसी प्रकार नं० १० में बताई हुई कर्म-वासना को भी हमारी समझ में केवल विकार रूप ही जानना चाहिये। नं० ११ में बताई हुई पाँच भूतों की पाँच तन्मात्राओं की गणना भी तत्त्वों में नहीं किये जाने योग्य है। कोई-कोई पंचभूतों को स्थूल और जड़ मानने के कारण उनमें विद्यमान क्रियाशील शक्ति को तत्त्व मानते हैं। इसी क्रियाशील शक्ति को तन्मात्रा समझना चाहिये। पञ्चभूत और उनकी तन्मात्रायें तत्त्व हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु जब हमने पंचभूतों को स्थूल देही मान लिया है तब फिर उनकी तन्मात्राओं की गणना अलग से सूक्ष्म शरीरान्तर्गत करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। हां, यदि स्थूल शरीर केवल वही माना जाय जो दृश्य कार्य रूप है अर्थात् उसे अपने कारण (पंचभूत) से असम्बन्धित कर दें तो पंचभूत और उनकी तन्मात्राओं को सूक्ष्म शरीरीतत्त्व मान लेने में कोई हानि नहीं बल्कि आवश्यक ही होगा। परन्तु उन्हें अर्थात् पंच तन्मात्राओं को स्थूल शरीरी

ही मानना उपयुक्त दिखता है, क्योंकि जहाँ तक उनका कार्य है वहाँ तक वे संसार के अन्य पदार्थों और मनुष्य वर्ग में कोई भिन्नता की सीमा नहीं रखतीं। आभासित सभी सृष्टि उनके कार्य का फल है अर्थात् वे जड़ चेतन सभी के कारण हैं।

शेष नं० ८ वा ९ में बताये हुए तत्त्वों को तत्त्वों में गिने बिना काम नहीं चल सकता। वे तत्त्व हैं इसमें भी कोई सन्देह नहीं है, परन्तु वे उपर्युक्त अन्य तत्त्वों के परे हैं। उनके कारण ही अन्य तत्त्वों का जन्म हुआ। यदि वे न होते तो सृष्टि ही न होती और इसलिये मनुष्य ही न होता।

इस तरह अपने अपने विचारानुसार किसी ने किसी तत्त्व को छोड़ दिया है और किसी ने किसी दूसरे को। इसी कारण से जो जो योग्य संख्या हमने ऊपर बताई है उसमें भी भिन्नता हो जाती है। अतः हमारे विवेचन के अनुसार पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और अन्तःकरण चतुष्टय इन १९ तत्त्वों के समुदाय को सूक्ष्म शरीर संज्ञा देना चाहिये। इस सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं अर्थात् इस समुच्चय से ही मनुष्य का आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप उत्पन्न होता या बनता है।*

कारण देह

उपर्युक्त १९ तत्त्वों के अदृश्य पुतले को चलाने वाला कोई और ही होना चाहिये, क्योंकि वे जड़ हैं और उनसे बना हुआ पुतला भी जड़ ही के समान होता है। उदाहरणों में यद्यपि सर्वाङ्ग समानता मिलनी कठिन होती है तो

---

*चिह्न मात्र का नाम लिङ्ग है। कपिलाचार्य ने अपने सांख्य दर्शन अ० ३ सूत्र ९ में लिङ्ग शरीर को अठारह तत्त्वों का बताया है—"सप्तदशैकं लिङ्गम्।" इस सूत्र के अर्थ लगाने में भी लोगों ने मतभेद प्रकट किया है। कोई सत्रह तत्त्व कहकर अठारहवां लिङ्ग शरीर को भी मानते हैं। कोई १० इन्द्रियों के साथ पांच प्राण न मान कर पांच तन्मात्राओं एवं मन बुद्धि अहंकार को गिनते हैं।

भी हम यहां पर इस विचार से एक उदाहरण देते हैं कि हमारे मन्तव्य को समझने में सरलता हो जाय। स्टेशन पर एक रेल गाड़ी स्थिर खड़ी है। उसमें चलने की शक्ति, पानी, कोयला, आग इत्यादि मौजूद हैं परन्तु वह चलती नहीं क्योंकि चलने का जो कार्य है उसका कारण चलाने वाला ड्राइवर उसीमें सो रहा है। इसी प्रकार कार्य करने की शक्ति विद्यमान रहते हुए भी उपर्युक्त तत्व अपने लिङ्ग शरीर को उस समय तक क्रियमाण नहीं कर सकते जब तक कि कोई ऐसी शक्ति न हो जो ड्राइवर के समान उसे चलाना प्रारम्भ न कर दे।* इसी शक्ति का नाम है प्रकृति। प्रकृति उपर्युक्त सभी सूक्ष्म तत्वों से भी सूक्ष्म है, और उसका उनसे कारण-कार्य का सम्बन्ध है। चूंकि समस्त सृष्टि के व्यापार का और इसलिये हमारे स्थूल-सूक्ष्म शरीर के व्यापार का कारण प्रकृति है इसलिये इसे कारण देह कहा है। प्रकृति के परे दूसरा कारण न देख सकने से द्वैतवाद ने जन्म लिया। परन्तु प्रकृति को धक्का देकर उसकाने वाला एक और मूल कारण है जो अहंब्रह्मास्मियुक्त अवस्था है। इसी अवस्था अथवा तत्व (गुण) को महत्तत्त्व कहते हैं और यही प्रकृति-कार्य का कारण है। इसकी गणना कोई आदिकारण देह और कोई महाकारण देह कहकर करते हैं, पर है वह कारण देह के अन्तर्गत ही। एक विचार के अनुसार प्रकृति को कारण देह न कहकर महत्तत्व को कारण देह कहना चाहिये क्योंकि वह महत्तत्व की उसी प्रकार कार्य रूप कही जा सकती है जिस प्रकार मन बुद्धि आदि प्रकृति-कारण के कार्य रूप हैं। परन्तु प्रकृति-कारण की सर्वमान्य महत्ता प्रचीन काल से ही इतनी प्रबलता और अधिकता के साथ मानी जाती है कि उसे कारण देह कहना ही उपयुक्त समझा है। इसके उपरान्त यह भी देखना आवश्यक है कि प्रकृति का कृत्य किसी जीव विशेष ही से सीमित नहीं रहता। वह मन बुद्धि आदि के समान केवल मनुष्य देह का लक्षण नहीं

---

*ध्यान रहे कि इस स्थूल दृष्टांत के ड्राइवर में कुम्भकारवत् निमित्त कारण का आरोप न किया जाय। निमित्त और उपादान कारण का विवेचन आगे यथास्थान मिलेगा।

है बल्कि वह कारण भेद से समस्त जड़ वा चेतन पदार्थों में व्याप्त रहकर अपना कार्य करती है अतः इस कारण से भी उसे मन, बुद्धि आदि के साथ सूक्ष्म-देहान्तर्गत रखना ठीक नहीं है।* देह अथवा शरीर शब्द में विकार की भावना है। विकृत रूप ही शरीर है, चाहे हम भले ही उसे स्थूल कह लें अथवा सूक्ष्म कह लें या कारण मात्र ही कह लें। इस विकृत शरीर के जो परे है वही अविकृत या निर्विकार द्रष्टा मात्र कहा जाता है। विकृत शरीर को ही गीता में क्षेत्र कहा है। ('एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' अ० १३ श्लो० ६) और जो इसे जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। ('एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' अ० १३ श्लो० १) अ० १३ श्लो० १ के पूर्वार्ध में जो शरीर शब्द कहा गया है ('इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते') उसमें उपर्युक्त विभाजित सभी शरीरों का भाव विद्यमान है।

मनुष्य अपनी अनुभूतियों का निरूपण करता है

अपनी अनुभूतियों का आरोपण करना मनुष्य का स्वभाव है। स्वर्ग और नरक की भावनाएं, पाप और पुण्य कर्मों के लिए ईश्वर-द्वारा दण्ड वा पुरस्कार पाना, इन्द्र तथा इन्द्रासन आदि उपर्युक्त स्वभाव के कारण से ही व्यक्त किये गये हैं। इसी स्वभाव के अनुकूल अपने शरीर के समान ईश्वर का स्वरूप तथा अपनी शारीरिक क्रियाओं के समान ईश्वरीय क्रियाएं भी व्यक्त की जाती हैं। अन्तर केवल यह बता दिया जाता है कि मनुष्य लघुकाय है और ईश्वर दीर्घकाय। यही कारण है कि ईश्वर (सर्वव्याप्त सत्ता) को विराट्

---

*हमने महत् को प्रकृति के पूर्व माना है। अन्यान्य आचार्य प्रकृति को ही मूल में मानते हैं, जैसे कपिलाचार्य ने अपने सांख्य दर्शन के अ० १ सूत्र ६१ में कहा है कि प्रकृति से महत् होता है (प्रकृतेर्महान्......) हमारे इस मत की पुष्टि विवेचनपूर्ण आगे यथा स्थान मिलेगी। आचार्य ने इसी सूत्र में त्रिगुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा है—'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'। साम्यावस्था-सम्बन्धी हमारे विचार आगे मिलेंगे।

पुरुष या विराट् भगवान् कहते हैं। इसलिए इस विराट् पुरुष में भी मनुष्य उन तत्वों को देखता है जो उसने अपने निजी स्वरूप (देह) में पाये हैं।

मनुष्य देह के तत्वों का वर्णन करने में हमारी शैली स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ी है और वह है भी उचित, क्योंकि पहली दृष्टि मनुष्य के स्थूल शरीर पर ही पड़ती है और फिर उसके पश्चात् उसके सूक्ष्म शरीर की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। इसके विपरीत जब हम ईश्वर का नाम सुनते हैं तो सर्व-प्रथम हमारा मन किसी अदृश्य सूक्ष्माति-सूक्ष्म वस्तु की ओर आकृष्ट होता है और फिर यह प्रश्न आप ही आप मन में उठता है कि यह कौन सी सूक्ष्म चीज है, कौन-सी सूक्ष्म सत्ता है और उसमें कौन से ऐसे गुण विद्यमान हैं कि जिनसे स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है। इसलिए हमारा तर्कमय ज्ञान-क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर चलने को उद्यत होता है। अतः अब हम अगले छठवें और सातवें अध्याय में यह देखेंगे कि ब्रह्म और ईश्वर क्या है ? उन दोनों में कोई भेद है क्या ? उसका निवास कहाँ है और यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई और होती रहती है !

: ६ :

ईश्वर-ज्ञान के सरल साधन

पिछले पाठ

प्रत्येक प्राणी सुख की इच्छा करता है। सुख बिना शान्ति के नहीं मिल सकता। व्यक्तिगत शान्ति सामाजिक शान्ति के बिना निरर्थक है। सामाजिक शान्ति की स्थापना के लिये लोक-संग्रहार्थ कर्म करना चाहिये। लोक संग्रही आदर्श पुरुष होते हैं। आदर्श की पूजा करना धर्म-विहित और मान्य है। लोकैकता ही लोक-संग्रह है। लोकैकता के भाव को प्रौढ़ करने के लिये सर्वव्यापी एक सत्ता का धर्मों-द्वारा निरूपण हुआ। इस सत्ता-सम्बन्धी कुछ प्रश्न उठते हैं जिनके हल करने में अपूर्ण मनुष्य को भिन्न-भिन्न उपायों का आश्रय लेना पड़ता है जिसके कारण मत-भेदादि होने से जिज्ञासु उलझन में पड़ जाता है। लेकिन फिर भी मनुष्य ने उस सत्ता को जानने के लिये कदम पीछे नहीं हटाया। उसने कार्य-कारण के आधार पर नर-देह के अन्तर्गत कार्य करने वाले तत्त्वों को निर्धारित किया तथा स्थूल सूक्ष्मादि के भेद से देहत्रय का निरूपण किया है। कार्य-कारण-सम्बद्ध देह-त्रयी विभाग ईश्वर-ज्ञान-प्राप्ति के लिये कठिन मार्ग को सरल करने में सहायक होता है।

संज्ञा और संज्ञी की भिन्नता

किसी वस्तु के नाम को संज्ञा कहते है, यह हमें बाल्यकाल ही में व्याकरणशास्त्र प्रारम्भ करते समय सिखाया जाता है। वस्तु और उसका नाम ये दोनों भिन्न चीजें हैं। वस्तु यथार्थ है, नाम उसका केवल भाषान्वित संकेत है। वस्तु का आप अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं। और उसी अनुभव की हुई चीज़ को कोई भी एक नाम देकर पुकारने लगते हैं। अतः जब नाम को संज्ञा कहते हैं तो वस्तु संज्ञी कहलाती है। एक वाचक है दूसरा वाच्य। वाचक वाच्य से भिन्न है। वाचक केवल अप्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कर सकता है—

वह ज्ञान जो किसी दूसरे ने अनुभव करके बताया हो। इसके विपरीत वाच्य
से प्रत्यक्ष ज्ञान आता है। जब तक हम काश्मीर वाच्य को स्वतः न देख
आवेंगे तब तक हम उसके विषय में कितने ही सुन्दर-रमणीक वर्णन क्यों न
पढ़ें या सुनें, हमें वास्तविक आनन्द नहीं आ सकता।

संज्ञा का महत्त्व

यद्यपि नाम और वस्तु, संज्ञा और संज्ञी भिन्न हैं, तो भी नाम की इतनी
महिमा है कि विद्वानों ने दोनों को अभिन्न माना है। नाम सुनकर वस्तु की
याद आती और उसके गुणानुवाद सुनने से उसे प्राप्त करने अथवा उसको
देखने के लिये हृदय में उत्कंठा होती है। इसका महत्व किसी एक ज्ञान-क्षेत्र में
नहीं वरन् तीनों अर्थात् आधिभौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान-क्षेत्रों
में रहता है। जो चीज़ सरलता से उपलब्ध नहीं हो सकती उसके विषय में
ज्ञान उत्पन्न कराने की दृष्टि से संज्ञा का महत्व और भी अधिक बढ़ा हुआ
रहता है। यही कारण है कि कठोपनिषद् एवं माण्डूक्योपनिषद् में ब्रह्म वाच्य
के वाचक ॐ शब्द की ब्रह्म से अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। यही
अभिन्नता अक्षर-ब्रह्म योग का प्रतिपादन करते समय श्री मद्भगवत्गीता के
अध्याय ८ श्लोक १३ में 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' कहकर दर्शाई गई है। महात्मा
तुलसीदास जी तो अपनी भक्ति-रस प्रधान रामायण में यहाँ तक बढ़ गये हैं
कि उन्होंने राम नाम को राम (संज्ञी) से भी अधिक महत्व दिया है। परन्तु
नाम की महिमा तभी होती है जब नाम इस प्रकार का हो कि उसमें वाच्य
(वस्तु) के अधिक से अधिक गुण व्यक्त हों। वह सार्थक हो, निरर्थक नहीं।
ॐ और राम नाम की सार्थकता समझने के लिये उक्त ग्रंथों के उन भागों का
अध्ययन कीजिये जहाँ पर उनका वर्णन आया है। 'अल्लाह' और 'गाड' शब्दों
के मूलार्थों को देखेंगे तो उनमें भी ईश्वरीय गुण झलकते हुए दिखाई देंगे।

जहाँ शब्द द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान कराया गया, वहीं वह शब्द
वाचक हो गया। इसी प्रकार ब्रह्म और ईश्वर शब्द यथार्थ में सर्वशक्तिमान्
सर्वव्यापक सत्ता के वाचक हैं। वाच्य तो वह सत्ता है जो सर्वव्याप्त और

सर्वशक्तिमान् है और उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में स्वानुभव पर ही अधिक ज़ोर दिया जाता है। इसलिये जहां ब्रह्म और ईश्वर वाच्य कहा जाता है वहाँ केवल उसी सत्ता का अभिप्राय रहता है जिसको भाषा-द्वारा ब्रह्म, ॐ, ईश्वर अथवा अन्य नाम से पुकारते हैं।

ईश्वरानुभव

अनुभव बिना वस्तु-स्थिति के नहीं हो सकता। इसलिये जिज्ञासु के मन में बारम्बार यही प्रश्न उठा करता है कि ब्रह्म तो हमें दिखता ही नहीं, हम अनुभव किस बात का करें। बात तो ठीक है। ब्रह्म या ईश्वर कोई ऐसी स्थूल वस्तु तो है नहीं कि जिसे हम देख-सुन सकें, और न वह वायु या अग्नि (विद्युत्) के समान ऐसा महीन ही है जिसे हम त्वचा आदि द्वारा समझ सकें अथवा किसी सूक्ष्म यन्त्र के द्वारा उसकी गति-विधि परख सकें। बाह्येन्द्रियों की बात छोड़ दीजिये, वह आन्तरिक मनेन्द्रियों से भी परे हैं। मानसिक क्रियाओं द्वारा भी उसका अस्तित्व नहीं जाना जा सकता। फिर कैसे जानें कि वह है ? यदि धारणा दृढ़ बन चुकी है तो जानना निश्चय है। दृढ़धारणा वाले जिज्ञासु को कोई बात कठिन नहीं है। श्रुति में जानने का मूल मंत्र लिखा है "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"—श्रुति वाक्य, संत वचन एवं गुरु-निर्देश इत्यादि का प्रेमपूर्वक श्रवण करना पहिली बात है। जो कुछ सुना या पढ़ा जावे उस पर मनन करना यह दूसरी बात हुई। मोहादि के प्रति विरागात्मक बुद्धि द्वारा पुनः पुनः स्मरण करके अभ्यस्त होना या ध्यानस्थ हो निश्चय को प्राप्त करना यह तीसरी बात हुई जिसे निदिध्यासन कहते हैं। सारांश यह है कि सुनना वा पढ़ना, सुने वा पढ़े हुए पर तर्कयुक्त मनन करना तथा मनन करने पर निश्चित किये हुए मार्ग में अभ्यस्त होना, इन तीनों बातों की आवश्यकता होती है। शास्त्र-वचन सुनने से धर्म की ओर रुचि बढ़ती है। रुचि बढ़ने से हमारा ध्यान धर्म की ओर इतना प्रवृत्त होता जाता है कि नित्य प्रति के प्राकृतिक कार्यों में हमें ईश्वर की विलक्षणता दिखाई देने लगती है, उसकी महान सत्ता के दर्शन प्राप्त होने लगते हैं। चूँकि यह सत्ता विलक्षण है इसलिये

उसका कोई एक स्वरूप नहीं कहा जा सकता। हर एक ने अपने-अपने अनुरूप ही उसको देखा वा समझा, और जो कुछ उसने देखा-समझा उसी को सर्वसत्य मान अपना मत बड़े ज़ोरों से व्यक्त किया, तथा जो कुछ दूसरों ने देखा-समझा उसे झूठा साबित करने के लिये तर्क-वितर्क आदि का वितण्डावाद खड़ा कर दिया। इसीलिये सांख्य मत वालों का ईश्वर-निरूपण योगियों के ईश्वर से भिन्न है*; शैव उसे कुछ मानते हैं तो शाक्त कुछ और; पौराणिक पुरुषों में उत्तम पुरुष को पुरुषोत्तम भगवान् मानते हैं तो याज्ञिक उसका यज्ञ में अधिष्ठान करते हैं। किसी मत के अनुसार वह अष्ट-सिद्धि तथा नव निधियुक्त ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुष है, तो किसी दूसरे मत के अनुसार वह प्रकृति (अविद्यादि क्लेश) से मुक्त निर्गुणात्मक है। कोई उसे प्रकृति का सहचर मान द्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं, तो कोई प्रकृति का अस्तित्व उसी (सत्ता) के अन्तर्गत मान एकवाद की ही स्थापना करते हैं। जैन फिलासफी एक बात कहती है, तो बौद्धधर्म की फिलासफी दूसरी बात। मुसलमान एक तान छोड़ते हैं तो ईसाई दूसरी। परन्तु ये सब झमेले की बातें हैं। झमेले में पड़ जाना ही साम्प्रदायिकता का लक्षण है। जो सचमुच ही यह जानना चाहे कि ईश्वर है या नहीं, और यदि है तो कहाँ और कैसा तो उसे इस खींचा-तानी से दूर ही रहना चाहिये। उसे समझना चाहिये कि जितने मत-मतान्तर हैं वे प्रतिपादकों की भावनाओं के अनुरूप हैं। तुलसीदासजी ने इसी सत्य को बड़ी सरल और ग्राह्य भाषा में इस प्रकार कह कर दर्शाया है कि "जाकी रही भावना जैसी—प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"। जिसने जो कुछ प्रतिपादन किया है उसने उतना ही देख पाया है, और जो कुछ उसने देख पाया है वह भी पूर्ण है या अपूर्ण, असंदिग्ध या संदिग्ध है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

* कुछ लोग सांख्य-मत को अनीश्वरवाद का प्रतिपादक कहते हैं, और अपने मत-समर्थन के अभिप्राय से कपिल सांख्य-दर्शन का "ईश्वरासिद्धेः" (सांख्यदर्शन १।९२) सूत्र उपस्थित कर देते हैं। परन्तु यह उनकी पठन-शैली का दोष है।

एक छोर को पकड़कर दूसरी ओर को भूल जाना तथा अपने पकड़े हुए छोर को ही पूर्ण एवं सर्व सत्य मानकर आपस में झगड़े उठाना व्यर्थ का बखेड़ा है। जो "है" उसके लिये बड़े-बड़े तर्कों की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है केवल उसे देखने की। देखने के लिये यदि प्रेम है तो वह क्षण-क्षण में पग-पग-पर दिखाई देता है। बिना तर्कशास्त्री हुए, बिना वैज्ञानिक हुए तथा बिना विद्वान् हुए जिस प्रकार हम उसे देख-समझ सके हैं उसी प्रकार सरलता से आप भी देख-समझ सकते हैं।

ईश्वरीय ज्ञानार्थ सरल साधन-क्रम

(१) रात्रि के समय, जब कि चन्द्रमा का प्रकाश न हो, आकाश की ओर मुँह करके लेट जाइये और एक चित्त होकर यह तो देखिये कि ये चमकते हुये तारे क्या हैं और कितने हैं ? इनमें से अनेक हमारी इतनी बड़ी पृथ्वी से भी सैकड़ों गुने बड़े हैं। संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें गिनने के लिये किसी की सामर्थ्य नहीं। ये घूमते हैं अपनी कील पर और अपनी परिधि पर भी। कितने नियम से बँधे हैं कि मजाल क्या कि एक सेकेण्ड का भी अन्तर पड़ जाय। सदैव घूमते रहने पर भी क्या कभी आपने उन्हें आपस में टकराते हुए देखा है ? कौन सा मोहनमंत्र है जो उन्हें छिटक छिटक कर नचा रहा है ? कौन है जो उन्हें नियमादि की शृंखला में बद्ध किये है ? हो न हो, कोई अद्वितीय शक्ति होनी चाहिये, जो हमारी पृथ्वी समेत समस्त नक्षत्र गणों को अपनी इच्छा की अँगुली के बल घुमा फिराकर क्षण भर भी दम नहीं लेने देती। आकाश की छिटकी हुई इस छटा ने ही पाश्चात्य कट्टर नास्तिक ब्रेडला के हृदय में आस्तिकता का प्रकाश भर दिया था।

(२) क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि हमारी पृथ्वी पर ही—शिलादि जड़ पदार्थों की बात छोड़ दीजिये—कितने जीव-जन्तु हैं ! इन जीव-जन्तुओं की संख्या पृथ्वी के भूमि, जल और वायु विभागों में कितनी है ? कितने हाथी से दीर्घ-देही और कितने अणुमात्र हैं !! क्या आपने इस पर भी ध्यान दिया है कि इस छोटी सी पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य और नक्षत्रों में कितने

और जीवधारी होंगे ? कितने उनके प्रकार और कितने कितने उनके गुण । इन सब का उत्पन्न होना, जीवित रहना और अन्त हो जाना कितना नियमबद्ध है, इस पर भी क्या कभी विचार किया है ? इन सब के खाने पीने का प्रबन्ध-कर्ता कौन है ? कौन है वह महती शक्ति जो असंख्य नक्षत्रों में रहने वाले असंख्य जीवधारियों को प्रति निमिष में बनाती-मिटाती रहती है ?

(३) क्या आपने इस बात पर भी विचार किया है कि वर्तमान स्थूल शरीर के पूर्व जीवधारी किस विशेष रूप में था ? बरसात के समय केंचुआ तथा गिंजाई इत्यादि जीवधारी कहाँ से ढेर के ढेर प्रकट हो जाते हैं ? वे किसी खास भूमि में पैदा होते हैं न कि सब जगह । गर्मी के दिनों में ही विच्छू कहाँ से आ जाते हैं ? गोबर के ढेर में कालान्तर से गुबरीला, गेहूँ वा चना के ढेर में घुन कीड़ा, गूलर के फल में सहस्रों कीटाणु कहाँ से आते हैं ? अंडे के भीतर द्रव पदार्थ में से पक्षी आदि अंडज जीवधारियों का स्थूल रूप कहाँ से हो पड़ता है ? ध्यान से देखोगे तो मालूम होगा कि समस्त जीवधारियों का स्थूल स्वरूप उन्हीं पञ्चमहाभूतों का कार्य है जिनके विषय में हम पिछले अध्याय में थोड़ा बहुत लिख चुके हैं । जब हम किसी जीवधारी को देखते हैं तो हमें यही समझ में आता है कि उसका जन्म हमारे समान ही उसके स्थूल शरीरधारी माता-पिता के संयोग से हुआ होगा ! परन्तु सब भी जीवधारियों की उत्पत्ति इस प्रकार के संयोग पर निर्भर नहीं रहती । उपर्युक्त उदाहरणों से मालूम होगा कि उपयुक्त स्थिति और मात्रा में पंचमहाभूतों के संयोग से जीवों की उत्पत्ति आप ही आप हो जाती है और पूर्वोक्त स्थिति तथा मात्रा में अन्तर आ जाने से उनका अन्त हो जाता है । उनके माता पिता यही पंचभूत हैं । उन्हीं के समागम से वे पैदा होते हैं । यथार्थ में हमारे माता-पिता भी वही हैं । स्थूल शरीरधारी माता-पिता के संयोग द्वारा केवल उन पंचभूतों में एक प्रकार का आन्दोलन-सा होता है जिसके कारण जीव-उत्पत्ति के लिये उपयुक्त परिस्थिति आ जाती है । क्या आज तक ऐसा कोई विज्ञानी पुरुष हुआ है जो किसी भी जीव को पैदा कर सका हो । किसको इस बात का ज्ञान है कि पंचभूतों में कौन-सी परिस्थिति उत्पन्न की जाय जिससे अमुक जीव जन्म ले सके ? मेंढक की

चीर-फाड़ करने वाले चीर-फाड़ के अतिरिक्त जीवोत्पत्ति को क्या जानें! फिर वह कौन सी शक्ति है जिसके लिये एक नहीं असंख्य जीवों को हर पल उत्पन्न करना उसके बायें हाथ का खेल है? सम्भव है किसी दूरवर्ती भविष्य में कोई वैज्ञानिक किसी एकाध प्रकार के जीवधारी की उत्पत्ति की क्रिया ढूँढ़ निकाले, पर यह निश्चय है कि वह उस अपूर्व शक्ति की बराबरी करने में असमर्थ होगा। यदि उन्हीं जीवधारियों को लिया जाय जिनका जन्म उनके स्थूल शरीरधारी माता-पिता के संयोग से होता है तो भी अन्त में वही निष्कर्ष निकलता है। प्रश्न करते जाइये तो अन्त में यही बात आती है कि और नहीं तो सृष्टि की आदि में अवश्य ही ऐसी ही शक्ति द्वारा आदि स्थूल-शरीर-धारी पैदा किया गया होगा। यही कारण है कि तत्वज्ञानियों एवं धर्म-प्रणेताओं को यह बात मान लेनी पड़ी है कि आदि काल में ईश्वर ने आदम (आदिम) या मनु को पैदा किया। ईसाई और मुसलमान धर्मों में जो आदम (Adam) शब्द का प्रयोग किया गया है वह आदि और मनु शब्दों से ही बना हुआ प्रतीत होता है। आदि में मनुष्य को किसी ने पैदा किया हो अथवा वह स्वयं ही प्रकट हुआ हो यही दो बातें सम्भव हो सकती हैं। यही सिद्धान्त अन्य सब जीवधारियों के विषय में, नहीं सभी जड़ और चेतनामय सृष्टि के बारे में निर्धारित होता है।

(४) क्या आपके ध्यान में कभी यह बात उठी है कि पैदा करने वाली और स्वयं प्रकट होने वाली ये दोनों बातें कहने को तो दो हैं पर अर्थ उनका एक ही है? यदि उठी है तो क्या आप स्वयं तर्कों द्वारा उस मन्तव्य पर पहुँचे हैं, या कि केवल दूसरों के सुनने पर विश्वास कर बैठे हैं? दूसरों को सुनकर किसी बात का विश्वास कर लेना अन्ध विश्वास कहलाता है, जिससे मन को कभी सन्तोष नहीं होता। और जब तक असन्तोष है तभी तक अशान्ति रूपी अग्नि जलती रहती है जो स्वभावतः दुख का मूल है; धर्म क्षेत्र में इस प्रकार से उत्पन्न अशान्ति रूपी आग को बहुधा छिपाने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु सिवाय दूसरों को धोखे में डालने के इस तरह उसे छिपाने से उसका धधकना थोड़े ही मिट सकता है। इसलिये उसे तर्क-वारि से सींच कर बुझाओ।

किसी वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में पहुँच जाइये और वहाँ पर रखे
हुए भिन्न-भिन्न पदार्थों का मिश्रण कर देखिये कि क्या आप भी कोई नवीन
आविष्कार करने में अथवा नवीन पदार्थ तैयार करने में सफलता प्राप्त कर
सके हैं। नहीं कर सके, क्योंकि आप उनके ज्ञाता नहीं। उनका ज्ञाता है वही
वैज्ञानिक। वही उनका यथोचित भाग लेकर यथोचित परिस्थिति तैयार करके
मिश्रण करने पर नवीन पदार्थ बना सकता है। पर उसका उन एकत्र पदार्थों
के गुणों का ज्ञान सीमित है इसलिये वह भी पूर्ण रूप से उनके गुणों का
उपयोग नहीं कर सकता। पञ्चमहाभूतों से जड़ और चेतन प्रकट होते हैं। इस
संसार रूपी प्रयोगशाला में उन्हें हम देखते वा जानते हैं। परन्तु हम उनके
पूर्ण ज्ञाता नहीं। दस पाँच गुण ही करोड़ों वर्ष के अध्ययन के पश्चात् जान
सके हैं और उसी सीमित ज्ञान के आधार पर कुछ आविष्कार करते जाते हैं
जिसके फल-स्वरूप हम फूले नहीं समाते और अभिमान-वश अपने आप
को सर्व-ज्ञाता मानने लग जाते हैं। तब तो फिर कोई ऐसी विशाल शक्ति
होनी चाहिये जो उनके समस्त गुणों की सर्व-ज्ञाता हो और विज्ञान कला में
पूर्ण निपुण हो। पंचमहाभूत सर्व-संसार में व्याप्त हैं, फिर क्या कारण है कि
कहीं और कभी उन्हीं से एक पदार्थ या एक प्रकार का जीव उत्पन्न होता है
तो कहीं और कभी दूसरे प्रकार का? क्या यह किसी पूर्ण ज्ञाता की करतूत
नहीं? पंचभूतों की सर्वव्याप्ति तथा उनके कर्तृत्व को देख क्या आपने कभी
यह सोचा है कि वे जड़ हैं अर्थात् वे स्वतः कुछ नहीं कर सकते। उनमें जो
गुण विद्यमान हैं उन्हीं के कारण उनमें कर्तृत्व शक्ति है। ये गुण कहाँ से आये
और उनका सम्मिश्रण कौन, कब, किस ढंग से करता है, क्या इस प्रश्न का
भी उत्तर आपने कभी सोचा है? इसके आगे फिर भी यह प्रश्न उठता है कि
उन गुणों में भी क्रिया शक्ति कहाँ से आई। बस इसी प्रकार कारण-कार्य का
तारतम्य अन्त में एक विन्दु पर ठिठक जाता है और वहाँ पर यही मानना
पड़ता है कि किसी एक मूल शक्ति से अन्य शक्तियों का प्रादुर्भाव होकर उनका
तांता शाखा-प्रशाखाओं में लग जाता है। यही मूल शक्ति सारे संसार को पैदा
करने वाली है। इसी से सर्वप्रथम एक क्रियाशील शक्ति प्रकट होती है और

फिर उससे दूसरी शक्ति। इसी तरह एक के बाद एक शक्ति प्रकट होती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षेत्र से चलकर स्थूल रूप बन जाती है जिसे हम बाह्येन्द्रियों द्वारा सृष्टि के रूप में देखने लगते हैं। इसी मूल शक्ति को आदि शक्ति, आदि पुरुष, ब्रह्म इत्यादि कहते हैं। इसलिये सिद्ध होता है कि पैदा करने वाला तथा स्वयं प्रकट होने वाली शक्ति दोनों बातें एक ही अभिन्न रूप से हैं।

(४) सुनते हैं ईश्वर रोम-रोम में है, पत्ते-पत्ते में रहता है। हम भी सुना करते थे और वही कहने भी लग गये थे। यही नहीं, सुनने और कहने से हमें यह अभिमान भरा विश्वास भी आ गया था कि हम उसे समझ गये हैं, जान गये हैं। यथार्थ में जाने-वाने कुछ नहीं थे। जाने कब ? जब कि हमने उस पर मनन किया। तभी उक्त कथन की सचाई मालूम हुई और सत्यानन्द हुआ। आपने कभी इस पर विचार किया है ? अहा ! देखिये, उस पीपल के वृक्ष को उसकी इस मोटी डाल में कैसा सुन्दर लाल-लाल चमकता हुआ, कोमल पर तेजवान एक छोटा-सा अंकुर निकल रहा है। ग़ज़ब ! यह कहाँ से आ गया ? पहिले तो इसका नामो-निशान नहीं था !! नामो-निशान नहीं था, यह कहना भूल है। हमें उसका स्वरूप दिखता नहीं था, क्योंकि हम तो आँख से देखने वाले ही ठहरे न ! वह पहिले से वृक्ष के अन्दर उसकी नस-नस में अदृश्य रूप से ओत-प्रोत था। रस के रूप में क्या ? नहीं रस स्थूल है। उसे हम देख सकते हैं। वह पंचभूतादि के गुणों का मिश्रण है। रस अंकुर का तत्कालीन प्रत्यक्ष कारण अवश्य है। परन्तु रस-रूप का कारण भूतादि हैं और भूतादि का कारण उनमें विद्यमान उनके गुण हैं जिन्हें उनकी तन्मात्रायें कह सकते हैं। फिर उन तन्मात्राओं अथवा उन गुणों का भी कारण उस वृक्ष में मौजूद है जो मशीन के ड्राइवर के समान मशीन के सारे कल-पुर्जों को चलित दशा में किये हुए है। यही अदृश्य मूल गुण, अदृश्य मूल शक्ति अनुकूल परिस्थितियाँ तैयार करने में लगी रहती हैं। एक के बाद एक नई परिस्थिति प्रकट होते हुए अन्त में वह परिस्थिति अंकुर के रूप में दृष्टिगोचर हुई है। फिर देखिये वही क्रिया जारी है। अंकुर क्रम-क्रम से बढ़ता हुआ पत्ता हो जाता है। कालान्तर में उसका रूप और नाम बदलता जाता है। लाल से हरा और हरा से

पीला फिर अन्त में सूखकर गिर जाता है। प्रारम्भिक, आन्तरिक, दूरवर्ती अप्रत्यक्ष कारण से लेकर अन्त तक कितने नाम और रूप हुए, पर बात एक ही रही; इस पर क्या आपने नहीं विचारा ? क्या यह पत्ता उसी प्रकार जीवित नहीं कहा जा सकता, जिस प्रकार वह वृक्ष है ? क्या उस पत्ते की नसों में वही शक्ति निवास नहीं करती जो अन्य और जीवधारियों को प्रति-पालित करती है ? यही हाल हमारे शरीर के रोम-रोम का है। रोम (बाल) बढ़ता है, यह हम सब जानते हैं। क्यों ? उसी मूल शक्ति के कारण जो हममें उसी प्रकार ओत-प्रोत है जैसे उस वृक्ष में। किसी भी जीवधारी के किसी भी अंग को देखिये तो आप को यही क्रिया कार्य करते हुए समझ में आवेगी। इसका कार्य-क्रम इतना नियम-बद्ध लगातार प्रतिक्षण होता रहता है कि हमारे सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्रों के द्वारा भी हम उसके क्रम को नहीं जान सकते। आप किस क्षण में कितने बढ़ गये या आपका अमुक अंग कितना किस काल में बढ़ा यह आप नहीं जान सकते। आप तो कुछ काल बाद यह कहते हैं कि पहिले दस वर्ष पूर्व मैं ३ फुट ऊँचा था अब ३½ फुट हो गया हूँ। पहिले इस पत्ते का रंग लाल था, अब हरा हो गया ! किस क्रम से यह परिवर्तन हुआ यह नहीं जाना जा सकता। यही विकास-क्रम का रहस्य है।

(६) यह तो समझ में आया कि जीवधारियों में, चाहे वे वृक्षादि के समान अचल हों या पशु आदि के समान चल हों, अवश्य कोई मूल शक्ति है जिसके कारण वे घटते-बढ़ते, चलते-फिरते अथवा रूप-रंग बदलते रहते हैं। परन्तु क्या निर्जीव पदार्थों में भी वह शक्ति निवास करती है ? यदि करती है, तो कैसे जाना जाय ? उनमें तो किसी प्रकार की क्रिया ही नज़र नहीं आती ? पदार्थ-विज्ञानी की विवेचनापूर्ण दृष्टि से यदि देखा जाय, तो उसका अस्तित्व निर्जीव पदार्थों में भी विदित हो सकता है।

निर्जीव पदार्थों में वह मूल शक्ति विद्यमान है या नहीं, इसके जानने के लिये पहिले मोटी बात ही ले लीजिये। इस पत्थर को देखिये। कहिये इस में अग्नि है क्या ? दिखती तो नहीं है पर है अवश्य। हथौड़े से पीटिये और देखिये कितनी चिनगारियाँ निकलती हैं। उस बाँस के झाड़ की ओर दृष्टि

कीजिये। उसकी डालियों की आपस की रगड़ से यह आग कहाँ से आई जिसने जंगल का जंगल साफ कर दिया। क्या यह उसमें विद्यमान नहीं थी? गर्मी के दिनों में किसी कपड़े को रात्रि के समय उठाइये और देखिये उसमें कितने अग्निकण चिट-चिट करते निकलते हैं। काष्ठ में आग, कपड़े में आग, समुद्र के जल में आग (बड़वानल) कितनी विरोधात्मक बात दिखती है, पर है सच ही। अग्नि की बात जाने दीजिये, किसी भी पदार्थ-विज्ञानी से पूछिये तो वह यह बात बेखटके बतावेगा कि इन पदार्थों के अन्दर वायु भी रहती है। धर्मशास्त्रों में सूर्य तेज, अग्नि तथा विद्युत पर्यायवाची शब्द हैं। यह बात सर्वमान्य है कि हम प्रकाश के कारण देखते हैं। यदि हम अभ्यास द्वारा विद्युत के सहारे देखने लग जायँ तो दीवाल, चट्टान आदि ठोस पदार्थों के दूसरी तरफ की चीजें सरलता से देख सकेंगे, क्योंकि वह ठोस पदार्थों में से भी आती जाती हैं यह विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी जानता है। इसी प्रकार दूर की चीज़ों को बिना किसी यंत्र के देखने की शक्ति आ सकती है। तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओं में अदृश्य पंच तत्व मौजूद हैं और जिनकी मौजूदगी हम विज्ञान द्वारा सिद्ध कर सकते हैं तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि उन जड़तत्वों में स्फूर्ति लाने वाली शक्ति उन से भिन्न कहीं और दूसरी जगह है? वह अभिन्न रूप से उन्हीं तत्वों के साथ निवास करती है।

(७) जीवधारियों और जड़ पदार्थों में उसके अस्तित्व के सिद्ध हो जाने से यह कैसे जाना जा सकता है कि वह पदार्थ शून्य स्थान में भी है? यथार्थ में जिसे हम शून्य स्थान जानते हैं वह शून्य है ही नहीं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि खाली घट खाली नहीं है। उसमें वायु रहती है। इसी प्रकार जिसे हम शून्य स्थान (Vacuum) कहते हैं वह ईथर (Ether) से भरा हुआ है। यही आकाश तत्व है। इस आकाश तत्व में लहरों के ऊपर लहरें चला करती हैं ठीक उसी प्रकार की जैसे समुद्र जल में लहरें चलती हैं। इन्हें आकाशीय तरंगें (Etheral Vibrations) अथवा विद्युतीय लहरें (Electrical Currents) कहते हैं। इनका अस्तित्व सूक्ष्म यंत्रों द्वारा जाना जाता है और इसी प्रकार के यन्त्रों द्वारा मनुष्य ने किसी हद तक उन्हें अपने

वश में कर भी लिया है। इन लहरों का यथोचित ज्ञान होने पर उन्हें नियन्त्रित करने से मनुष्य दूरदेशीय शब्द (आवाज़) सुन सकता, दृश्य देख सकता और पारस्परिक आन्तरिक भावों को जान सकता है। टेलीफोन (टेली = का अर्थ है दूर का), रेडियो, टेलीविजन और टेलीपेथी आदि विद्याएँ इन्हीं लहरों से सम्बन्ध रखती हैं। मेसमेरिज़्म (या हिपनोटिज्म) विद्या का सम्बन्ध भी कुछ अंश तक इन लहरों से रहता है।* जो तत्त्व जितना सूक्ष्म होता है उसमें उतनी ही अधिक चेतना रहती है। इन चेतनामय लहरों के कारण हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य करती हैं अर्थात् सुनना, देखना, सूँघना आदि का कार्य इन्हीं पर निर्भर रहता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है इसलिये उनकी सहायता के लिये सूक्ष्म यंत्रों का आविष्कार होता चला जाता है। आधुनिक विज्ञान काल में जो काम सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किया जाता है वही धर्म-प्रधान काल में हमारे ऋषि आदि अध्यात्म विद्या द्वारा किया करते थे। किसी एक स्थान में बैठकर वे दूरदर्शी और त्रिकालदर्शी बन दूर-दूर देशों की बातें सुनते और देखते थे और भूत, वर्तमान, भविष्य की बातों को भी जान लेने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते थे। इन गौरवपूर्ण प्राचीन बातों को कोरी गप्प समझकर उड़ा देने के लिये इस नवीन-आविष्कार-युग में अब कोई गुंजाइश नहीं रही है। तब प्रश्न यह उठता है कि इन लहरों में इस प्रकार की अद्भुत शक्तियों को उत्पन्न करने वाली कोई दूसरी अन्य शक्ति अवश्य होनी चाहिये। यही मूल शक्ति है जो उनमें चेतनता लाती है और जो उन्हीं में एकमय होकर व्याप्त रहती है।

(८) यदि आप यह कहते हैं कि वह शक्ति इस वृक्ष में है, उस पत्थर में है, या कि इस पक्षी में है, उस मनुष्य में है, तो क्या वह सीमा-बद्ध परिमित है? अथवा अपरिमित होते हुए क्या उसका कुछ अंश इस वस्तु में आ जाता,

---

*टेलीफोन आदि शब्द अंग्रेज़ी भाषा के हैं। फोन, विजन, पेथी का अर्थ क्रमशः सुनना, देखना, दवा करना होता है। इसी तरह मेसमेरिज़्म का अर्थ है अचेत करना।

कुछ उसमें चला जाता और इस तरह वह अपने आप को वस्तु की सीमा से बद्ध कर लेती है ? यदि इस प्रकार उसके अंश अलग-अलग हो जाते हैं तो क्या वह अविच्छिन्न, परिच्छिन्न अथवा विभाजित होकर घट सकती है ? यदि वह सीमाबद्ध है तो असीम कैसे ? यदि वह अंशों में विभक्त है तो पूर्ण कैसे ? अंशों में विभक्त होने के कारण यदि उसकी शक्ति बटी है तो वह सर्व शक्तिमान कैसे ? सूर्य दृश्य पदार्थ है। उसका तेज और प्रकाश बटा हुआ है। क्या इससे उसकी पूर्णता में कमी हो जाती है ? उसकी किरणें और उष्णता प्रत्येक पदार्थ में प्रवेश करती हैं। क्या वह सीमाबद्ध और असमर्थ हो जाता है ? प्रकाश पहुँचाना, उष्णता देना यह उसके धर्म हैं—स्वभाव-गुण हैं। राम का स्वभाव-गुण है मीठे वचन बोलना। उसके मीठे वचन दूसरों के हृदयों में प्रवेश करते और उन्हें प्रफुल्लित करते हैं। क्या मीठे वचनों की झड़ लगाने से राम में किसी प्रकार की कमी आ जाती है ? या कि मीठे वचनों का अन्य जनों के हृदय में स्थान बन जाना राम को सीमाबद्ध कर सकता है ? नहीं, स्वाभाविक गुण को वस्तु मानना असङ्गत है। तब तो क्या यह बात माननी पड़ेगी कि वह सूर्य या राम के समान एक-स्थानीय है और वहीं से अपने गुणों द्वारा अन्यान्य पदार्थों को प्रभावित करता है। नहीं, यह भी भूल है। वह गुण ही वह है ! अन्यत्र आपको यह कई बार बताया जा चुका है कि सृष्टि के स्थूल रूप के जो कारणभूतादि हैं उन कारणों के कारणों (तन्मात्राओं) का भी वह कारण है। अतः जहाँ स्थूल सूक्ष्मादि रूप या वस्तुयें हैं उनके अन्तर्गत वह कण-कण में कारण रूप से ओत-प्रोत है, और जहाँ आकाश (अन्तरिक्ष-ईथर—Astral Plane) सी शून्यता है वहाँ पर भी वह वही कारण रूप होकर विद्यमान रहता है। इसीलिये कहा जाता है कि मैं पृथ्वी में हूँ; मैं अग्नि (सूर्य) में हूँ, मैं वायु में हूँ, मैं आकाश में हूँ। जब सूक्ष्मातिसूक्ष्म की बात आती है तब उसी भाव को यह कहकर प्रकट करते हैं कि मैं तेज का तेज हूँ; गुण का गुण हूँ, सुगन्ध का सुगन्ध हूँ, कारण का कारण हूँ, इत्यादि।

यदि सौ बात की इस एक बात पर ही ध्यान रखा जाय कि वह कारण का भी कारण है और उसी रूप में वह सब जगह, सब काल में रहता है तो

तत्सम्बन्धी समस्त शङ्कायुक्त प्रश्नों के उत्तर जिज्ञासु को अपने समाधान के लिये मिल सकते हैं। इसी मूल सिद्धान्त को ध्यान में रखने से यह बात भी जानी जा सकती है कि न उसका वह रूप है और न वह उसके समान चलायमान है जिसमें कि वह अधिष्ठित है। एक मिट्टी का घड़ा लीजिये और देखिये कि क्या उसमें कोई छेद हैं। आप कहेंगे छेद तो दिखाई नहीं देते। तब फिर उसे पानी से भर दीजिये। अब आप देखेंगे कि पानी झरने लगता है। क्यों? इसलिये कि उसमें इतने महीन छेद हैं कि यद्यपि वे हमें दिखाई नहीं देते तो भी उन छेदों में से थोड़ा-थोड़ा पानी बाहर आता है। पानी को अब फेंक दो। पानी फेंकने के बाद उसमें क्या रहा? वायु। पानी से महीन वायु है। वायु उन छेदों से पानी की अपेक्षा अधिक आसानी से आ-जा सकती है। घट की वायु और उसके बाहर की वायु से सम्पर्क रहता है। वायु से महीन आकाश तत्व है। इसलिये धर्मशास्त्रों में घटाकाश (घट में आकाश) का उदाहरण देकर समझाया है। आकाश वायु से अधिक महीन होने के कारण भीतर-बाहर के आकाश से और भी अधिक सम्बन्धित रहता है। अब यदि आकाश से भी सूक्ष्म उसकी तन्मात्रा तथा उससे भी सूक्ष्म उसका मूल कारण, जिसे महाकारण भी कहते हैं, उस घट में स्थित समझा जाय तो फिर उसके सम्पर्क की क्या कोई सीमा हो सकती है? अब घट को छोड़ कोई दूसरा ठोस से ठोस पदार्थ लो। वह पदार्थ कितना ही ठोस क्यों न हो उस महाकारण को जो अपनी सूक्ष्मता के कारण अरूप ही है, रोक रखने में असमर्थ रहता है। उस पदार्थ के अन्तर्गत स्थित महाकारण का सम्पर्क बाह्य महाकारण से इतना अधिक रहता है कि उन दोनों में कोई भिन्नता नहीं रहती। आगम-निर्गम का वहाँ कोई सवाल ही नहीं रहता। एक इतना महीन झिल्ली वाला पदार्थ लो कि जिसका पर्दा महीन से महीन हो। उसे समुद्र में या किसी अन्य जलाशय में डुबाओ और देखो उसके भीतर और बाहर जो पानी है उसका तारतम्य अथवा पारस्परिक सम्बन्ध कितना अधिक है कि दोनों में कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती। उस महाकारण के लिये संसार के समस्त ठोस से ठोस पदार्थ महीन से महीन झिल्ली वाले परदों के समान हैं जिनके भीतर-बाहर वह एक समान रहता है; वहाँ उसके

आने-जाने का नाम नहीं और न उसके रूप वा सीमा का सवाल है। वह तो सदा सब स्थान में एक सा है। जो सदा सब स्थान में एक समान हो उसका चलना-फिरना कैसे कहा जा सकता है। चलना फिरना तो केवल उस पदार्थ का ही होता है जिसमें कि वह अधिष्ठित है। वास्तव में घट में जो आकाश है वह घट के इधर-उधर ले जाने से नहीं चलता। अविद्यावश हम घटाकाश को चलता हुआ मानते हैं।

(९) परमात्मा सब में सब जगह समान है यह तो माना। फिर क्या कारण है कि मनुष्य अन्य पदार्थ और प्राणियों से अधिक श्रेष्ठ माना जाता है? क्या कारण है कि हम बहुधा यह पढ़ा करते हैं कि ईश्वर मनुष्य वर्ग पर अधिक प्यार करता है, और मनुष्य-वर्ग में उसके भक्तों पर और भी अधिक, यहाँ तक कि वह स्वयं उनका भक्त और सेवक बन जाता है? मनुष्य क्या सच-मुच ही श्रेष्ठ है उन भोले भाले प्राणियों से जो किसी के लेन-देन में नहीं, जो इतने विषयासक्त नहीं जितने कि मनुष्य, जिनकी दिनचर्या केवल सादा भोजन करने और शुद्ध पानी पीने ही में गुजरती है? या कि मनुष्य खुद ही अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन बैठा है? सचमुच ही क्या मनुष्य ईश्वर को अन्य प्राणियों से अधिक प्यारा है और क्या वह उनमें विशेष अथवा अधिक रूप से रहता है? यदि ऐसा है तो क्या वह अन्यायी नहीं, पक्षपाती नहीं, असमानता का दोषी नहीं? अन्यान्य नक्षत्रों और अन्तरिक्ष के प्राणियों की बात छोड़ दीजिये। यहीं पृथ्वी की बात लीजिये और देखिये कि किसने यह निर्णय किया कि मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य ने स्वयं अपना फैसला लिख डाला और सुना दिया। वही अपने को श्रेष्ठ बताने लगा और प्रिय होने का दावा करने लगा। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए प्रमाणों के भी ढेर लगा लिये। सारा फैसला इकतफरा हुआ। भगवान् ही जाने कहाँ तक वह सत्य की कसौटी पर कसा जा सकता है। हाँ, मनुष्य सबल है, उसने अपनी सबलता के कारण अन्य प्राणियों पर आधिपत्य और आतङ्क जमा लिया है। इसलिये वह शासक बन शासित पर चाहे जितने दोष मढ़ सकता है। उन्हें आत्मा-विहीन कहकर, बुद्धि-हीन देखकर तथा दुष्ट प्रकृति वाले बताकर उनके प्रति जो अनर्थ किये जाते हैं, उन पर विचार करने

से शरीर के रोंगटे खड़े हुए बिना नहीं रहते। फिर भी मनुष्य श्रेष्ठ और ईश्वर-प्रिय होने का दावा करे यह कितने आश्चर्य की बात है। शासक बिना बुद्धि-बल के शासन नहीं कर सकता। चूँकि मनुष्य अन्य प्राणियों पर शासन करने योग्य है इससे वह बुद्धिमान् ठहरा। परन्तु आज शासन करने के लिये सात्विक बुद्धि-बल की आवश्यकता नहीं। उस बुद्धि में तो दंद-फंद का समावेश रहता है। वह कुटिलता से भरी हुई होती है। जातीय इतिहासों से पता लगता है कि शासक सदा पाशविक बुद्धि वाला बर्बर होता है और शासित बहुधा उच्च सात्विक बुद्धि वाला। यह कैसी बुद्धि कि हम मदिरा पान करें और वे शुद्ध पानी; हम समय बेसमय स्त्री-प्रसङ्ग में रत रहें और वे केवल ऋतु के समय; हम तलवार से ज़िबह कर या गोली से उड़ाकर अपना पेट भरें और वे केवल घास-पात खाकर ही!! फिर क्यों बुद्धि की डींग मारने वाला आत्माभिमानी घोर-विषयी मनुष्य अपने आप को श्रेष्ठ कह ईश्वरप्रिय बतलाता है?

मनुष्य श्रेष्ठ और ईश्वर-प्रिय है। ये शब्द किसी विषयासक्त के नहीं, किसी अन्यायी दुष्ट के नहीं। ये हैं उन धर्म-प्रिय साधु, ऋषि, मुनिजनों के जिनके वचन सर्व-सत्य होने के कारण मान्य और ग्राह्य हैं। श्रेष्ठता और ईश्वर-प्रियता इसलिये नहीं कही गई कि उसका दुरुपयोग किया जाय और उसकी आड़ लेकर अनाचार वर्ते जावें। श्रेष्ठ में दया, नम्रता और प्रेम का भाव है। जो श्रेष्ठ है वह कमजोर को कुचलता नहीं, उसे उठाकर अपनी बराबरी पर लाता है। निर्बलता देख उसके हृदय में दया उठती है जो प्रेमाश्रु बहाती हुई निर्बल को गले लगाने दौड़ती है। यही साधुवाक्य श्रेष्ठता का अर्थ है। चूँकि मनुष्य का आन्तरिक स्वरूप, जिसे हमने गत अध्याय में सूक्ष्म देह कहा है, अन्य जीवधारियों की अपेक्षा अधिक विकसित माना जाता है इसलिये उसे श्रेष्ठ कहना न्याय-सङ्गत है। इस विकास के कारण यह आशा करना सर्वोचित है कि वह अपने आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप को पहिचाने और दोनों को अभिन्न मान संसार में असमता मिटाकर ऐक्य स्थापित करे। परन्तु उस कुवेर का क्या सत्कार, जो फूटी कौड़ी भी दान न कर सके, उस समुद्र से क्या लाभ जो प्यासे की प्यास न बुझा सके और उस विकास की क्या श्रेष्ठता जिसमें निर्बल

के प्रति दया और प्रेम का भाव न उठे। सब प्राणियों में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर होते हैं। अन्तर केवल सूक्ष्म-शरीरान्तर्गत तत्वों के विकास का रहता है। बुद्धि-विकास के कारण, जिसके पास जितना अधिक निर्मल विवेक रूपी दर्पण होगा, उतना ही शुद्ध वह परमात्मा का स्वरूप अपने भीतर देख सकेगा। विवेक प्राप्त करना ही श्रेष्ठता का मुख्य लक्षण है। विवेक आने पर ही दया, नम्रता, प्रेमादि गुण उत्पन्न होते हैं, जिसके कारण वह पूर्ण दयालु एवं पूर्ण प्रेमी ईश्वर का इतना अधिक प्रेम-पात्र बन जाता है कि उन दोनों में अर्थात् आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं रहता। इसीलिये वे एक दूसरे के भक्त और सेवक कहे जाते हैं। जिनके कर्म और जिनकी दिनचर्या इस प्रकार विवेक-पूर्ण हो उन्हीं को श्रेष्ठ कहा जाता है।

: ७ :

ब्रह्म और ईश्वर

गत पाठ

ईश्वर सब में, सब जगह एक समान है, यह जानने के कुछ साधारण उपाय गत अध्याय में बताने का प्रयत्न हमने किया है। अब हम यह देखेंगे कि ब्रह्म और ईश्वर में क्या भेद है।

अविचल दशा में ब्रह्म-निरूपण

दूसरे अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि शांति वहीं है, जहाँ निर्विकल्प समाधि हो। उक्त स्थिति में समस्त वृत्तियाँ निष्क्रिय होकर अपने आप ही लय हो जाती हैं। इसी सर्वदास्थित, निष्क्रिय, अविकृत, अपने आप लय की स्थिति में मनुष्य ने ब्रह्म-निरूपण किया है! आँख बन्द कीजिये और एक अत्यन्त गहरे तालाब के किनारे पहुँच जाइये, जहाँ चारों ओर सन्नाटा है और गहराई के कारण जिसका रंग नीलाकाश के समान है। वहाँ न कोई आवाज़ है और न हवा चलती है, न कोई पशु-पक्षी उसमें पानी पीने आता है और न सूक्ष्म से सूक्ष्म कीटाणु उसकी सतह या किनारे पर आकर उसके जल को विचलित करते हैं। न जल के भीतर कोई जीव-जन्तु चलकर उसे हिलाते-डुलाते और न बाहर के; कल्पना कीजिये कि वह पूर्ण शान्तिमय है। इतने में हवा चली, जल को स्पर्श किया जिससे उसकी सतह पर एक हल्की सी लहर उठ पड़ी। बस वहीं उसकी शान्ति भङ्ग हो गई।

इस ओर उस अचल चट्टान को भी देखिये। वह आँधी उठी और उस को स्पर्श करती हुई निराश होकर चली गई। इधर बड़े ज़ोरों का पानी भी उस पर गिरा पर वह उस की अविचल दशा का कुछ न बिगाड़ सका। वह पक्षी आया

और उस पर बैठकर मधुर-मधुर शब्दों का गान सुनाया फिर भी वह अपनी अचलता में टस से मस न हुआ, और न वह मनुष्य ही हर प्रयत्न करने पर उसे हिला-डुला सका। बाहरी समस्त क्रियायें उस पर कुछ असर न कर सकीं।

उस महान् योगी को भी देखिये! कैसा चट्टान-सा अविचल है! समस्त राग-द्वेषादि, द्वन्द्व एवं मोह लोभादि विषय बड़ी तीव्रता से उठ उसके मन से टकराकर उसी प्रकार लौट-लौट चले जाते हैं जैसे समुद्र की लहरें उसके किनारे की चट्टानों से। मनुष्य भले ही उस पर वार कर ले, सिंह भी गर्जना कर सारे वायु मण्डल को भीत करदे, साँप या बिच्छू भी भले ही काट खाये, पर उसकी नींद, उसकी अविचल समाधि ज्यों की त्यों बनी हुई है। क्या आपने इसी प्रकार के सैकड़ों दृश्यों को अपने ज्ञान का आधार-भूत बनाकर कभी किसी अदृश्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व की अविचलता पर ध्यान दिया है? जो तत्त्वों की तन्मात्रा है अथवा जो उन तन्मात्राओं का भी कारण है उस कारण की उस स्थिति का दृश्य भी क्या अपने आन्तरिक चक्षुओं के सामने खींचकर देखा है कि उसकी अविचलता अन्य पदार्थों और तत्त्वों की अविचलता से कितनी अधिक है? क्या आपने स्वयं ध्यान में मग्न होकर अविचल स्थिति द्वारा प्राप्त शान्ति का कभी अनुभव नहीं किया? मनुष्य कितने ही समय तक इस अविचल दशा को धारण करने और शान्ति प्राप्त करने में समर्थ क्यों न हो गया हो उसकी वह स्थिति अनित्य और अपूर्ण ही रहेगी। जब मनुष्य को ज्ञान और अनुभव के द्वारा अपने समस्त कृत्यों में अनित्यता और अपूर्णता प्रकट होने लगी तब उसने अपनी कल्पना के आधार पर उन्हीं कृत्यों में नित्यता और पूर्णता का अनुभव कर ब्रह्म-निरूपण किया। जिस अविचल ध्यानावस्था में हम बाहरी किसी भी क्रिया से अप्रभावित रहकर अपने आपको भी भूल बैठते हैं उसी में निर्विकार शान्ति और आनन्द है। यह शान्ति और आनन्द कितना क्षणिक है! पर है वह इतना मीठा कि उसकी बार-बार याद आती है, और कभी आँख चढ़ाकर, कभी उसे बन्द कर, कभी उछल-कूद लगाकर, कभी गाकर और कभी आँखों में आँसू भर कर उसका बार-बार आह्वान करते हैं। इसी अविचल स्थिति को, जिसमें मनुष्य अपने आप को भी भुला देता है, उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा की निर्विकल्प स्थिति

का ज्ञान प्राप्त करने का साधन जानिये। अन्तर केवल यह है कि यह अंश-मात्र है तो वह पूर्ण. यह क्षणिक है तो वह नित्य। मनुष्य में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ सजीव रहती हैं फिर भी पूर्वोक्त ध्यानावस्था के समय वह उन सबको अपने आप में विलीन (लय) कर लेता है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान सत्ता अपनी सारी शक्तियों को खींच करके अपने आप ही में उन्हें विलीन कर लेती तथा अपने आप ही आनन्द में मग्न रहती है। जिस प्रकार मनुष्य उक्त स्थिति प्राप्त कर अपनत्व को भूल जाता है, उसी प्रकार उस सत्ता में भी उसका अस्तित्व भूला हुआ रहता है, अर्थात् अस्तित्व का भाव भी सारी शक्तियों के साथ एकमय होकर विलीन हो जाता है। सत्ता की इसी स्थिति का नाम ब्रह्म है। ब्रह्म में 'मैं' (अहं) का भाव जागृत नहीं रहता। वह अहं तद्रूप ही होकर ब्रह्म ही में विद्यमान रहता है।

ब्रह्म और ईश्वर

जहाँ अहंकार अथवा अहं या अपनत्व का भाव विलीन है वहाँ किसी प्रकार की इच्छा नहीं फटक पाती। जब इच्छा ही नहीं तो उसे पूर्ण करने के विचार ही कहाँ से आवेंगे? जहाँ विचार-शून्यता हो वहाँ कार्य-क्रियता नितान्त असम्भव है। कार्य-क्रियता अथवा कर्म-व्यापार के बिना कार्य का प्रत्यक्ष रूप कहाँ से प्रकट होगा? इच्छादि गुण हैं, और वे पूर्ण शान्ति एवं आनन्द को भङ्ग करने वाले विकार भी हैं। अहंशून्य स्थिति में न कोई गुण है और न कोई विकार। उसे निर्गुण और निर्विकार की उपाधि रहती है। इसीलिये ब्रह्म निर्गुण और निर्विकार रूप से प्रार्थनीय है। जब तक ब्रह्म है तब तक सृष्टि का नाम नहीं, क्योंकि ब्रह्म तो एक रस उस स्थिति का नाम है जहाँ 'मैं हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) का भाव ही सुषुप्त हो। अपने आप को भूले हुए मनुष्य के पूर्वोक्त दृष्टान्त से यह समझ में आ जायगा कि जहाँ ब्रह्म है वहाँ सृष्टि का अभाव रहता है। मनुष्य को क्रिया-शील हम तभी देख सकते हैं जब कि वह अपनत्व अथवा "मैं हूँ" (अहमस्मि) का भाव लेकर जाग उठे। तभी उसके सोचने-विचारने, बनाने-मिटाने इत्यादि का व्यापार प्रारम्भ होगा। ज्योंही अहंभाव

जगा कि सृष्टि का कार्य शुरू हुआ। * तब फिर आप पूछेंगे कि क्या ब्रह्म केवल सृष्टि के पूर्व था और सृष्टि के प्रलय होने पर भी भविष्य में होगा ? क्या वह वर्तमान में नहीं है ? नहीं, वह तीनों भूत, वर्तमान, भविष्य काल का स्वामी है। वह काल से बद्ध नहीं। उसका अस्तित्व तीनों काल में एक समान रहता है। पूर्वोक्त ध्यानावस्थित मनुष्य पर विचार करने से यह बात सहज ही समझ में आ जायगी। काल की सीमित दृष्टि से यह स्पष्ट है कि वह ध्यानावस्था के पूर्व (भूत), ध्यानावस्था के समय (वर्तमान) तथा ध्यानावस्था के समाप्त हो जाने के समय (भविष्य)—तीनों काल में विद्यमान रहता है। यथार्थ में हम "सृष्टि" शब्द का अर्थ नहीं समझते और न "प्रलय" का ही। जिसे छिपाकर रखा है उसी को प्रकट करने का नाम सृष्टि है, और जो प्रकट है उसी को छिपा लेने का नाम प्रलय या लय है। सृष्टि शब्द को सुनते ही हमारे मन में एक बात समा जाती है, और वह यह कि कोई एक समय था, तब ईश्वर ने सारी सृष्टि जिसे हम आज देख रहे हैं, एक बारगी उत्पन्न कर दी। इसी प्रकार प्रलय शब्द के सुनते ही हमारे मन में यह भाव उठता है कि किसी भविष्य काल में सारा संसार एकबारगी लुप्त हो जायगा। हम रात-दिन चलती हुई 'उत्पत्ति और नाश' की, 'जन्म और मरण' की, 'सृष्टि और लय' की क्रिया का विचार ही भूल जाते हैं। बार बार उक्त कथनों को सुनने के कारण हमारा मन यथार्थ को भूल कल्पना पर चला जाता है। शब्दों के व्युत्पत्त्यर्थ से अनभिज्ञ होने के सबब भी हम निकट की बात को छोड़ दूर की बात सोचने लगते हैं। सृष्टि कब उत्पन्न हुई और उसका कब अन्त होगा, यह कौन जानता है ? यही कारण है कि सृष्टि को भी अनादि और अनन्त कहते हैं और सम्भवतः इसलिये भी कि उसका सम्बन्ध अनादि और अनन्त शक्ति से है। यथार्थ में सृष्टि, उत्पन्न, जन्म, प्रकट और प्रादुर्भाव इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं। इसी प्रकार नाश (अदर्शन), मरण और लय इत्यादि भी पर्यायवाची हैं। जो है वही प्रकट

---

* अहंकारः कर्ता न पुरुषः (सांख्य अ० ६ सू० ५४) यही भाव गीता के अ० ३ श्लो० २७ में देखिये अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।

होता और वही लुप्त (लय) हो जाता है। बाहर आना और छिपना अथवा सृष्टि और लय ये दोनों क्रियाएँ साथ-साथ पग-पग पर क्षण-क्षण में दृश्य और अदृश्य दोनों रूप में चौबीसों घंटे चलती रहती हैं।

सम्भव है यहाँ पर प्रश्न पूछा जाय कि जब सृष्टि का उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गया तब ब्रह्म में अहं-विलीनता कहाँ रही? अहं भाव आने पर ही तो सृष्टि उत्पन्न हुई होगी? जब सृष्टि और नाश की क्रियायें वर्तमान काल में जारी हैं और वे अहंभाव के जागरित हुए बिना चल नहीं सकतीं तब फिर कैसे कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में भी ब्रह्म-स्थिति है? यद्यपि शंका ठीक जँचती है, पर ठीक नहीं है। पूर्व अध्यायों के पढ़ने से यह तो ज्ञात हो गया होगा, कि ब्रह्म कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो परिमित हो। वह तो कारण रूप सर्वत्र व्याप्त सत्ता है। उपर्युक्त परिस्थितियों के आने पर वह कारण-मात्र रूप-विशेष लेकर प्रकट हो उठता है और फिर विपरीत परिस्थितियों के कारण वही प्रकट स्वरूप लुप्त हो जाता है, जिसे हम नाश होना या मरना कहते हैं। जब तक उक्त परिस्थितियों के एकत्र होने का कार्यारम्भ नहीं होता तब तक ब्रह्म-स्थिति रहती है, और ज्योंही उनका कार्य प्रारम्भ हुआ त्योंही ब्रह्म-स्थिति मिटकर दूसरी स्थिति आ जाती है। इसी दूसरी स्थिति का नाम ईश्वर है। इस स्थिति में अहंकार जगा हुआ रहता है। यही सृष्टि-कर्ता है। ब्रह्मरूपी असीम सत्ता में कहीं सृष्टि का कार्य चल रहा है तो कहीं नाश का, और कहीं किसी का नहीं! समुद्र को यदि एकबारगी देख लेने की सामर्थ्य है तो देखिये कहीं बुलबुले उठ रहे हैं तो कहीं मिट रहे हैं, और कहीं न उठ रहे हैं न मिट रहे हैं। हम अपने दृष्टि-कोण को इतना संकुचित कर एक पदार्थ से बाँध लेते हैं कि हमें उस विस्तृत क्षेत्र का ज्ञान होना असम्भव हो जाता है जिसमें एक नहीं असंख्य पदार्थ हैं और कहीं शून्यवत् केवल तत्त्व मात्र है। ब्रह्म को इस प्रकार सीमित दृष्टि से देखने के कारण पूर्वोक्त शंका होना अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु जिस क्षेत्र में कार्य करने की शैली एक समान हो उसके किसी भी एक पदार्थ को ही देखने से उस क्षेत्र भर के नियमों का आभास हो सकता है। जल के किसी भी

परमाणु के गुणों की विवेचना करने से सारे समुद्र के जल-गुणों का ज्ञान होना असम्भव नहीं है। इसलिये सृष्टि के किसी एक पदार्थ को भी लेकर देखिये तो आप को मालूम हुए बिना न रहेगा कि उस सीमित दृष्टि से भी अहं शून्य ब्रह्म-स्थिति न केवल भूत और भविष्य में वरन् वर्तमान में भी रहती है, क्योंकि ईश्वर के समस्त कार्य सम नियम-बद्ध हैं। यहाँ वही गेहूँ की बात ले लीजिये। इसी में ब्रह्म-ज्ञान की बातें भरी हुई मिल जावेंगी। देखो, ग्रीष्म ऋतु में खलियान से उठाकर घर में जब लाया गया तब वह कितना सूखा हुआ है! कितना निर्जीव है! परन्तु उसकी निर्जीवता में कितनी सजीवता है इस पर भी क्या कभी विचार किया है? उसमें एक ओर अंकुरित होने की शक्ति है तो दूसरी ओर रुधिर बढ़ाने की। रुधिर से वीर्य और रज बनता है; वीर्य-रज के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश में सहस्रों कीटाणु उत्पन्न होते और उनमें से केवल एकाध के संयोग से सन्तानोत्पत्ति होती तथा सन्तानोत्पत्ति से संसार चलता है। इस घुन के कीड़े को भी देखिये। वह भी उसी में उसी से पैदा हो गया है। एक सूखे हुए छोटे से निर्जीव पदार्थ में भिन्न-भिन्न गुण-सूचक महान शक्ति!! कहाँ है वह! न दिखाई देती, न सुनाई पड़ती और न उसका आभास ही होता है। पर है वह अवश्य। उस दाने के कण-कण में भिदी हुई आज वर्तमान समय में भी वह सम्पूर्ण शान्ति धारण किये हुए अविचल आनन्दानुभव कर रही है। कणों में होते हुए भी कण उसके आधार नहीं हैं, परन्तु वह कारण रूप से कणों का आधार है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वह शून्य ही है। शून्य का न कोई आकार है और न उसमें कोई विकार है। पर वह निरा शून्य नहीं है। उसमें है एक जीती-जागती स्फूर्ति। यही उसके अस्तित्व का शेष है। यही शेष उसका आधार है। गेहूँ विशेष में स्थित अदृश्य महान शक्ति का जिस प्रकार शेष आधार है उसी प्रकार वही शेष एकवचनीय अविशेष समस्त स्थूल सृष्टि का भी आधार है। पृथ्वी, सूर्यादि समस्त नक्षत्र-मण्डल शून्याकाश में अपने आप ही बिना किसी आधार के स्थित हैं। उनका जो कुछ आधार है वह है वही महान शक्ति, वही जीती-जागती स्फूर्ति अथवा गुरुत्वाकर्षण या स्नेहाकर्षण शक्ति। इसी शेष शक्ति को, जो शून्याकाश में

लय है, सर्व-अण्ड और ब्रह्माण्डों का आधारभूत जानना चाहिये। गणित-शास्त्र का अंक-प्रदर्शक यह 'शेष' शब्द ही हमारी समझ में बाद में कालान्तर में सर्पराज का द्योतक माना जाने लगा होगा। 'सर्प शब्द 'सृ' अथवा 'सृप' धातु का रूपान्तर है जिनका अर्थ होता है 'सरकना' सरकना। शब्द में विकास-क्रिया का भाव है। 'सृष्टि' शब्द भी 'सृ' धातु से बना है जैसा हमने अन्यत्र बतलाया है। इस तरह 'शेष' शब्द मूल अवस्था का द्योतक है तो 'सर्प' और 'सृष्टि' विकसित अवस्था के। इसीलिये प्रतीत होता है कि धर्मानुयायियों और चित्रकारों ने विष्णु भगवान् को सर्प-राज, शेष के सहस्रों फनों पर (अर्थात् ब्रह्मरूपी शेष की सहस्रों शक्तियों पर) आसीन करके अथवा उन्हें उनकी छत्र-छाया में बिठाकर उक्त भाव का प्रदर्शन करना प्रारम्भ किया होगा। यथार्थ में शून्य में विलीन यह शेष ही ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द का अर्थ ही है अनन्त काल तक मर्यादापूर्वक सर्व सामर्थ्यमय विस्तार होने वाला। ("ब्र" का अर्थ होता है उत्कृष्टता से वृद्धि [विस्तार] होने वाला, और "म" का अर्थ है मर्यादा अथवा अनन्त काल)" ।*

इस सजीव शून्यता में असीम गम्भीरता है। जो शून्य और असीम विस्तारमय है वह आकाश-तुल्य है, जिसमें हम सभी को नील वर्ण प्रतीत होता है। नील वर्ण गहराई का भी प्रतीत होता है। जहाँ अविचल गहराई है वहाँ ही गहरा नीलापन दिखाई देता है। इसीलिये ब्रह्म का निरूपण 'शान्ताकारं' 'भुजग (शेष) शयनं,' 'विश्वाधारं,' 'गगन सदृशं' 'मेघ वर्णम्', कहकर किया जाता है।

हिरण्य-गर्भ

यह मेघवर्णीय, शान्ताकार अहं-शून्यता एक ज्वलन्त तेजोमय उत्पादक शक्ति को, जिसे पहिले जीती-जागती स्फूर्ति कहा है, धारण करती

---

*देखो शिवानन्द ब्रह्मचारी कृत 'तत्व दर्शन' अथवा धात्वर्थ देने वाले किसी भी शब्दकोष को।

है। उसके निवास के लिये इस शान्ताकार में गर्भ-स्थान की कल्पना की गई है, जिसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य का अर्थ है सोना। सोने के रंग सरीखा चमकने और तेज वाला गर्भ उस नील वर्ण में आरोपित किया जाता है। एक ओर शान्तिप्रदर्शक नील वर्ण है और दूसरी ओर उसी में गर्भित सृष्ट्योत्पादक विद्युत सी छटपटाती हुई सुनहले रंग की लहर। इन्हीं दोनों का योग विष्णु, राम, कृष्ण आदि के चित्रों में चित्रकार बताया करते हैं। उनके शरीर का नील वर्ण रहता है और उस पर या तो पीले रंग का जनेऊ पहिनाया जाता है या पीले रंग का उपरणा डाला जाता है अथवा पीले रंग की धोती पहिनाई जाती है या इन सबका सम्मिश्रण कर देते हैं। जिस प्रकार विष्णु आदि को पीतम्बर धारण कराया जाता है उसी प्रकार शिव का बाघाम्बर भी पीत वर्ण का होता है।

इसी हिरण्य गर्भ में वह स्फूर्तिमय "अहं" भावना सोई हुई अप्रकट रूप से रहती है। ज्यों ही वह प्रकट हुई त्यों ही कुम्हार के चक्र के समान सृष्टि-चक्र घूमा। सृष्टि तत्त्वात्मक है, यह हम देख ही चुके हैं। तत्त्व तथा उनकी समस्त क्रियायें अहं के साथ सो जातीं और उसके साथ उठ बैठती हैं। ये सृष्टि रूपी बिजली के पंखे की पंखुरियां रूप हैं। जहाँ अहं रूपी बिजली का तार जोड़ा गया तहां फौरन घनघनाता हुआ उन सब का घूमना प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि ईश्वर ब्रह्म की केवल परिवर्तित दूसरी स्थिति है, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, तो भी दृष्टान्त के रूप में यह कहते हैं कि जहाँ अहं भावना उठी वहाँ ब्रह्म का काम समाप्त हुआ और ईश्वर ने चार्ज लिया। उस गेंहू के दाने में जो आज वर्तमान समय में शान्तिपूर्ण ब्रह्म-स्थिति है वही कल समय उपयुक्त होने पर ईश्वर रूप हो अंकुरित करने, रुधिरादि बढ़ाने तथा घुन-कीट उत्पन्न करने की क्रिया प्रारम्भ कर देती है। अतः तर्क द्वारा यही सिद्ध होता है कि वह चाहे असीम रूप से देखा जाय या सीमित रूप से दोनों दशाओं में उसकी व्याप्ति वर्तमान काल में भी माननी पड़ेगी। यथार्थ में था, है और होगा, इन तीन क्रियाओं की कोई एक सरल रेखा नहीं है। वे भी तीनों चक्राकार होकर ब्रह्माण्डों की तरह घूमा करती हैं। इसलिये भाषा कोष में भी काल-चक्र शब्द का प्रयोग आता है।

अंह के साथ अन्यतत्त्वों का प्रकट होना

यदि ब्रह्म को पुरुष रूप में देखा जाय, जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि उसे विराट् पुरुष कहते हैं, तो अहंकार के स्थान को हिरण्यगर्भ न कह-कर अन्तःकरण कह सकते हैं। ध्यान से देखा जाय तो "गर्भ" और "अन्तः" ये दोनों शब्द आन्तरिक केन्द्र भाव-प्रदर्शक (denominations of inner centralization) हैं। इसी अन्तःकारण में अहंकार के प्रकट होने पर मनुष्य अपनी-अपनी सृष्टि रचने लगता है और उस के लय कर लेने पर समाधिस्थ हो शान्त्यानन्द अनुभव करता है। अहंकार ही सब से प्रथम और मूल तत्त्व है जो सृष्टि का जन्मदाता है। इसलिये उसे महातत्त्व, महत्तत्त्व, अथवा महाकारण, आदि कारण, महा मूल कारण इत्यादि संज्ञाओं की उपाधि दी जाती है। *

यह महत्तत्त्व अकेला कुछ नहीं कर सकता। वह केवल सामर्थ्य की स्फूर्ति को प्रकट करने वाला है। अहं ब्रह्मास्मि ("मैं ही ब्रह्म हूँ") की हुंकार लेकर वह सोये हुए को उठाकर बिठा देने वाला है। तब फिर ब्रह्म के समान समर्थ ईश्वर अपनी समर्थता प्रकट करने के लिये इतना अधिक उतावला हो जाता और छटपट मचाता है कि उसे क्षणांश भी चैन नहीं पड़ती। पूर्ण समर्थ में तो शान्ति आप ही आप आ जाती है परन्तु जो पूर्ण समर्थ के समान बनता हो उस में शान्ति कहाँ! वह तो अपनी कार्य-विलक्षणता द्वारा यह बताना चाहता है कि देखो मैं कितना सामर्थ्यवान् हूँ। " मैं पूर्ण समर्थ के समान हूँ" बस इसी भाव में पूर्वा-

---

* 'हिरण्यगर्भ' और 'अन्तःकरण' तथा उनमें स्थित स्फूर्ति महत्तत्त्व और 'अहंकार' उन लोगों की दृष्टि में जो ब्रह्म और जीव में अभेद मानते हैं, पर्यायवाची हैं। परन्तु जो उनमें भेद माननेवाले द्वैतवादी हैं वे ब्रह्म की केन्द्रित शक्ति को 'हिरण्यगर्भ' और उसमें स्थित स्फूर्ति को 'महत्तत्व' कहते हैं और जीव की केन्द्रित शक्ति को 'अन्तःकरण' तथा उसमें स्थित स्फूर्ति को 'अहंकार' कहते हैं।

नुसार अविद्या का वास है। इसलिये जहाँ अहंकार है वहाँ अविद्या स्वाभाविक है। जो स्वभाव है वही प्रकृति है। इसलिये अविद्या ही प्रकृति है अथवा प्रकृति ही अविद्या है,। अतः अहंकार के साथ ही अविद्या अर्थात् प्रकृति का दूसरा तत्त्व रहता है। इसी कारण कोई-कोई प्रकृति ही को सृष्टि का मूल कारण—आदि कारण मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ प्रकृति है वहाँ अहं अवश्य रहता है। मतमतान्तरों के प्रतिपादन के लिये यह झगड़े वाली बात ठीक है। परन्तु सीधे सच्चे धर्म-जिज्ञासु के लिये इस में कोई झगड़े की बात नहीं है। अहं भी तत्त्व है और अविद्या (प्रकृति) भी तत्त्व है। दोनों मित्र एक साथ रहते हैं। कोई किसी का जन्मदाता नहीं है। दोनों को सृष्टि के मूल कारण मान लेने में कोई हानि भी नहीं है। यही अविद्या (प्रकृति) है जिसे लोग माया भी कहते हैं। ईश्वर की चिर-संगिनी माया है। यदि ईश्वर पुरुष है तो माया नारी भी कही जाती है। यद्यपि माया और अविद्या दोनों प्रकृति के ही नाम हैं तथापि ईश्वर और जीव के भेद से माया शब्द का प्रयोग ईश्वर संज्ञा के साथ और अविद्या शब्द का जीव संज्ञा के साथ किया जाता है।

"मैं हूँ" और "समर्थ भी हूँ" इन भावों के आने पर भी जब तक यह इच्छा नहीं होती कि "मैं अपनी शक्ति को प्रकट करूँगा" तब तक कार्य-चक्र नहीं चलता। जब तक कोई पहलवान कुश्ती लड़ने की इच्छा नहीं करेगा तब तक यद्यपि वह यह जानता है कि मुझ में कुश्ती लड़ने की शक्ति है, अपनी कुश्ती का हुनर नहीं दिखा सकता। ईश्वर की समर्थता, जो उसमें "अहं ब्रह्मास्मि" के कहने से आती है बिना इच्छा के प्रकट नहीं होती। अथवा सृष्टि का कार्य उस समय तक प्रारम्भ नहीं होता जब तक कि उसे प्रकट करने की इच्छा न हो। इच्छा होना या विचार का आना मन का व्यापार है। मन ही तीसरा तत्त्व है। मन के बिना ईश्वर और माया पङ्गु हैं। यह उनका वाहन है। यदि मन कहीं न हिले डुले, कहीं न जाय, अथवा एक ही स्थान पर केन्द्रित कर लिया जाय तो माया (प्रकृति या अविद्या) फटफटाती रह जाती है। इसलिये संसार के सभी धर्म-शास्त्रों ने मन को वश में करने पर जोर दिया है

और उसके लिये साधन भी बताये हैं। आर्यावर्त में प्राचीनकाल से मन और प्राण को वश में करने की विद्या का नाम योग-विद्या चला आ रहा है।

मन प्रथम तत्त्व है या अहंकार, मन से अहंकार होता है या कि अहंकार से मन, इसमें मत-भेद है। कोई मन को महत् मानते हैं और कोई अहंकार को। हमारी समझ के मुताबिक वे मनोविज्ञानी, जो जड़वादी हैं अर्थात् जिन के मत के अनुसार क्रम-क्रम से जड़ से चैतन्य विकसित होता है, मन को महत् मानते हैं। उनका कहना है कि मन पूर्वानुभवों का समूह मात्र है। क्रम-क्रम से एकत्र किया गया आभास-समुच्चय हजारों वर्ष पर्यन्त अन्त में जीवधारियों के शरीर में मन बनकर रहने लगता है। जब मन विकसित हो जाता है तब अहंकार की भावना जागरित होती है।

इसके विपरीत जो चैतन्यवादी हैं अर्थात् जो यह मानते हैं कि सारी सृष्टि में चैतन्य (ब्रह्म) का साम्राज्य है, वे ब्रह्म में चेतनता के तत्त्वों का निरूपण करते हैं। उनके कहने के अनुसार ये सब तत्त्व ब्रह्म में रहने पर भी उसमें विलीन रहते हैं। उनका ब्रह्म निरूपण, जैसा कि हम पहिले कह आये हैं, मनुष्य के स्वभाव वा गुणों के ज्ञान के आधार पर अथवा मनुष्य के अनुरूप ही रहता है। इसलिये उनके मतानुसार अहं ही सर्वप्रथम तत्त्व है। अहं से अविद्या और अविद्या से मन का प्रादुर्भाव होता है। लेकिन हमारे राम को सीधी-सादी बात यह समझ में आती है कि जिस प्रकार अहं की चिरसङ्गिनी अविद्या है उसी प्रकार मन भी उसका साथ नहीं छोड़ता। तीनों साथी हैं। कोई किसी का जन्मदाता नहीं है। उनका सुषुप्त और जागृत होने का क्रम ही केवल एक के बाद एक का होता है। यदि मन विचार-शून्य होकर साथ छोड़ दे तो अविद्या निष्क्रिय हो आप ही आप मृतप्राय हो जायगी। अविद्या के मिट जाने से अहं शेष रह जायगा। जब अहं शेषासीन हो जायगा तो वह ब्रह्म से बाहर रहकर ही क्या करेगा ? वह अपना अस्तित्व मिटाकर आप ही आप ब्रह्म में तल्लीन हो जायगा। जाग्रत होने का क्रम हम अभी ऊपर बता ही रहे थे कि बीच में यह मतभेद की बात आ पड़ी। विकासवादियों की बात ही ले ली जाय तो यह प्रश्न उठता है कि यदि बाहरी अनुभव भीतर आकर अंकित होते हैं

तो अंकित करने का काम किस शक्ति का है ? यह वही अहं शक्ति है जो अव्यक्त ब्रह्म से व्यक्त हुई है। अनुभव प्राप्त करने का कार्य प्रारम्भ कराने वाला भी कोई दूसरा ही होना चाहिये क्योंकि मन तो प्रारम्भ में रहता ही नहीं। जब तक 'मैं' नहीं है तब तक विकास भी किस चीज का होगा ?

जिन्होंने अपनी-अपनी रीत्यानुसार मन को विश्वव्यापी माना है वे यथार्थ में हमारी उक्त उक्ति की ही पुष्टि करते हैं। न्याय दार्शनिक अणु ही को मन मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में जगत् परमाणुओं का बना है। सांख्य दार्शनिक विश्व में विश्व-मन का आरोपण करते हैं। वेदान्ती मन को सारे शरीर में भिदा हुआ बताते हैं। इन सबसे यही बात सिद्ध होती है कि मन उसी चेतना शक्ति (ब्रह्म) का एक अङ्ग है जो सर्वव्याप्त है। वह सोया हुआ रहता है। जब तक अहं के साथ अविद्या नहीं जागती तब तक मन को जगाने वाला कोई नहीं है।

मन क्या है इस पर मतभेद होने के कारण मन का स्थान कहाँ है, इस पर मतभेद होना भी स्वाभाविक है। मन विश्वव्यापी है जब इस दृष्टि से देखा जाता है तब उसका निवास सर्वत्र मानना ही पड़ेगा। परन्तु जब उसका स्थान मनुष्य शरीर में निर्धारित किया जाता है तब मत-भिन्नता आ जाती है। कोई उसे मस्तिष्क के पिछले भाग में बताते हैं, कोई उसके अग्र भाग में, कोई उसका निवास हृदय में बताते हैं तो कोई भ्रकुटियों के बीच। मनुष्य के शरीर की दृष्टि से ही देखा जाय तो भी हमारी समझ में उसे किसी एक स्थान वासी बताना तर्क-विरुद्ध होगा। अहं और प्रकृति इन दोनों तत्त्वों के सदृश मन भी सारे शरीर में व्याप्त रहता है। उसकी क्रिया-शीलता ही परिस्थितियों के अनुकूल उसका केन्द्रस्थान निश्चित करती है। एक प्रकार से वह मोर्चा ढूँढ़ा करता है और जगह-जगह पर अपनी सेना के खेमे लगाता है। कभी शरीर को छोड़ बाहर दौड़ जाता और फिर तत्काल ही अथवा कुछ काल पर्यन्त वापिस आ जाता है। कभी शरीरान्तर्गत मस्तिष्क में रहकर अधिपति की हैसियत से इन्द्रियों को परवाने भेजता और कभी आराम लेने के लिये हृदय में आ जाता है।

मन अहं रूपी ईश्वर का सेनापति होकर सारे संसार का कार्य करता है। जिस क्षेत्र में उसे कार्य सौंपा गया है उसी के अनुसार अधीनस्थ सेनाएँ रखी गई हैं। सारे सृष्टि क्षेत्र के लिए पंचमहाभूतों की एक सेना है। इस सेना के अतिरिक्त मनुष्य-क्षेत्र में कार्य करने के लिये पंचज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों और पंच प्राणों की तीन सेनायें और दी गई हैं। अन्य जड़ और चैतन्य क्षेत्रों में जब काम किया जाता है तब उक्त सेनाओं के सैनिक ही कम बढ़ करके भेजे जाते हैं। भावार्थ यह है कि सभी जीवधारियों में पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों प्राण नहीं होते। विकास क्रम के अनुसार मनुष्यों से निम्न श्रेणी के जीवधारियों में उक्त तीनों प्रकार के तत्त्वों की संख्या न्यून रहती है। इसलिये मन उन्हीं न्यून तत्त्वों में रत होकर अपना व्यापार जारी रखता है। निज कार्य में संलग्नता के कारण कभी-कभी उसका अस्तित्व उन सैनिकों से भिन्न नहीं माना जाता जिनका सेनापति होकर वह कार्य करता है। जैसे भगवद्गीता में उसे इन्द्रियों के साथ इन्द्रिय कहा है यथा "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" (अ० १५—७), 'इन्द्रियाणि दशैकं' (अ० १३—५) तथा 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' (अ० १०—२२) इसी प्रकार पंचभूतों के साथ भी इसका नाम जोड़ा गया है जैसा कि नीचे लिखे श्लोक से विदित होगा।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

(श्री भगवद्गीता अ० ७—४)

अर्थात् "पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह मेरी आठ प्रकार की प्रकृति है*" करणों में भी मन उपस्थित रहता है; यथा 'करणं त्रयोदशविधमवान्तर भेदात्' (सांख्य अ० २ सू० ३८) अर्थात् अवान्तर भेद से तेरह प्रकार के करण होते हैं। यथा १० इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार।

---

*देखो स्वामी शिवानन्द सरस्वती कृत "मन और उसका निग्रह" प्रथम भाग पृष्ठ ४। पाठक यह स्मरण रखें कि स्वामी शिवानन्द सरस्वती और पूर्व में उल्लिखित श्री शिवानन्द ब्रह्मचारी दो भिन्न व्यक्ति हैं।

मन का स्वभाव या गुण मेघों में चमकती हुई बिजली से भी अधिक चंचल और क्षणिक होता है। यदि उसमें इतनी स्फूर्ति न होती तो ईश्वर सृष्टि के सृजन, पालन और लय के कार्य का भार किसे सौंपता ? परन्तु महत्व पाकर चंचलता सदैव अनर्थकारी होती है। जब चंचल मन का चंचला प्रकृति (अविद्या) से योग हो जाता है तो वे सारे संसार में दुख ही दुख उत्पन्न कर डालते हैं। संसार को दुखी देखकर ईश्वर को पश्चात्ताप करना पड़ता है और दुखी संसार को सुखी बनाने का उपाय ढूंढ़ना पड़ता है। अतः दुःख को सुख में परिणत करने के लिये बुद्धितत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। कोई इसे स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं और कोई उसे मन का ही दूसरा रूप कहते हैं। हमें यह दूसरा मत ही मान्य है। किसी एक ऐसे मनुष्य की कल्पना कीजिये जो बिना सोचे-विचारे सभी प्रकार की उन चीजों को जो उसे दिख जावें, ढो-ढोकर एक मिश्रित ढेर लगाने में किसी दिमाग-चले के समान दिन-रात व्यस्त रहता हो। यही काम मन का है।

जहाँ तक उसकी पहुँच है वहाँ तक किसी बात को छोड़ना ही नहीं जानता, खट्टा हो या मीठा, स्वर्ग हो या नरक, सभी द्वन्द्व और विषयों का स्वाद लेने अथवा आनन्द उठाने के लिये उसकी जीभ लपलपाती रहती है। दुनियाँ के जितने भले-बुरे, धर्म-अधर्म, पदार्थ और कार्य होते हैं उससे एक भी नहीं छूट पाते। रात दिन ढोने-ढाने में, संकल्प-विकल्प में लगा रहता है। इस क्रिया के करने में जब-जब उसे कटु परिणाम भोगना पड़ता है तब तब भविष्य में वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करने लगता है। परन्तु उसकी चंचलता एवं पूर्वाभ्यास के कारण वह उसे एकबारगी नहीं त्याग पाता। इस प्रकार अनेक बार वह वही भूल करता है और हर बार उसे उसके कटु परिणाम भोगने पड़ते हैं तथा हर बार ही उससे दूर रहने का उसे विचार आता है। बस इसी क्रम से कटु और मधुर परिणाम दोनों का अनुभव अङ्कित होते-होते मन ही बुद्धि रूप हो धीरे-धीरे प्रकट होता जाता है। यही कारण है कि किसी प्राणी में बुद्धि का विकास बिलकुल ही नहीं दिखाई देता और किसी में कम, किसी में ज्यादा, यहाँ तक कि मनुष्य-मनुष्य में भिन्नता रहती

है।* इस तरह अनुभव द्वारा प्रकटित बुद्धि सहस्रों वर्षों में विकसित होते-होते इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसे विवेक कहने लगते हैं। परिणाम स्वरूप वह स्वयं अपने प्रकाश से मन के भावी कृत्यों और विचारों का निरीक्षण कर उनके शुभाशुभ लक्षणों का सन्देश मन के पास पहिले ही से भेजकर शुभ कार्य के लिये प्रोत्साहन देती और अशुभ के लिये चेतावनी। इस निर्णयात्मक बुद्धि का ही नाम विवेक है। जो मन चंचल और अभिमानी है उसे ठीक रास्ते पर लाने का यही उत्तम उपाय ईश्वर ने सोचा कि वह अपने हाथ अपना पैर काटे और स्वयं अनुभव कर उसे छोड़े, क्योंकि चंचल और अभिमानी कब दूसरों का अंकुश सह सकते हैं?

इस निश्चयात्मक शक्ति (बुद्धि) के प्राप्त करने के दौरान में एक कोष और तैयार होता जाता है। यह कोष है निष्कर्ष या सारतत्त्व की पिटारी, सार का भण्डार अथवा सत्व का स्थान। एक विषय पर एक ही प्रकार के अनेकानेक अनुभवों का जो सिद्धान्त-सार निकाला जाय वही संस्कार है। इस तरह कई एक विषयों पर कई एक प्रकार के संस्कार इस कोष में एकत्र होते जाते हैं। इसी कोष का नाम चित्तत्व है। इसमें जीवन के निर्धारित नियम अथवा सिद्धान्त, धारणायें, संस्कार या अनुसन्धान अंकित होते हैं। जब बुद्धि मन का विकसित रूप माना गया है तो चित्त को भी उसी का रूप मानना चाहिये, क्योंकि बुद्धि द्वारा प्राप्त अनुभवों का ही निचोड़ उसमें भरता है। इस दृष्टि से चित्त भी इन्द्रिय रूप ही है जैसा कि 'यत्चित्तेन्द्रिय क्रियः' (गीता अ० ६ —१२) से विदित होता है।

यद्यपि अहंकार ही सृष्टि रूप होकर प्रकट होता है, जैसा कि हम इसी अध्याय के पूर्व में देख चुके हैं, तथापि मन की सहचारिणी अविद्या (प्रकृति) के चक्कर में फँसने के कारण सृष्ट्य उस अहंकार को भूल जाता है। जीव (सृष्ट्य) अपने मूल जन्मदाता 'अहं' से अविद्या (माया) के वशीभूत होकर इतनी दूर

---

*यहाँ पुनर्जन्म का सिद्धान्त है। पुनर्जन्म विकास-वाद से सिद्ध होता है।

भटक पड़ता है कि उसको अपना वही अहं स्वरूप पहचानने के लिये जन्म जन्मान्तरों की आवश्यकता होती है। यह अहं स्वरूप का पहचानना तभी सम्भव हो सकता है जब बुद्धि विकसित होकर इतनी प्रबल हो जाय कि वह मन और अविद्या के संयोग द्वारा बीच में खड़ी की गई दीवार को तोड़ सके, और योगादि क्रियाओं द्वारा निर्मल या शुद्ध किये गये चित्त में निर्मल संस्कार-अनुसन्धानादि रूपी दीप के प्रकाश में उस अहं को देख सके। इस प्रकार बीच की कृत्रिम ओट मिट जाने से अहं रूपी सूर्य का तेजोमय प्रकाश इतना चमक उठता है कि अन्य सब ज्योतियाँ मलीन हो जातीं और पूर्वोक्त सब तत्त्व उसी में विलीन या लय हो जाते हैं। उस समय जीवात्मा और अहं ब्रह्मास्मि रूप परमात्मा दोनों एक हो जाते हैं। इसी अवस्था का नाम अहं तत्त्व या अहंकार है। इस अवस्था के प्राप्त करने पर "मैं ही वह हूँ" वाला भाव जागरित होता तथा यथार्थ शान्तियुक्त आनन्द मिलता है। यही अहंकार प्रथम और अन्तिम तत्त्व है। इसी से सृष्टि-चक्र प्रारम्भ होता है और घूम घाम कर अन्त में इसी पर आ जाना होता है। भूली हुई इस स्थिति को प्राप्त करने का नाम ही मुक्ति है। इसे प्राप्त करने का पात्र इस पृथ्वी पर मनुष्य वर्ग ही बन सकता है, क्योंकि उसी में बुद्धि का पूर्ण विकास हो पाता है। बुद्धि को पूर्ण विकसित करने के लिए मनुष्य को भी अनेक बार जन्म लेना पड़ता है तब कहीं वह मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है।

अहं से निकला हुआ और पूर्वोक्त तत्वों का बना हुआ यह सृष्टिचक्र ही ईश्वर रूप है जिसमें जीव उस समय तक घूमा करता है जब तक कि वह मुक्तावस्था को प्राप्त नहीं कर लेता। यह चक्र संकेत मात्र के लिए निम्न प्रकार से बताया जाता है।

परन्तु स्मरण रहे कि पूर्वोक्त सभी तत्त्व अहंकार ही में विद्यमान रहते हैं। समयानुकूल वे एक दूसरे से भिदे हुए विकसित होते जाते हैं। किसी एक खास समय या स्थान पर यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ अमुक प्रकार का तत्त्व है, अमुक प्रकार का नहीं है। जिस प्रकार बालक से वृद्ध होने की क्रिया अदृश्य रूप से जारी रहती है उसी प्रकार इन तत्त्वों का विकास होता रहता है। किसी काल-विभाग (Period of Time) में एक प्रकार की अवस्था की प्रधानता रहती है तो किसी में दूसरे प्रकार की, जैसे मनुष्य में बाल्यावस्था, कौमार, युवावस्था इत्यादि।

ऊपर जो चक्र हमने खींचा है वह केवल एक मुँदरी के समान है। उसमें न तो समस्त तत्त्वों का परस्पर तारतम्य दिखता है और न उनका अहं स्थान पर केन्द्रित होना। उससे यह भी विदित नहीं होता कि अहं कहाँ से और कैसे आया। इसी प्रकार की न्यूनताओं का विचार करके धर्म-विज्ञों ने शान्त सरोवर में निकले हुए कमल के फूल की कल्पना की है जिस के द्वारा ब्रह्म, ईश्वर और सृष्टि के सम्मिलित भाव को प्रदर्शित करना उचित समझा है। इस उपमान में उपमेय के अधिक से अधिक प्रधान गुण व्यक्त किये जा सकते हैं। यों तो प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह ईश्वर को जिस रूप में उसे आनन्द आवे उस रूप में देखे, परन्तु विद्या या विज्ञान के हर एक क्षेत्र में कुछ ऐसे शब्दों का परम्परा से उपयोग होता चला आता है कि उन्हीं के बोलने-पढ़ने से भाव-प्रदर्शन करने और समझने में सरलता होती है। इसीलिये सहस्रों वर्षों से प्रच-लित उपमान, पद्म को ही लेकर ब्रह्म-ईश्वर-सृष्टि रूपी भाव प्रदर्शित करना उपयुक्त है।

एक अगाध, असीम, नील वर्ण का सर्वत्र शान्तिमय जल से परिपूर्ण सरोवर है। इसी में ब्रह्म की कल्पना है। इसकी अविचलित शान्ति में सजीवता लिये शून्यता है। यही सजीवता उसमें शेष (बाकी) है जिसकी व्यापकता ही वह (ब्रह्म) है। इसी शेष पर वह आसीन है या यों समझिये कि इसी की व्या-पकता की छत्र छाया में वह वास कर रहा है। कुछ काल पर्यन्त इस जल पर एक कमल का फूल प्रकट होकर क्रीड़ा करने लगता है। कमल के इस प्रकार

के स्वरूप का आन्तरिक स्वरूप जल के अन्दर भी है, जो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह है उसका नाल। पर वह नाल भी कहाँ से आया? नाल रूप में प्रकट होने के पूर्व उसी जल में वह व्याप्त था। पहले कहीं कमल का नामो निशान नहीं था, फिर समय पाकर वह जल ही में आप ही आप पैदा हो गया। इस तरह अहंकार रूपी तत्त्व की ब्रह्म में तल्लीनता बताने के लिये कमल उपमान उपयुक्त समझा गया है। कमल फूल का केन्द्र वहाँ हैं जहाँ वह नाल से जुड़ता है। उसी केन्द्र का जल के ऊपर आकर प्रकट होना मानो अहंकार का प्रकट होना है। फिर उस केन्द्र से भिन्न-भिन्न पंखुरीयाँ किस प्रकार जुड़ी हुई हैं देखिये। जिस प्रकार पंखुरी केन्द्र से भिन्न नहीं है और वे परस्पर एक दूसरे से अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार अहं में समस्त अन्य तत्त्व केन्द्रित हैं और वे आपस में भी एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। यह कमल का फूल चक्राकार है। यही सृष्टि का चक्र है जो अपने से सम्बन्धित होते हुए भी उससे भिन्न है। नाम ही ईश्वर रूप अहंकार है। इसीलिये ईश्वर को "पद्मनाभ" कहते हैं। यही भाव मनुष्य की नाभि के द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है। वह भी कमलाकार है और उसी से मनुष्य शरीर की नली आदि जुड़ी रहती हैं। कमल के नाल और नाभ के समान माता के गर्भ में बालक भी प्रकट होता है और उससे सम्बन्धित रहता है।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश

पूर्वोक्त विवेचन से यह ज्ञात हुआ कि ब्रह्म से ईश्वर और ईश्वर से तत्त्व-मय सृष्टि उत्पन्न होती है। सृष्टि त्रिभावात्मक और त्रिक्रियात्मक है। उसमें तीन क्रियाओं का क्रम चलता रहता है, जिन्हें कई एक भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकाशित करते हैं; यथा सृजन, पालन और संहार; प्रारम्भ, मध्य और अन्त, प्रकट, स्थिति और लय; जन्म, जीवन और मरण इत्यादि। इन तीनों क्रियाओं का अधिष्ठाता ईश्वर है। परन्तु इन तीन क्रियाओं में से प्रत्येक में ईश्वर का एक-एक रूप अलग-अलग अधिष्ठित किया जाता है। जिस क्रम से क्रियाओं

के नाम बताये हैं उसी क्रम के अनुसार ईश्वर के उक्त तीन रूप ये हैं—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इन तीनों को त्रिदेव भी कहते हैं। प्रकट करने या जन्म देने का कार्य ब्रह्मा का है। जन्म हुआ कि विष्णु ने चार्ज लिया और अन्त काल तक जीव की देख-भाल कर पालन-पोषण आदि किया। तत्पश्चात् नाश, लय, मरण या संहार का कार्य-भार शिव के सुपुर्द कर दिया जाता है। मनुष्य ने अपने कार्य-विभागों के अनुरूप ही ईश्वर के कार्य-विभागों की कल्पना की है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उक्त कल्पना-मय भाव के प्रदर्शक हैं।

त्रिभावात्मक ईश्वर-स्वरूप चित्रकारों और मूर्तिकारों ने त्रिमुख बनाकर बताया है। तब फिर क्या रावण दशमुख होने के कारण ईश्वर से बड़ा था? नहीं, वे दोनों दो भिन्न भावों के प्रदर्शक हैं। एक में दसों इन्द्रियों द्वारा प्राप्त की गयी रजोगुण युक्त सांसारिक विभूति है, तो दूसरे में सृष्टि सम्बन्धी उपर्युक्त स्वाभाविक क्रियाओं का विभुत्व व्यक्त है। अहं स्फूर्ति प्रकट होने पर जो ईश्वर-संज्ञा होती है उसकी चिरसंगिनी प्रकृति का सम्बन्ध ईश्वर के साथ पुरुष-नारी का माना गया है। जब ईश्वर त्रिरूप से देखा जाने लगा तो प्रकृति (माया) भी त्रिरूपिणी होनी चाहिये। यही कारण है कि उक्त त्रिदेव सपत्नीक वर्णित होते हैं। ब्रह्म का काम सृजन का है। सृजन की इच्छा होते भी सृजन का कार्य बिना बुद्धि की सहायता के होना असम्भव है। अ की इच्छा हुई कि वह वायुयान में उड़े। वायुयान में उड़ने की शक्ति आने के पूर्व उसे आवश्यकता पड़ी बुद्धि की, जिसने अपना योग देकर वायुयान बनवाया। यह बुद्धि है सरस्वती देवी। अतः सृजन का कार्य-भार चलाने वाले देव ब्रह्मा का सम्बन्ध सरस्वती से स्थापित किया गया। सृजन होने के बाद सृष्ट्य कुछ काल तक संसार में कायम रहता है। उसका लालन-पालन, उसका उपभोग तथा उसके द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य आदि का भार विष्णु को सौंपा है। इस काल को ब्रह्मचर्य के बाद का गार्हस्थ्य जीवन काल ही जानिये। उसका यथाविधि पूर्ण उपभोग और ऐश्वर्यमय जीवन बिना पत्नी के प्राप्त नहीं हो सकता। श्री, कान्ता, लक्ष्मी आदि उपाधि वाली कन्या को बरे बिना विष्णु का न तो लालन-पालन, देख-

भाल आदि का काम चल सकता था और न वह उसका उपभोग कर ऐश्वर्य आदि ही पा सकता था। क्या कोई करोड़पति होने पर भी बिना पत्नी के सुख-ऐश्वर्य-भोग कर सकता है? सृष्टि की कान्ति ही लक्ष्मी है। कितनी सुन्दरता और लावण्य है उसमें!! इसी में विष्णु देव की पत्नी लक्ष्मी की कल्पना है। जीवन काल में कोई कितना ही ऐश्वर्य क्यों न भोग ले आखिर उसका अन्त आता ही है।

'शिव'-रूप का रहस्य

इसी अन्तिम क्रिया का, जिसे मरण, नाशादि कहते हैं, अधिपति शिव कहाता है। कितना आश्चर्य है कि मरण-नाशादि ऐसे घृणित जिसके नित्य के कृत्य हों, जो अघोरी भयंकर रूप धारण कर वक्षस्थल पर नर-मुण्ड माला पहिन, ग्रीवा में साँप लपेटे हो और जिसके अङ्ग पर भस्म और मुञ्ज की लँगोटी के अतिरिक्त और कुछ न हो वही रुद्र-रूप शिव महेश (स्वामियों में श्रेष्ठ) या महादेव (देवताओं में सब से महान्) कहा जावे! मनुष्य और देवताओं को जिसका स्वरूप डरावना लगता हो उसी शिव को उनका कल्याणकारी कहा जाना, कैसा आश्चर्य है! क्या कारण है कि जिसे देखकर हम दूर भागते हैं वही शान्तिमय सुख एवं मुक्ति का देने वाला माना जाता है? तुलसीदास जी ऐसे राम के अनन्य भक्त भी अपने इष्टदेव राम के मुखारविन्द से ही "शिव द्रोही मम दास कहावे, सो नर मोहि सपने नहिं भावे" कहलवा कर क्यों इस रुद्र का महत्व प्रकट करते हैं? इसमें गूढ़ रहस्य है। मरण, नाशादि क्रियायें अविद्या-वश भय-प्रद होती हैं। जीवन-तत्त्व-ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण उनसे हम डरते हैं, यथार्थ में वे केवल नाम और रूप का परिवर्तन कर देते हैं जैसा कि हम पहिले देख चुके हैं। वह परिवर्तन ही हमारे विकास का साधन है, जो मुक्ति तक हमें ले जा सकता है, यह भी कहा जा चुका है। जो रोगी को नीरोगी करे वह भय-प्रद क्रियाओं के द्वारा रोग-मुक्त करने वाले सर्जन या डाक्टर के समान है। इसी तरह मरण-नाशादि क्रियायें हितैषी और कल्याण-कारी हैं। इसलिये उनमें अधिष्ठित देव भी कल्याणकारी होना ही चाहिये।

जो दुख-मूल अविद्या को जड़ से खोदकर निकाल फेंक देने वाला हो, अथवा प्रकृति को भस्म कर देने वाला हो वही कल्याणकारी हो सकता है, वही सुख शान्ति देने वाला हो सकता है। वह तभी सम्भव है जब अपने आप को परमात्मा में लय करने की शक्ति उसमें आ जावे। यह शक्ति बिना विषय-विराग के प्राप्त नहीं हो सकती। जहाँ विषय-विराग है वहीं ध्यान और लय-स्थिति है। लय-स्थिति में चाहे सर्प लिपट जावें या शेर आ जाय किसी बात का ख्याल नहीं रह जाता। लयावस्था में त्याग असीम पर पहुँच जाता है। पग-पग पर डसने वाले कामादि विषयों में जो अनासक्त हो, त्याग की जो मूर्ति हो, तथा पूर्ण ध्यानावस्था में लय होकर जो योगियों का योगिराज हो उसी में शिव-कल्पना है। सृष्टि में रहते हुए जो उससे निर्लिप्त रहे, विषय-शत्रुओं से घिरे रहने पर भी जो उन पर विजयी हो, भोग-विलासादि की सामग्री प्रचुर मात्रा में होने पर भी जो उसे त्याग सके वही कल्याणकारी, आनन्द देने वाला, शिव है। कितना भोलापन है उस मूर्ति में जो अविद्या-जन्य दुनियाँ की खटपट से विरक्त है। सम्पूर्ण भोलेपन की कल्पना में इसीलिये शिव का अधिष्ठान किया जाता है, जिसके कारण उसे भोलानाथ संज्ञा दी जाती है। बिना शिव रूपी उक्त स्थिति को प्राप्त किये मनुष्य सुखानन्द नहीं पा सका, इसीलिये उसका गुणगान ऐश्वर्य-भोगी विष्णु भी अपने मुख से बार-बार करते हैं। परन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के पूर्व अविद्या रूपी प्रकृति को अपने आप में लीन करने की आवश्यकता पड़ती है। जब तक पुरुष और पत्नी सम-स्वभाव वाले एक रूप न हो जांय तब तक सत्यानन्द का अनुभव नहीं हो सकता। राजा दक्ष और उसका यज्ञ करना, यज्ञ में शिव का भाग न होना और इसलिये उनकी पत्नी सती का अपने पिता दक्षराज की यज्ञ-भूमि पर ही अपना शरीर त्यागना, सती का पुनः जन्म मय-तनया के रूप में होना और घोर तपस्या कर शिव को फिर से वरना, इस पौराणिक गाथा में कितना गहरा भाव है! न समझने के कारण लोग या तो उसे निरी गप्प समझ मज़ाक उड़ाते हैं या दिल मसोस कर धार्मिक बात होने के सबब मान लेते हैं। अनावश्यक विस्तार होने पर भी उक्त गाथा के भाव को

जैसा हम समझ सके हैं, यहाँ संक्षिप्त में इसलिये देना जरूरी समझा गया है कि एक ओर तो ब्रह्मा-सरस्वती, विष्णु-लक्ष्मी के समान शिव-पार्वती का सम्बन्ध प्रकट हो और दूसरी ओर पौराणिक गाथाओं के गूढ़ार्थ पर विचारने की ओर रुचि बढ़े।

यज्ञ करना वैदिक धर्म है। कर्म-काण्डियों का मुख्य कर्म यज्ञ माना गया है। कर्म करने में इच्छा प्रधान रहती है। किसी कर्म के करने में राजसिक और किसी के करने में सात्विक इच्छा होती है। कोई ऐश्वर्य आदि प्राप्त करने के लिये किया जाता है तो कोई स्वर्गादि प्राप्त करने के लिये। प्रत्येक कर्म में फलासक्ति रहती है।

सती का रहस्य

राजसी ठाठ-बाट वाले राजा दक्ष के सती नाम की कन्या उत्पन्न हुई इसलिये उस पर अपने पिता के संस्कारों का प्रभाव किसी न किसी रूप और सीमा तक अवश्य रहा। यह सती विवाही गई त्यागमूर्ति शिव को जिनके पास इच्छा या फलासक्ति फटक नहीं पाती। सती प्रकृति का रूप है। जो प्रकृति आसक्तियुक्त संस्कारों से उत्पन्न हो, उन्हीं में पाली-पोषी जावे वह भला अनासक्त विषय-विरागी की पूर्ण सहयोगिनी कैसे बन सकती है ? कर्म और त्याग (वैराग्य) ये दोनों परस्पर विरोधात्मक हैं। इसीलिये कहा गया है कि कर्मासक्त राजा दक्ष ने वैराग्य-रूप शिव को यज्ञ में निमन्त्रण नहीं दिया। आसक्ति में अनासक्ति कैसे हो सकती है ? परन्तु सती रूपी प्रकृति अपने पूर्व संस्कारों के कारण शिव की पत्नी बनकर रहने पर भी समय पाकर विचलित हो उठी और पूर्व संस्कार रूपी अपने पिता के यज्ञ-कर्म में भाग लेने के लिये हठ करने लगी। यज्ञशाला में पहुँचने पर अपने अनासक्त पति का भाग न देखकर प्रायश्चित्त करने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वपरिचित संस्कार को फिर से तिरस्कृत किया और मय नाम पर्वत के घर उसकी पुत्री बनकर जन्म लिया। यहाँ भावार्थ यह है कि पूर्व संस्कारों का अत्यन्त प्रबल प्रभाव मनुष्य पर रहता है। प्रकृति, जो स्वभाव

से अविद्यामूला है, पूर्व संस्कारों की ओर बार-बार दौड़कर जाती है। हम चाहे जितने काल तक अच्छे से अच्छे संस्कारों में क्यों न रहें, समय आने पर विचलित हो उठते हैं चाहे वह विचलता क्षण भर के लिये ही क्यों न हो ! जो विचलित होने पर सम्हल-सम्हल जाता है वही बार-बार प्रयत्न करने पर अपने ब्रह्मानन्द ध्येय को पा सकता है। इसके लिये जब तक मनुष्य अपनी प्रकृति को जड़ पदार्थ के समान बिलकुल अचंचल नहीं बना लेता तब तक वह अपने ध्येय की प्राप्ति में असफल ही रहता है। पर्वत से अधिक जड़ पदार्थ कौन हो सकता है ? यही कारण है कि सती का पार्वती (पर्वत से पार्वती बना) बनकर पर्वत के घर जन्म लेना कहा गया है। जड़ स्वभाव फिर भी कभी विचलित न हो उठे इसलिये पार्वती ने और भी कठिन तपस्या की। तब कहीं वह जाकर अपने त्याग-मूर्ति लयावस्था वाले स्वामी की अर्धाङ्गिनी बनने की अधिकारिणी हो सकी। विषयों में सब से प्रबल विषय काम (इच्छा) जिसे विचलित करने में केवल असमर्थ ही न हुआ हो बल्कि उसकी दृष्टि मात्र से जलकर ख़ाक हो गया हो उस महायोगी की पत्नी वही हो सकती है जिसमें किसी प्रकार की आसक्ति (इच्छा या काम) न हो। जहाँ केवल अहं ही शेष हो और प्रकृति जड़ सी निर्जीव बन निष्क्रिय हो गई हो वहाँ ईश्वर का वही मूल रूप आ जाता है जिसके विषय में हम पूर्व में कह चुके हैं। इसी कारण वह ब्रह्मा एवं विष्णु द्वारा वन्दनीय कहा गया है। शिव और ब्रह्म दोनों मूल भाव सूचक शब्द हैं। शिव और ब्रह्म यथार्थतः एक ही बात है। ब्रह्म प्रारंभिक स्थिति है और शिव अन्तिम। परन्तु सृष्टि के चक्राकार होने के कारण दोनों स्थितियाँ एक विन्दु पर मिल जाती हैं। दोनों अहं स्वरूप हैं इसीलिये "शिवोऽहं" और "अहं ब्रह्मास्मि" कहा जाता है। जब "अहं ही शिव है" और "अहं ही ब्रह्म है" "तो शिव ही ब्रह्म है" यह स्वयंसिद्ध हो जाता है। परन्तु पाठक पहिले कही हुई यह बात न भूल जायँ कि अहंस्फुरण वाली ईश्वर-संज्ञा अहंविलीन वाली ब्रह्म-संज्ञा से भिन्न है।

अनेकेश्वरवाद

धर्मग्रन्थों के अनेक स्थलों पर आपको यह लिखा मिलता है कि ईश्वर

अनेक हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी अनेक हैं। उदाहरणार्थ श्वेताश्वतर उपनिषद् और लिङ्ग पुराण के निम्नाङ्कित पदों को देखिये:—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् (श्वेताश्वतर उप० ६, ७) इसका शब्दार्थ हुआ "ईश्वरों के उस परम महेश्वर को" अर्थात् तात्पर्य यह हुआ कि समस्त ईश्वरों का ईश्वर परमेश्वर है।

असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पिता महाः।
हरयश्चह्यसंख्याताः एक एव महेश्वरः॥

(लिङ्ग पुराण)

अर्थात् असंख्य रुद्र, असंख्य पितामह (ब्रह्मा) और असंख्य विष्णु हैं, परन्तु महेश्वर केवल एक ही है।

ग्रन्थकारों की इस प्रकार की बातों के पढ़ने से एकेश्वरवाद और अनेकेश्वरवाद की उलझन उठ खड़ी होती है। जिज्ञासु की बुद्धि दोनों के बीच में डांवाडोल होने लगती है। पुराणाङ्कित वचनों को वे निरे उड़ान छू समझ कर उनपर हँसी ठट्ठा उड़ाने लगते हैं और उपनिषदादि में अर्वाचीनता या क्षेपक की दुहाई देना प्रारम्भ कर देते हैं परन्तु जो सच्चा जिज्ञासु है वह बिना खोज किये किसी धर्म-सिद्धान्त के विरुद्ध ज़बान नहीं खोल सकता। लेखक की खिल्ली उड़ाने के पूर्व यह अवश्य देखना चाहिये कि उसने किस प्रसंग-वश कौन सी बात कही है। द्रष्टा के दृष्टिकोण ने अनुसार एक और अनेक का आभास होता है। ईश्वर एक है या अनेक, इसे समझने के लिये हमें सृष्टि के विस्तार का ज्ञान होना चाहिये। सृष्टि-विस्तार को जानने के लिये हमारे साधन सीमित हैं, इसलिये उन्हीं सीमित साधनों के द्वारा तथा तर्क और कल्पना के आधार पर उसका अन्दाज लगाया गया है। हमारे पूर्वज महर्षि और महामुनियों ने सृष्टि-विस्तार इतना अधिक माना है कि उसे करोड़ों ब्रह्माण्डों (ब्रह्म + अण्ड) में विभाजित किया है। एक एक ब्रह्माण्ड में असंख्य पिण्ड (तारागण) अथवा ग्रह-उपग्रह अपने अपने सूर्य के आसपास घूमा करते हैं। जिस सूर्य को हम देखते हैं वह केवल हमारे ब्रह्माण्ड का मध्यस्थ सूर्य

है। उसके चारों तरफ पृथ्वी, सोम आदि ग्रह अपने उपग्रहों सहित चक्कर लगाते रहते हैं। पृथ्वी से करोड़ों कोसों की दूरी पर उससे लाखों गुने बड़े बृहस्पति ऐसे कई एक ग्रह-उपग्रह हैं। सूर्य समेत इन समस्त असंख्य ग्रह-उपग्रहों के समूह को सौर मण्डल (Solar System) कहते हैं। इसी सौर मण्डल का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड या विश्व है। इस प्रकार के अनेक ब्रह्माण्ड हैं यह सुनकर आपको आश्चर्य होगा और सम्भवतः कूपमण्डूक के समान अखिल विश्व की विस्तीर्णता का विश्वास भी न करेंगे। हां, जब पाश्चात्य वैज्ञानिकों की छाप लग जाती है तो फौरन विश्वास कर लिया जाता है। अतः पाश्चात्य वैज्ञानिकों की सम्मतियों पर भी विचार कीजिये। प्रोफेसर एडिंग्टन (Eddington) कहते हैं कि "अब तक हम तीन सौ करोड़ तारा-सूर्यों का पता लगा सके हैं"। (सर ओलीवर लाज अपनी स्वरचित पुस्तक मेकिंग ऑव मैन (Making of Man) के १३७ वें पृष्ठ पर कहते हैं कि "हमारा सूर्य पृथ्वी से दस लाख गुना बड़ा है और ऐसे ऐसे भी तारा-सूर्य हैं जो हमारे सूर्य से भी दस लाख गुने बड़े हैं।... हम जानते है कि सूर्य पृथ्वी से नव करोड़ मील की दूरी पर है, परन्तु वैज्ञानिकों ने ऐसे-ऐसे तारा-सूर्यों का पता लगाया है जिनकी आलोक-रश्मि को पृथ्वी पर पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं। हम यह भी जानते हैं कि आलोक-रश्मि की गति प्रति सेकेण्ड एक लाख छियासी हज़ार मील है। जिस तारे से पृथ्वी पर आलोक पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं उसकी दूरी का क्या ठिकाना? वहाँ तो मनुष्यों द्वारा रची हुई सारी संख्याओं का अन्त हो जाता है क्योंकि उस दूरी की यदि गिनती की जाय तो ८२ के अंक पर १९ शून्य आते हैं। यह संख्या करोड़ को करोड़ गुना करने से भी बहुत अधिक है।"*

---

*गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' नामक मासिक पत्र के विशेष-अंक, "ईश्वराङ्क" में छपे हुए "ईश्वर और महेश्वर" शीर्षक लेख में से उद्धृत किया है—लेख के लेखक श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त एम०, ए०, एल-एल, बी०, वेदान्तरत्न हैं।

ऐकेश्वरवाद

सोचिये तो कितना आश्चर्यमय यह महान् विश्वों का समूह है। इसे जानने की किसे सामर्थ्य है! तभी तो ब्रह्मा, सरस्वती, वेदादि जो ज्ञान के भाण्डार माने जाते हैं, न इति न इति (नेति नेति) कहकर अवाक् रह जाते हैं। इन सब ब्रह्माण्डों में क्या क्या कार्य चलते है, कौन और कितने पदार्थ, जीवादि रहते और वे किस तरह अपनी दिनचर्या व्यतीत करते हैं यह सिवाय उस विभु के कौन जान सकता है? फिर भी मनुष्य ने विचार किया है कि जिस प्रकार हमारे ब्रह्माण्ड का कार्य-क्रम चलता है, उसी प्रकार से घट-बढ़ रूप में अन्य ब्रह्माण्डों का भी चलता होगा। जिस तरह हमारे ब्रह्माण्ड का कार्य चलाने के लिये ब्रह्मा, विष्णु शिव युक्त त्रिमूर्तिक ईश्वर का अधिष्ठान है उसी तरह प्रत्येक ब्रह्माण्डों का कार्य-भार दूसरे ईश्वरों को सौंपा गया होगा। यदि सर्व सृष्टि को एक महान देश मान लिया जाय तो समस्त ब्रह्माण्ड उस के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रान्त समझिये। प्रत्येक प्रान्त का कार्य-भार चलाने के लिये ईश्वर नामक गवर्नर रहता है। जो जितना बड़ा प्रान्त है अथवा जिस प्रान्त का जितना कठिन कार्य है उतनी ही अधिक शक्तियों वाला उस प्रान्त का गवर्नर रहता है। इसीलिये आप को यह लिखा मिलता है कि ईश्वर अनेक हैं तथा ब्रह्मा आदि असंख्य हैं। कहीं कहीं ब्रह्मा, शिव आदि को पाँच, छः, सात से लेकर सहस्रों मुख वाले कहकर उनकी महत्ता व्यक्त की गई है। यदि प्रत्येक ब्रह्माण्ड को एक एक देश मान लिया जाय और उनके अधिष्ठाता ईश्वरों को राजा, तो उन सब राजों का राजा चक्रवर्तीराजा कहा जायगा। हर ब्रह्माण्ड का अधिपति ईश्वर है तो उन सब के ऊपर ब्रह्माण्ड-समुच्चय का स्वामी परमेश्वर या महेश्वर कहाता है। यह परमेश्वर वही ब्रह्म है जिसके विषय में ऊपर कह आये हैं। इस के उदर में अगणित अण्ड और ब्रह्माण्ड हैं या यों कहिये कि उस का रोम-रोम एक एक अण्ड ब्रह्माण्ड है। इन सबों में वही तीन क्रियायें सृष्टि, स्थिति और लय जारी रहती हैं जिनके विषय में कहा जा चुका है। यही ईश्वर-रूप है।

इसलिये यथार्थ में एक ही त्रिक्रियात्मक ईश्वर समस्त अण्ड-ब्रह्माण्डों में है न कि अनेक। अनेकता केवल दो कारणों से बतायी जाती है। एक तो यह कि ब्रह्म की महत्ता विदित हो और दूसरा कारण यह है कि मनुष्य अपने तथा अपनी संस्थाओं आदि के अनुरूप ही अदृश्य एवं कठिन विषयों का साधारण जनता को ज्ञान कराने के अभिप्राय से कल्पना किया करता है।

जब उक्त ब्रह्माण्ड-समूह पर ध्यान जाता है तब अनेक धार्मिक ग्रन्थों में दी हुई अनेक कथाओं पर जो प्रत्यक्ष में कोरी गप्पें मालूम पड़ती हैं, विश्वास होता है। गीता के ११ वें अध्याय में भी यही बात मिलती है। अर्जुन को श्री कृष्ण भगवान् ने अपने शरीर के भीतर और बाहर सारे विश्व का दर्शन कराया।

'अनन्तं विश्वतो मुखम्', 'शशि-सूर्य नेत्रम्', 'बहुदंष्ट्रा करालं' इत्यादि इत्यादि कहकर महान् विश्व का दर्शन कराया गया है, जिसको देखकर अर्जुन व्यथित और भयभीत हो जाता है और फिर से भगवान् के सौम्य स्वरूप को देखने की इच्छा करने लगता है। मनुष्य-रूप ही सौम्य रूप कहा गया है (मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन)।

: ८ :

ईश्वर और अनीश्वर वाद

ईश्वर-सम्बन्धी तीन मत

ईश्वर के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही सब देशों में तीन मत रहते आये हैं। एक मत के अनुसार ईश्वर है ही नहीं। इस मत को नास्तिकवाद, निरीश्वरवाद या अनीश्वरवाद कहते हैं। अंग्रेजी में उसी का नाम एथीइज़्म (Atheism) है। दूसरे मतावलम्बी वे हैं जिनका कहना है कि ईश्वर है या नहीं, इसके विषय में जानना असम्भव है। इस मत को अज्ञात-वाद या अज्ञेय-वाद (Agnos ticism) कहते हैं। और तीसरा मत वह है जिसके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व ध्रुव सत्य है। विज्ञानी पुरुष उसे प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम या शब्द (अनुभवशील पूर्व पुरुषों के वचन) प्रमाणादि द्वारा अपने तर्क बल से सिद्ध करते हैं। उनका यह भी कहना है कि प्रत्येक प्रयत्नशील जिज्ञासु कभी, किसी काल में, उसके अस्तित्व का आत्मानुभव कर सकता है। वह जिज्ञासु उसकी आनन्दमय स्थिति का अनुभव कर लेने योग्य हो सकता है। इस मत का नाम है ईश्वर-वाद (Theism)। सुर और असुर, देव और दैत्य, भक्त और राक्षस इत्यादि विपरीत भावात्मक संज्ञायें बहुधा ईश्वर-वादियों और ईश्वर-प्रतिकूल-वादियों के लिये क्रम से प्रयुक्त की जाती हैं। परन्तु जिस प्रकार ईश्वर-वादी धर्म के अनुयायी असुर या दैत्य हो सकते हैं, उसी प्रकार निरीश्वर-वादी अथवा अज्ञात-वादी सुर या देव संज्ञा के अन्तर्गत आ सकते हैं, क्योंकि सुरासुर आदि केवल मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। किसी अमुक धर्म के मानने न मानने मात्र से कोई व्यक्ति सुर या असुर वृत्ति का नहीं हो जाता। धर्म-विशेष के नियम उपनियमादि मानसिक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में केवल सहायक होते हैं। दया और प्रेम युक्त समत्व-भाव को पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले ईसाई तथा बौद्ध धर्म के अभिमानी-अनुयायी महायुद्धों में

भाग लेकर जिस प्रकार खून की नदियाँ बहाते हैं उसे देखकर कौन कहेगा कि वे सुर-वृत्ति-प्रवर्तक अपने-अपने धर्मों के सच्चे प्रतिपालक हैं ?

ईश्वरवाद का जन्म सर्वप्रथम हुआ

यह स्पष्ट है कि ईश्वर-वाद निरीश्वर-वाद से पहले का है। सम्भव है कि वे दोनों समकालीन हों। परन्तु फिर भी निरीश्वर शब्द के प्रयोग से यही निष्कर्ष निकलता है कि उसके पूर्व ईश्वरात्मक भाव प्रचलित था तभी तो उसके खण्डन-स्वरूप निरीश्वर भाव उत्पन्न हुआ होगा। यही अज्ञात-वाद के विषय में भी कहा जा सकता है, क्योंकि निरीश्वर-वाद और अज्ञात-वाद दोनों नकारात्मक भाव हैं और ईश्वर-वाद सकारात्मक। "ईश्वर है" जब तक ये शब्द प्रकट नहीं हुए होंगे, तब तक "ईश्वर नहीं है" या "ईश्वर नहीं जाना जा सकता" इस प्रकार के शब्दों का जन्म नहीं हो सकता। जो जड़वादी या विकासवादी हैं अर्थात् जो यह कहते हैं कि जड़ता से क्रमशः चेतनता प्राप्त हुई, उनके मन में पूर्वोक्त कथन की सत्यता पर भ्रम उत्पन्न हो सकता है। परन्तु उन्हें यह समझना चाहिये कि अज्ञान वश किसी वस्तु-विशेष के अस्तित्व को न जानना एक बात है और उसको जान लेने पर अथवा ज्ञान आ जाने पर उसके अस्तित्व के विषय की तर्क आदि द्वारा पुष्टि करना दूसरी बात है। किसी विषय को जानकर उसका प्रतिपादन करना अथवा उसकी पुष्टि करना ही वाद कहा जाता है। अतः पहले ज्ञानियों ने ईश्वर-वाद का मण्डन किया होगा तभी तो विरोधियों ने उसका खण्डन करना प्रारम्भ किया होगा।

निरीश्वरवाद के कारण

जब ईश्वर-वाद पहले से विद्यमान था तो फिर क्या कारण है कि उसके विरुद्ध निरीश्वर-वाद और अज्ञात-वाद उठ खड़े हुए ? आप कहेंगे यह अपने अपने विश्वास की बात है। प्रत्यक्ष में तो बात यही माननी पड़ेगी, परन्तु यथार्थ में उसके अन्तर्गत भी रहस्य है जिसे बताने का हम यहाँ संक्षेप में प्रयत्न करते हैं।

श्रद्धा प्रायः उसी प्रकार अन्धी कही जा सकती है जिस प्रकार प्रेम। परन्तु वह कारण-रहित किसी प्रकार नहीं हो सकती। हृदय-स्थान से उसको बहाकर प्रकट करने वाला प्रारम्भ में कोई कारण अवश्य रहता है। इस कारण को जो जिस तरह से समझ लेता है अथवा इस कारण से जिसका जिस प्रकार नाता जुड़ जाता है, उसकी उसी के अनुसार उस पर श्रद्धा हो जाती है। तत्पश्चात् वह श्रद्धा या प्रेम इतना दृढ़ हो जाता है कि वह हटाये नहीं हटता। उक्त कारण के विषय में जब दूषण-अदूषण आदि का विचार न रहे और फिर भी उसमें श्रद्धा बनी रहे तब उसी को अन्ध श्रद्धा या अन्ध विश्वास भी कहते हैं। श्रद्धा की मूल भित्ति कल्पित हो सकती है और यथार्थ (सत्य) भी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उसका आधार अज्ञान और ज्ञान दोनों हो सकते हैं। अज्ञान और ज्ञान द्रष्टा की योग्यता पर निर्भर रहते हैं। चाहे जिस कारण से—ज्ञान से या अज्ञान से—एक बार मूलाधार बना कि फिर उसका मिटाना बड़ा कठिन हो जाता है। मिटाना तो दूर रहा प्रत्युत उसका बड़े जोरों से समर्थन किया जाने लगता है और अन्त में ऐसा समय आ जाता है कि उसमें दूषण देखने का प्रयत्न ही नहीं किया जाता। यदि कोई दूषण दिखाना चाहे तो देखने की इच्छा नहीं होती और यदि वह देखा भी जाता है तो उसे दूषण न कहकर गुण ही बताते हैं तथा उसकी अपने बुद्धि-बल के द्वारा पुष्टि करने की भरसक कोशिश करते हैं। कभी-कभी यहाँ तक होता है कि जब यह देखते हैं कि अपना पक्ष या सिद्धान्त उसकी निर्बलता के कारण सिद्ध नहीं किया जा सकता, तो हठधर्मी की जाने लगती हैं जिसका फल बहुधा यह देखा गया है कि परस्पर गाली-गलोज और मुठ-भेड़ तक हो जाती है। द्रष्टा के ज्ञान और अज्ञान के कारण एक ही वस्तु भिन्न रूप की प्रतीत होने लगती है। यहाँ उसी पूर्व-कथित रज्जु-सर्प वाले उदाहरण का ख्याल कीजिये तो उपर्युक्त विवेचना समझ में आ जायगी। रज्जु को सर्प मानने वाला अपने अज्ञान में ज्ञानारोपण कितनी दृढ़ता और हठ के साथ करता है कि वह देखते ही बनता है!! जब स्थूल पदार्थ भ्रम-वश (अज्ञान ही भ्रम है) कुछ का कुछ दिखाई देने लगता है तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म

तत्त्व अथवा उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व के कारण मात्र को, जो स्थूलेन्द्रियों के परे है, पहिचानने में भ्रम हो जावे तो क्या आश्चर्य है !

यहाँ पर तर्क होता है कि स्थूल पदार्थ के विषय में भ्रम का निराकरण प्रत्यक्ष देखकर किया जा सकता है और इसलिये कह सकते हैं, कि अमुक मनुष्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का आधार सत्य है और अमुक का असत्य; परन्तु ईश्वर-संज्ञक सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व के विषय में कैसे कहा जा सकता है कि अमुक सिद्धान्त सत्य है और अमुक असत्य ? ईश्वर-वादी सत्य मार्ग पर है या अनीश्वर वादी ? इसलिये कुछ लोगों ने यह एक मध्यस्थ सिद्धान्त निर्धारित कर लिया कि ईश्वर है या नहीं, इस के विषय में कुछ भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। लेकिन "ईश्वर है" इस पर पिछले अध्यायों में हमने यथाशक्ति प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है, इसीलिये ईश्वर-वाद सत्य है या अनीश्वर वाद, इसका निर्णय करना हम अब पाठकों की विवेचना-शक्ति पर ही छोड़ देते हैं । हमारी सम्मति में ईश्वर संज्ञक एक अद्वितीय सत्ता अवश्य है जिसको अनेक नामों से पुकारते हैं। सूक्ष्म-दृष्टि-विहीन जनों को उसका दर्शन नहीं होता। सांसारिक वैभव में भूले हुए मनुष्य को यह दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार के मनुष्यों की दृष्टि केवल स्थूल पदार्थों और पंच-महाभूतों तक ही पहुँच पाती है। इसीलिये वे पार्थिव-वादी (पृथ्वी से पार्थिव बना है) या पदार्थ-वादी कहलाते है। विषयासक्ति ही अज्ञान का मूल कारण है। पार्थिव-वादियों में अनासक्ति का होना असम्भव है। उनके कर्म इसलिये होते हैं कि उन्हें अपने पार्थिव इष्ट की सिद्धि प्राप्त हो। वे इतने फलासक्त होते हैं कि ईश्वर की आराधना भी केवल उन फलों को प्राप्त करने की अभिलाषा से करते हैं। वे अपने ईश्वर को सांसारिक सुख-भोग देने वाला मानते हैं और अपने कर्मों की सफलता पर उससे प्रसन्न होते तथा असफलता पर कुपित हो जाते हैं। असफलता के कारण कुपित हो जाने से वे उसका नाम तक लेना छोड़ देते हैं और यहाँ तक कहने लगते हैं कि ईश्वर है ही नहीं। पुत्रादि के मर जाने से, दुःखप्रद दैवी घटनाओं से तथा कर्म-फलादि न मिलने से बहुत से मनुष्य नास्तिक बन जाते हैं। नास्तिकता का एक मुख्य कारण और है। वह यह है कि जब

मनुष्य नास्तिक न होते हुए भी सांसारिक वैभव में ईश्वर को भूला रहता है और उसके कारण अनेक अनर्थ करने लगता है तब ज्यों ज्यों धर्म-प्रिय सज्जन उस का ध्यान सच्चरित्रता की ओर आकृष्ट करते और उसे ईश्वरीय दण्ड का भय बताते हैं त्यों त्यों उसकी धारणा निरीश्वरता में बढ़ती जाती हैं। वह अभिमान में फूला हुआ न केवल उक्त सज्जनों के वचनों का तिरस्कार करता बल्कि उनको स्वतः अपमानित कर उन्हें मृत्यु-दण्ड तक दे देता है। ये सब अपकर्म वह बहुधा धर्म-प्रिय सज्जनों को चुनौती सी देकर करता और कहता है कि देखें तुम्हारा ईश्वर कहाँ है ! वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? हिरण्यकश्यप, कंस, रावण और ईसामसीह के समकालीन रोम-सम्राट् आदि इस प्रकार के नास्तिकों के सहस्रों उदाहरण इतिहास और गाथाओं में मिलते हैं। नास्तिकता की कुभावना उठने का कारण कभी-कभी समाज सेवा भी हुआ करता है। मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों के कारण जब कभी धार्मिक सिद्धान्तों का दुरुपयोग समाज में होने लगता है और ईश्वरीय-भाव की आड़ में अनेक अनर्थ किये जाने लगते हैं, तो समाजोत्थान का बीड़ा उठाने वाले महानुभाव-विशेष ईश्वर के नाम पर किये जाने वाले इन अनर्थों को मिटा डालने के अभिप्राय से ईश्वरीय-भाव को ही मिटा डालने के पीछे पड़ जाते हैं। इस प्रकार का नास्तिक भाव जागरित करने से यद्यपि समाज प्रचलित दुष्कर्मों से बचकर शीघ्र ही लौकिक दृष्टि से ऊपर उठ जाता है, तथापि वह उत्थान कुछ काल रहने के बाद दूषित विचार और कुकर्मों का जन्मदाता बनकर समाज को धीरे-धीरे रसातल की ओर ले जाता है। इस प्रकार का उत्थान बाह्य और एकदेशीय रहता है, जिसका फल यह होता है कि समाज सम्यक् सभ्यता से हाथ धो बैठता है और व्यक्ति आभ्यान्तरिक संस्कृति को खो बैठता है। मन्दिर और गिरिजाघरों तथा तीर्थ और पवित्र स्थानों में पुजारी-पण्डे या पोप-पादरियों इत्यादि की दुष्कृतियों को देख यदि कोई मन्दिरों-गिरिजाघरों और तीर्थादि पवित्र स्थानों को मिटा डालने के लिये ईश्वरीय भाव को ही भुला देने का प्रचार करे तो उससे बढ़कर दूसरा मूर्ख कौन हो सकता है ? पाश्चात्य वृत्तियों को सर्वोच्च मानकर उनकी नकल करने वाले कुछ भारतीय भी इस दूषित लहर को अपनाने के लिए हाथ

पैर फटफटाते हैं। उनका कहना है कि "ईश्वर-सत्ता के मानने से ही साम्प्रदायिक विरोध बढ़कर भारत के उद्धार में देर हो रही है…….ईश्वरसत्ता के स्वीकार मात्र से ही धर्म-बन्धन—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बन्धन, आचार-अनाचार-विचार का बन्धन, इस प्रकार अनेक बन्धन उत्पन्न होकर चित्त के स्वाधीनता-सुख को सदा के लिये नष्ट कर डालते हैं।"* इस प्रकार के मनुष्य सांसारिक मोह को ही सुख जानते हैं और स्वच्छन्दता को ही स्वाधीनता। उनका सुख प्रवृत्तियों से युक्त है। यथार्थ में प्रवृत्तियुक्त सुख ही दुःख है।

संसार में अनुरक्त अनेक मनुष्यों को ईश्वर से नाखुश होने का हरदम अवकाश मिलता है। इसलिये यदि नास्ति-प्रचारक तर्क-शास्त्री, विद्वान्, पण्डित हुआ तो उसे सैकड़ों अनुगामी उक्त कुढ़े हुए पुरुषों में से सरलता से मिल जाते हैं। यदि कोई राजा, उच्च राज कर्मचारी या राजकीय संस्था अनीश्वर वादी हो तो अनीश्वरता और भी अधिक ज़ोर पकड़ कर विस्तृत होती जाती है, क्योंकि स्वार्थ-लोलुप जन स्वार्थ-सिद्धि के अभिप्राय से राज-धर्म के अनुगामी बनने में प्रतिस्पर्धा-सी करने लगते हैं।

न्यायादि दर्शन तथा बौद्ध और जैन धर्म पर निरीश्वरवाद का दोषारोपण

उपर्युक्त विवरण से यही सिद्ध हुआ कि अनीश्वरवाद का मूल कारण-अज्ञान है, फिर वह अज्ञान चाहे जिस कारण से उत्पन्न हो और चाहे जितनी मात्रा में विद्यमान हो। जब अज्ञान ही अनीश्वरवाद का आधार है तो क्या महान न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग-दर्शन की भित्ति भी अज्ञान है ? क्या महान तत्त्व-वेत्ता न्याय दर्शन के निर्माता महर्षि गौतम, वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद मुनि, सांख्य दर्शन के जन्मदाता महर्षि कपिल एवं योग दार्शनिक महर्षि पतञ्जलि अज्ञानी थे ? लोग उन पर क्यों निरीश्वर-वाद के कलङ्क का

---

* स्वामी श्री दयानन्द जी लिखित "दर्शनों में ईश्वर" नामक लेख से उद्धृत वाक्यों का यह कुछ अंश है।

टीका लगाया करते हैं ? क्या कारण है कि इसी नास्तिकता का दोषारोपण महात्मा बुद्ध द्वारा निर्मित बौद्धधर्म पर किया जाता है ? दया-भाव को उच्च से उच्च कोटि तक ले जाने वाला जैन धर्म भी क्या ईश्वर में सचमुच ही विश्वास नहीं करता ? यदि उक्त दर्शन और धर्म नास्तिक वाद के समर्थक हैं तो आस्तिक वाद का फिर कौन प्रतिपादन करता है ?

अविद्या-मूला प्रकृति का सहवास ही जीव के दुःख का कारण है। दुःख से निवृत्त होने का नाम ही मुक्ति है। मुक्ति के बिना शान्ति नहीं और शान्ति के बिना सुख नहीं होता, यह हम पहिले लिख चुके हैं। प्रकृति किस प्रकार विकृत होकर जीव को दुखी करती है इसका प्रत्येक दार्शनिक अपनी बुद्धि के अनुरूप अनुसन्धान करता है। जिस प्रकार रोग का मूल कारण क्रमशः भिन्न रूपेण होकर प्रकट होता और रोगी बनाता है उसी प्रकार प्रकृति के विकार जीव को रोग-ग्रस्त बनाकर दुखी करते हैं। समस्त दुःख प्रकृति-जीव-सम्पर्क के परिणाम स्वरूप हैं। इसलिये हर एक दर्शनिक दुःख रूपी रोग से निवृत्त करने के लिए मूल कारण प्रकृति से युक्त करने का साधन बताता है। किसी दार्शनिक ने किन्हीं विकारों पर विशेष ध्यान दिया है और किसी ने किन्हीं और दूसरे विकारों पर, किसी ने एक ही विकार को भिन्न रूप में देखा और किसी ने एक ही रूप को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। इन प्राकृतिक विकारों को कोई पदार्थ, कोई गुण और कोई तत्त्व कहते हैं। न्याय ने प्रमेयादि सोलह पदार्थों को तथा वैशेषिक ने द्रव्य, गुण, कर्मादि छः पदार्थों को मुख्य माना है। योगदर्शन अविद्या अस्मितादि पांच क्लेशों से आत्मा को बद्ध मानता है, तो सांख्य पचीस गुणों से उसे बद्ध बताकर चुम्बक-लोहवत् सान्निद्ध्य स्थापित करता है। प्रकृति के इन विकृत रूपों से मुक्त करना ही उनका ज्ञानाधार है। मनुष्य को दुखी देखकर उसे सुखी बनाने का उपाय उन्होंने प्रकृति से मुक्त करने में पाया है। दार्शनिक एक प्रकार का चिकित्सक है, जो दुःख रूपी रोग को मिटाने के लिए नुस्खा लिखता है। यदि वह मनुष्य वर्ग के दुःख से इतना प्रभावित हो जाय कि उसको उससे निवृत्त करने के लिए तिलमिला उठे तो वही दार्शनिक धर्म-प्रणेता बन जाता है। इन धर्मों में भी उसी प्रकृति से उत्पन्न दुखों से विमुक्त

करने के साधन बताये जाते हैं। इस प्रकार के धर्मों का जन्म प्रायः उसी समय होता है जब किसी समाज में अत्यन्त आध्यात्मिक ह्रास दिखाई देता हो। ऐसे मृत्यु-काल में रोगी को बचाने के लिए शीघ्र परिणाम देने वाले इन्जेक्शन की जरूरत पड़ती है न कि कठिन तात्विक निदान पत्र तैयार करने की। सारांश यह है कि एक दर्शनशास्त्र वे हैं जिनमें प्रकृति-विषयक विकारों का वर्णन है और उनसे मुक्त होने के साधन भी बताये गये हैं। यही उनका प्रधान विषय रहता है। उनकी जीवात्मा परमात्मा स्वरूप हो द्रष्टा मात्र न रहकर प्रकृति के विकारों से सम्बन्धित रहती है तथा उनकी मुक्ति का साक्षात् सम्बन्ध ईश्वर (ब्रह्म) से नहीं रहता ! अणु उनकी सृष्टि के रचयिता हैं जो यथार्थ में प्रकृति के विकृत रूप ही हैं। उनका ईश्वर केवल निमित्त रूप, कारण मात्र है। प्रकृति उनके लिए यथार्थ सत्य है और वह ईश्वर से भिन्न है। गरज यह है कि उक्त प्रकृति-प्रधान दर्शन महर्षि वेदव्यास द्वारा निर्मित वेदान्त दर्शन से भिन्न है, जिसके आधार पर दिग्विजयी दार्शनिक-शिरोमणि श्रीमद् शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। इस वेदान्त दर्शन के मतानुसार जीवात्मा और परमात्मा एक हैं, भिन्न नहीं। यह कहता है कि सारा संसार जिसे अन्य दार्शनिक प्रकृति-परिणाम कहते हैं, ब्रह्म का केवल विवर्त रूप है। इसकी दृष्टि में प्रकृति कोई यथार्थ सत्य नहीं। वह केवल समुद्र के जल के बुल-बुले या फेन के समान है, जो रूप वा नाम से भिन्न प्रतीत होते हैं पर यथार्थ में जल ही है। इसी तरह प्रकृति भी दूसरे रूप में दिखाई देने लगती है और नाम भी दूसरे धारण कर लेती हैं। एक ब्रह्म ही ब्रह्म है जो समष्टि रूप से व्याप्त है। वह प्रकृति-प्रधान दार्शनिकों के व्यष्टि रूप ईश्वर से, जो प्रत्येक व्यक्ति अथवा अणु में कारण मात्र होकर रहता है, भिन्न है। रज्जु को सर्प मान लेने वाले के समान अविद्या अथवा अज्ञानवश सत्य में असत्य का आरोप किया जाता है। आत्मा न कर्ता है न भोक्ता, जिसे समझाने के लिए पिछले अध्यायों में कुछ दृष्टान्त दिये जा चुके हैं। प्रकृति ही अविद्या है। अविद्या से उत्पन्न भ्रम ज्यों ही मिट जाता है त्योंही मुक्तावस्था अथवा अपवर्ग-लाभ प्राप्त हो जाता है। यह मुक्ति साक्षात् ब्रह्ममय स्थिति का ही नाम है। इस दर्शनशास्त्र के अनुसार न तो आत्मा

प्रकृति से सम्बन्धित रहती और न उसे मुक्त करने की आवश्यकता होती है। वह तो स्वयं नित्य और मुक्त ही है जिसे हम अविद्यायुक्त प्रकृति का पर्दा पड़ जाने के कारण भिन्न मानने लगते हैं। वह किसी भी विकार से सम्बन्धित नहीं है। इसीलिये इस वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-विषयक प्रधानता रहती है

उक्त दर्शनों और धर्मों पर दोष लगाने के कारण

अब यदि उपर्युक्त कथन पर ध्यान रखते हुए न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शन का अध्ययन किया जाय तो विदित हो जायगा कि ईश्वरवादी इन पर क्यों निरीश्वरता का दोषरोपण करते हैं। एक तो उनका विषय-प्रतिपादन भिन्न होने के कारण उनका दृष्टिकोण ही भिन्न रहा है और दूसरे उन्होंने प्रकृतिजन्य दुखों से मुक्त होने को ही मुख्य माना है। इसीलिये उनमें ईश्वर-सम्बन्धी सूत्रों की प्रधानता नहीं हो सकती। परन्तु आवश्यकतानुसार यत्र तत्र उनका समावेश अवश्य किया गया है। इन सूत्रों में व्यक्त किये गये विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे ईश्वर-वादी ही थे न कि अनीश्वरवादी। इतना अवश्य है कि उन्होंने ईश्वर को निमित्त रूप कारण मात्र मानकर उसको इतनी प्रधानता नहीं दी, जितनी उपनिषद् और वेदान्त दर्शन में दी गई है, जो स्वाभाविक ही है। क्योंकि वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय ही ब्रह्म है। जिसको जिस विषय का प्रतिपादन करना होता है उसकी विचारधारा उसी पर चलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ईश्वर-वादियों ने अपने मत को अधिक पुष्ट करने के लिए ही उक्त दर्शनकारों पर व्यर्थ ही नास्तिकवाद के कलङ्क का टीका लगाया है। जब ईश्वर-वादियों की दृष्टि उक्त दर्शनशास्त्रों में दिये हुए ईश्वर-सम्बन्धी सूत्रों की ओर आकृष्ट की जाती है तो उन्हें वे अप्रासङ्गिक, असङ्गत, क्षेपक आदि कहकर टाल देते हैं। और नहीं तो यही कहकर सन्तोष करते हैं कि वे गौणरूप में होने के कारण आस्तिक पक्ष के पूर्ण समर्थक नहीं कहे जा सकते।

न्यायादि दर्शनों में ईश्वर-सम्बन्धी सूत्रों के आने पर भी जब उन पर नास्तिकता का दोष लगाया गया है तो बौद्ध और जैन धर्मों पर लगाया जाना

कैसे रुक सकता था, क्योंकि उनमें ईश्वर का जिक्र तक नहीं किया गया। तत्कालीन अकर्मण्यता को मिटाने के लिए महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में कर्म की प्रधानता बताई है। भूत कर्मों का फल वर्तमान में और वर्तमान कर्मों का फल भविष्य में मिलता है, इस शिक्षा पर अधिक ज़ोर देकर लोगों का ध्यान सत्कर्मों की ओर ही लगाने का उनका सतत प्रयत्न था। इसी कारण उन्हें ईश्वर-चर्चा करने की आवश्यकता ही नहीं थी। जब कि धर्म के नाम पर अनेक निरपराध भोले-भाले जीवधारियों का खून धर्म-स्थानों में बहाया जाता था और पवित्र स्थानों में अपवित्र दुष्कर्म किये जाते थे, तब यह भी सम्भव हो सकता है कि उन्होंने जान बूझ कर ही ईश्वर-चर्चा करने से अपने आप को दूर रखा हो। गूढ़तात्विक विषय पर मन विचलित कराने की अपेक्षा उन्होंने जन-साधारण के प्रिय कर्म-मार्ग की ओर लक्ष्य रखना ही उचित समझा। जो सरल है वही जन-साधारण-प्रिय हो सकता है, इसलिये कर्मक्षेत्र की बात को ही कहकर उन्होंने ईश्वर विषय पर मौन रहना ठीक समझा। परन्तु कारण वशात् मौन रहने से यह नहीं कहा जा सकता, कि वे अनीश्वरवादी थे। उन्होंने कहीं यह नहीं कहा कि ईश्वर नहीं है और न हमको अभी तक यह मालूम हुआ कि उन्होंने कहीं भी ईश्वरवाद का खण्डन किया हो। बल्कि बौद्ध-सम्प्रदाय में 'अविलोकितेश्वर' शब्द का मान होने से यही विदित होता है कि यही उनका ईश्वर है। जो देखा न जा सके वही 'अविलोकित' है और जो 'अविलोकितों' (अदृश्यों) से भी अधिक 'अविलोकित' हो वही 'अविलोकितेश्वर' है। इसी प्रकार जैन सम्प्रदाय में, जो प्रकृतिवाद को मानता है, ईश्वर सम्बन्धी चर्चा न होने के कारण जैनधर्म पर अनीश्वरवाद का दोष लगाया गया है। दयाभाव को उच्चतम कोटि पर पहुँचाने के लिए यह मानना आवश्यक है कि संसार के समस्त जीव चर और अचर एक समान हैं अथवा एक ही हैं। प्रकृति से बद्ध असम स्वभाव और गुणवाली आत्मा सब पदार्थों अथवा जीवों में एक समान नहीं हो सकती और इसलिये समता का अभाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता। अतः भिन्नतासूचक संसार की तह में काम करनेवाले एक ही मूल कारण को माने बिना जैन सम्प्रदाय का भी काम नहीं चल सकता। इस मूल

कारण को चाहे व्यक्तित्व के अन्तर्गत देखिये या सर्वत्व के, पर है वह अवश्य। इसके बिना किसी दर्शन या धर्म का चारा ही नहीं चल पाता। अतः इसी को जैनधर्म में ईश्वररूप जानना चाहिये।

उक्त दर्शन और धर्मों में ईश्वरवाद

उपर्युक्त कथन से पाठकों को यह विदित हुआ होगा, कि जिन्हें लोग निरीश्वरवादी कहते हैं वे यथार्थ में ईश्वरवादी ही हैं। दृष्टिकोण में भिन्नता होने के कारण उन पर उक्त दोष लगाया जाता है। लेखक के प्रतिपाद्य विषय, भाव एवं लेखन कला से अनभिज्ञ होने के कारण कभी-कभी समालोचक उसकी व्यर्थ ही टीका-टिप्पणी करने लगते हैं, जो सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार कहे हुए निरीश्वरवादियों को ईश्वरवादी ही मानकर हमने अन्यत्र यह कहा था कि निरीश्वरवादी विरले दस-पांच ही मिलेंगे। उक्त दार्शनिक जीव को अनादि मानते हैं और पुनर्जन्म, परलोक तथा मुक्ति के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। वे चार्वाक, आभाणक एवं वाममार्गियों तथा पाश्चात्य इपीक्यूरियनों (Epicureans) से भिन्न हैं जिनके मत के अनुसार खाओ, पियो और मौज उड़ाओ जीवन का उद्देश्य है। इन चार्वाकादि के मतानुसार जीव शरीर के साथ जन्म लेता और उसी के अन्त के साथ उसका भी अन्त हो जाता है। इसलिये उनका सिद्धान्त केवल विषयासक्ति-पूर्ण होने के कारण कहता है :—

> यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
> भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात् "जीव मृत्यु के अगोचर नहीं है अर्थात् उसका अन्त मृत्यु के साथ ही हो जाता है इसलिये (यावज्जीवं सुखं) जब तक शरीर में जीव रहे तब तक सुख से रहो (मजा मौज उड़ाओ)। देह के भस्म हो जाने पर वह पुनः संसार में न आवेगा"। जिन्होंने जीव को अनित्य मान उसे इस प्रकार शरीर से सीमित कर रखा है वे ही यथार्थ में अनीश्वरवादी हैं। जिन्होंने अपने जीवन का उद्देश केवल यह बना रखा है कि भोगों को भोगने के सिवाय और कुछ

नहीं है वे ही अनीश्वरवादी कहे जाने योग्य हैं।* परन्तु अब तो पदार्थ-विज्ञानी भी पहचानने लगे हैं कि पंचभूत भी, जिनके संयोग वा वियोग से चार्वाक आदि जीवोत्पत्ति और जीवान्त मानते थे, जड़ हैं तथा उनमें शक्ति उत्पन्न करने वाली भी कोई दूसरी सत्ता होनी चाहिये।

निर्गुण और सगुण स्वरूप

वस्तुतः ईश्वर एक है, परन्तु वह निर्गुण है या सगुण; इस विषय पर प्राचीनकाल से ही सब से अधिक मत-भेद चला आ रहा है। इस पर विस्तृत रूप से हम आगे के अध्याय में कहेंगे। यहाँ पर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि उसका निरूपण द्रष्टा की दृष्टि पर निर्भर है। जिस रूप में देखना चाहो उसी रूपी में वह आप को दिखाई देगा। हम उसे निर्गुण-सगुण दोनों रूप में मानते हैं और इसी की हम अगले अध्याय में पुष्टि करेंगे।

कर्म-भक्ति-ज्ञान मीमांसकों का दृष्टिकोण—

निर्गुण का सम्बन्ध है ज्ञान मार्ग से और सगुण का कर्म एवं भक्ति-मार्ग से। मनुष्य, जो सगुण स्वरूप है, निर्गुण का केवल उस समय अनुभव कर सकता है जब कि वह पूर्ण अनासक्त होकर लय अवस्था प्राप्त कर चुका हो। उसे उसकी अर्थात् निर्गुण की क्षणिक झलक उस समय आती है जब कि वह स्वयं विकारों से मुक्त होकर ध्यानावस्थित हो जाता है। सगुण मनुष्य ईश्वर के निर्गुण स्वरूप को किन उपायों से जान सकता है और किन साधनों

---

* असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्पर संभूतं किमन्यत्काम हैतुकम्॥ गीता अ० १६ श्लो० ८।

अर्थात् इस प्रकार की आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों की दृष्टि में जगत् झूठा, आश्रयरहित तथा ईश्वर-विहीन दिखाई देता है। वे केवल यह जानते हैं कि वह अपरा और परा प्रकृति के संयोग से अथवा पुरुष और स्त्री के संयोग से उत्पन्न हुआ है और इसलिये वे कहते हैं कि भोगों के सिवाय और दूसरी चीज़ से क्या मतलब।

के द्वारा गुणों से मुक्त होकर स्वयं निर्गुणानुभव कर सकता है, इन्हीं बातों को जो बतावे उसीका नाम ज्ञान-मार्ग है। ब्रह्म प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषदादि ही ज्ञानदर्शक हैं। जिस उत्तम ढंग से वेदान्त दर्शन के अद्वैतवाद ने ब्रह्म-निरूपण किया है उस प्रकार कदाचित् ही किसी अन्य स्थान पर किया गया हो। सगुण मनुष्य के लिए निर्गुणवाद को उसकी अत्यन्त कठिनता के कारण निरा सिद्धान्त ही समझ कर विद्वज्जनों ने कर्म मीमांसा और भक्ति मीमांसा को जन्म दिया है। सृष्टि में ईश्वर का जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप दिखाई देता है, वही उसका सगुण-स्वरूप है। इस सगुण स्वरूप में दो बातों की प्रधानता है। एक कर्मण्यता है और दूसरी स्वामित्व। कर्मण्यता ऐश्वर्यमय है और स्वामित्व प्रेम एवं माधुर्यमय। मनुष्य सांसारिक जीव है। वह सत्-रज-तम तीन गुणों से युक्त संसार में जन्म लेकर जीवन व्यतीत करता है। इसीलिये उसके समस्त कर्म-मीमांसकों ने उच्च से उच्च कोटि के कर्म करने का आदर्श उपस्थित किया है। यह आदर्श ईश्वरीय तीन क्रियाओं—प्रकट, स्थित और लय—के अतिरिक्त और कहाँ मिल सकता है। निःस्वार्थ अनासक्त कर्म की ऐसी उच्च पराकाष्ठा और कहाँ मिलेगी? चूँकि मनुष्य लौकिक है इसलिये उसे इस उच्च कर्म को आदर्श मान अपने नित्य के कर्म करने चाहिएं। यही कर्म-मीमांसकों का कहना है। संसार के प्रायः सभी विज्ञजन यह मानते हैं कि जिस उच्च-कोटि का कर्म-सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता में बताया है वैसा कहीं और नहीं पाया जाता। उसके पालन करने से मनुष्य उसी सुखानन्द को पा सकता है जो ज्ञान मार्गी पाने का दावा करते हैं।* ऐसा मनुष्य व्यक्तिगत सुखानन्द प्राप्ति के अतिरिक्त समाज-सेवा करता हुआ समन्वय स्थापित करके जन-सुख की स्थापना भी करता है, जो ईश्वर का एक मुख्य गुण है। परन्तु ईश्वरीय गुण मनुष्य तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह उसका प्रेमी हो अर्थात् उसका भक्त हो, सेवक हो। जिससे कुछ प्राप्त किया जा सके, वही स्वामी है। स्वामी-सेवक के नाते से सेवक

---

*ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ गीता अ० १३श्लो०२४

अपना सर्वस्व स्वामी को समर्पण कर देता है। सर्वस्व समर्पण करने से स्वार्थ विलीन हो जाता, कर्म फलों में अनासक्ति आ जाती और समस्त संसार के व्यक्तित्व केवल एक ईश्वर स्वरूप दिखाई देने लगते हैं। उसने स्वामी के गुणों का स्मरण करना ही उसका भजन है और सच्चा भजनीक वही है जो स्वामी के गुणों का अनुकरण कर उन्हें कार्य रूप में परिणत करता हुआ अपने जीवन को व्यतीत करे। यही भक्ति मार्ग है जो भक्ति मीमांसकों ने जन-साधारण के लिये सब से सरल मार्ग सिद्ध किया है। सरल होने पर भी वह अत्यन्त आनन्द-प्रद है तथा लौकिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि से समाजोचित जीवन व्यतीत करने के लिये सर्वोत्तम है। इस तरह के ईश्वर-वादी अपने ईश्वर के स्वरूप का वर्णन कर उक्त तीनों प्रकारों से उसका अनुकरण करते हैं। उनका ईश्वर सत्-चित-आनन्द अथवा शुद्ध-बुद्ध-आनन्दमय है। कोई उसे सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के रूप में, कोई कर्म-प्रेम-ज्ञान के रूप में और कोई ऐश्वर्य-माधुर्य-नित्यानन्द के रूप में देखते हैं। तात्पर्य यह है कि उसके असीम विस्तृत स्वरूप का सार वे केवल दो-तीन शब्दों में भर देते और उन्हीं का जप करने का आदेश इस अभिप्राय से करते हैं कि जिससे उस महती सत्ता की महत्ता पर नित्य ध्यान बना रहे और उसका अनुकरण करते रहें। इसी प्रकार सारमय शब्दों को प्राचीन ऋषि आदि मंत्र-सूत्र, स्तोत्र आदि कहते थे। ईश्वर को चाहे जिस रूप में देखो—निर्गुण या सगुण, अकर्ता या कर्ता; वह नित्य है, शुद्ध है, चेतन है। जहां शुद्ध चैतन्य है वहीं सत्यानन्द-नित्यानन्द होता है। इसी सच्चिदा-नन्द परमेश्वर को अनुकरणीय मानकर मनुष्य आनन्द-प्राप्ति का सतत प्रयत्न करता है। उस आनन्द-प्राप्ति के लिए केवल यही कर्म, भक्ति, ज्ञान तीन मार्ग हैं; चौथा नहीं। तीनों का ध्येय एक है। प्रत्यक्ष में ये तीनों मार्ग भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, परन्तु यथार्थ में वे एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं।

वेदों की प्राचीनता और उनका संसार की सभ्यता पर प्रभाव

प्रत्येक धर्म-ग्रन्थ यथार्थ में दर्शनशास्त्र ही है। दर्शन 'दृश' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। जिन्होंने अपनी अन्तःदृष्टि-द्वारा ईश्वर को

देखा है अथवा उसका आत्मानुभव किया है वे ही दार्शनिक या धर्म-प्रणेता हैं। धर्म भी (धृ) धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना। जो सत्य है वही नित्य है और वही सृष्टि को धारण किये है। इसलिये जो सत् और असत् का निरीक्षण कर सत् का निरूपण करे वही धर्म है। इस सत् को देखना सरल काम नहीं है और इसलिये अशुद्ध-अबुद्ध मनुष्य द्वारा देखा या कहा गया सत् मान्य नहीं। इसे महान् तपस्वी, महात्मा, ऋषि ही देख सकते हैं। संस्कृत भाषा का ऋषि शब्द भी दृश् (देखना) धातु से बना है। इसलिये जिन महर्षियों ने इस सत् रूपी ईश्वर का दर्शन अर्थात् साक्षात् किया है उन्हीं के शब्द मान्य हो सकते हैं, उन्हीं का ज्ञान यथार्थ ज्ञान कोटि में आ सकता है। जिन ग्रन्थों में इस प्रकार के आध्यात्मिक सर्व-श्रेष्ठ तत्वान्वेषकों का अनुभव-पूर्ण ज्ञान-भाण्डार हो वे ही वेद हैं; क्योंकि वेद शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ है जानना अथवा ज्ञान। वेद सबसे प्राचीन आर्य-ग्रन्थ हैं। इतिहास की दृष्टि से वेद ही सब से प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध हो चुके हैं और यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो यह विदित होगा कि पृथ्वी के समस्त प्रचलित धर्मों का जन्म वेद के बाद ही हुआ है। इसलिये यह कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि वेद से निकली हुई, ज्ञान-गंगा की धार पृथ्वी पर दशा, देश वा काल के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से समाजोद्धार के लिए भागीरथ जैसे प्रयत्नशील धर्म-प्रवर्तकों द्वारा बहाई गई है। जो तुलनात्मक भाषा-विज्ञानी हैं वे समस्त प्राचीन तथा प्रचलित धर्मों के धर्म-ग्रन्थों की भाषा में आये हुए अनेक शब्दों के अर्थ में समानता बताते हैं और उनके धातु-शब्दों में भी समानता पाते हैं जिससे सिद्ध होता है कि किसी न किसी पूर्व काल में एक जाति, एक भाषा और एक समान धार्मिक या ज्ञान विषयक विचार रहे होंगे। यदि इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता है तो मैं पाठकों से कहूँगा कि वे पाश्चात्य विद्वान् एम० लुई जाकोलियट द्वारा सन् १८६८ ई० में लिखी हुई पुस्तक (La Bible Dans L' India) का अंग्रेजी अनुवाद जो "दी बाइबिल इन इंडिया" नाम से "पाणिनि आफिस, इलाहाबाद" द्वारा सन् १९१६ में प्रकाशित किया गया है, अवश्य पढ़ें। उससे विदित होगा कि

प्राचीन सभी जातियाँ और आर्य धार्मिक-ग्रन्थ, वेदों से प्रभावित हुए हैं। यही नहीं, वरन् अन्यान्य आर्य संस्कृतियों और आर्य संस्थाओं का भी उनकी सामाजिक तथा राजनैतिक गति पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ता रहा था। भारतवर्षीय संस्कृत 'मनु' शब्द किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। जिस प्रकार पुरोहित-पुजारी, व्यास आदि पद विशेष के द्योतक होते हैं उसी प्रकार मनुष्यों में श्रेष्ठ विधानकर्त्ता 'मनु' अधिकार-सूचक शब्द है। इसी अर्थ में 'मनु' शब्द की छाया ईजिप्ट में 'मनी(स)' (manes) शब्द के रूप में, ग्रीस में 'मिन(स)' (minos) शब्द के रूप में और हेब्रू जाति में 'मोजेज़' (moses) शब्द के रूप में समय समय पर प्रकट हुई। इसी प्रकार अनेक शब्द, संस्कार और संस्थाओं का समानान्तर दृष्टि से अध्ययन करके विद्वान् लेखक ने सन् १८६८ ई० में, निर्भीकतापूर्वक इस सत्य को प्रकट किया कि हिन्दू सभ्यता ही आदि सभ्यता है और समस्त सभ्यतायें उसी से परोक्ष या अपरोक्ष विधि से प्रभावित हुई हैं। लेखक महोदय ने यह सिद्ध किया है कि पारसी धर्म के प्रणेता जरथुस्त्र यथार्थ में संस्कृत शब्द सूर्यास्त्र' (जो सूर्य-पूजा का पुनः प्रचार करे) का पर्यायवाची है और उनकी शिक्षा-संस्कृति आदि भारतवर्ष में उसी प्रकार हुई जैसे महात्मा बुद्ध की हुई। दोनों ने ब्राह्मण-काल के अनर्थों से बचकर अन्य देशों को अपना कार्य-केन्द्र बनाया। बुद्ध ने भारत के उत्तर की ओर जाकर तिब्बत तातारदेश चीन आदि को अपनाया और जरथुस्त्र ने भारत के पश्चिम की ओर जाकर ईरान को। उक्त पुस्तक के भाग ४ के पहिले अध्याय में इस बात का प्रतिपादन करने के पूर्व कि ईसाई भाव का आधार हिन्दू-भाव है, लेखक महोदय कहते हैं—

"यह स्पष्ट रूप से प्रकट और सिद्ध करने के पश्चात् कि समस्त प्राचीन समाजों पर प्राचीन भारतवर्ष का प्रभाव पड़ा है, तथा ईरान (परशिया), इजिप्ट, जूडिया, ग्रीस और रोम की आध्यात्मिक, तात्विक, ऐतिहासिक और धार्मिक परंपरायें उसी प्राचीनतम स्रोत से प्रवाहित हुई हैं और 'मोज़ेज' के विचार इजिप्ट तथा अत्यन्त पूर्व के पवित्र ग्रन्थों से लिये गये हैं! अब हम यह देखेंगे कि क्राइस्ट (ईसा) और उनके शिष्यों ने किस प्रकार वेदान्तर्गत मूल परंपरायें

प्राप्त कीं, चाहे वे उन्हें एशिया से प्राप्त हुई हों या इजिप्ट से, तथा किस प्रकार वे कृष्ण की शाश्वत नैतिक शिक्षा से प्रभावित हुए और उन उत्कृष्ट-विशुद्ध सिद्धान्तों के बल पर किस प्रकार प्राचीन दुनियाँ को, जो हर स्थान पर अनैतिक अनर्थों के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो रही थी, उन्होंने पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया।"

लेखक महोदय के दूसरे शब्दों में—"भारतवर्ष संसार का पालना या झूलना है; वही एक सब की माता है जिसने अपनी भाषा, कानून, सदाचार, साहित्य और धर्म की वसीयत संसार की सभी सन्तानों के नाम कर दी है।" कज़िन साहब ने भी कहा है—"भारतीय फिलासफी का इतिहास संसार की फिलासफी के इतिहास का संक्षिप्त ऐतिहासिक संस्करण है"*। तात्पर्य यह है कि चाहे उत्तर की ओर तिब्बत, तातार, चीन, जापान को जाइये और चाहे पश्चिम की ओर ईरान, अरेबिया, इजिप्ट, ग्रीस, रोम को जाइये सभी की सभ्यताओं पर भारतीय सभ्यता की मुहर लगी हुई मिलेगी। कहीं पर उस सभ्यता का प्रभाव अपरोक्ष रूप से और कहीं पर परोक्ष रूप में पहुँचा हुआ पाया जावेगा। जब संसार की प्राचीन सभ्यतायें इस प्रकार प्रभावित थीं, तो वर्तमान सभ्यतायें, जो ग्रीस, रोम आदि की प्राचीन सभ्यताओं को अपना आधार मानती हैं, किस प्रकार कह सकती हैं कि उनका भी आदि गुरु भारतवर्ष नहीं है। यह श्रेय भारतवर्ष को अपने ज्ञान-भाण्डार आदि ग्रन्थ, वेदों, के कारण ही प्राप्त हुआ है। धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र को छोड़ अन्य और किन-किन क्षेत्रों में वेदों का प्रभाव जगतीतल पर पड़ा इससे हमें यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। हमें केवल यही बताना था कि वेद-विहित ईश्वर-सम्बन्धी और आध्यात्मिक ज्ञान का संसार के तात्विक प्रवाह में अधिक भाग रहा है, क्योंकि वही सब से प्राचीन है। प्राचीनता के साथ यदि गाम्भीर्य एवं यथार्थता न होती तो उसे अपनाया जाना भी कठिन होता, तथा अपनाये जाने पर थोड़े दिन ही टिक कर वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती।

---

*"The history of Indian Philosophy is the abridged phistory of the pilosophy of the world."

वेद ही अनेक मतों के कारण हैं

हम देख चुके हैं कि वेद मूल-ग्रन्थ हैं और 'एक सत्' के ज्ञान-दर्शी हैं। परन्तु वे ही भारतीय अनेक वादों के आधार-भूत बन गये हैं। प्रत्येक वाद अपने सिद्धान्तों का समर्थन वेदों द्वारा करता है। जब वेद एक ही सत् का बोध कराते हैं तो अनेक मत क्यों उठ खड़े हुए, यह प्रश्न स्वभावतः मन में उठता है। वेद ही उसका उत्तर दे देता है। वेद कहता है कि एक ही सत् का (विप्राः बहुधा वदन्ति) विज्ञ जन अनेक रूप से वर्णन करते हैं। यह एक स्वाभाविक नियम है कि मूल-स्वरूप काल और स्थानान्तर वश भिन्न रूपेण हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष का बीज जड़-पोड डाल-पत्ते आदि रूप होकर प्रकट होता है उसी प्रकार मूल-विचार-स्रोत का अनेक धाराओं में बहना प्रारम्भ हो जाता है। जब आदि शक्ति ही भिन्न-भिन्न रूप धारण कर प्रकट होती है तो आदि विचार को भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होते देखें तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। एक वस्तु यदि भिन्न-भिन्न रूप में देखी जाय तो उससे उसका ऐक्य कुछ मिटता नहीं है; और उसे भिन्न-भिन्न रूपों में देखना भी कुछ निरर्थक नहीं है उस वक्त तक जब तक उनके आधारभूत उस एक का ध्यान न भुलाया जाय। इसी एक को आधारभूत मान भारत के कुछ तत्वज्ञानियों ने कुछ कुछ विशेषता लिये हुए अपने-अपने मत निर्धारित किये हैं। यह 'एक' वही सत् है—ब्रह्म है, जिसमें सर्व शक्तियाँ लय अवस्था में विद्यमान रहती हैं, यही उसकी अप्रकटावस्था है। समस्त ईश्वरवादियों के समक्ष दो बातें रहती हैं। एक यह अप्रकट सत्ता और दूसरी उस अप्रकट सत्ता का प्रकट स्वरूप। अप्रकट से प्रकट होने की क्रिया को चाहे विकार कहा चाहे विकास। इसी क्रिया को प्रकृति, अविद्या, माया भी कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में हम अन्यत्र कह आये हैं। इसी को विष्णु पुराण में 'प्रधान और पुरुष' कह कर बताया है। उक्त पुराण में अप्रकट सत् को 'काल' (समय) कहा है जिसमें प्रधान और पुरुष दोनों लय रहते हैं। प्रकटावस्था में प्रधान (अर्थात् पार्थिव शक्ति याने पदार्थों में स्थित चेतना शक्ति) और पुरुष (अर्थात् दैवी शक्ति याने पार्थिव चेतन शक्ति में अधिष्ठित दिव्य शक्ति) दोनों क्रियाशील रहते हैं।

'प्रधान' का अर्थ 'मूल-प्रकृति' और उसमें अधिष्ठित 'पुरुष' का 'दैवी प्रकृति' कह कर भी दर्शाया जा सकता है क्योंकि किसी किसी ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग कर प्रकटावस्था का ज्ञान कराया है। गीता के अ० १५ श्लो० १६, १७ और १८ को पढ़िये तो ज्ञात होगा कि कृष्ण भगवान ने इन दोनों अप्रकट और प्रकट अवस्थाओं का दर्शन 'पुरुष' शब्द के द्वारा कराया है। अप्रकटावस्था को उत्तम पुरुष कहा है और प्रकटावस्था को क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष कह कर विभक्त किया है। गीता ही में अन्यत्र इन्हीं* दो अवस्थाओं का दर्शन क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र कहकर कराया है। प्रकटावस्था को कोई अपरा और परा प्रकृति में विभक्त कर दर्शाते हैं, जैसा कि हम आगे १० वें अध्याय में भगवद्गीता के उद्धरणों से बतावेंगे। सांख्य दर्शन में केवल प्रधान ही प्रकटावस्था का द्योतक है और पुरुष सत्तामात्र का, जो विष्णु पुराण के पुरुष से भिन्न कहा जाता है† न्याय मत में उपादान और निमित्त कारण कह कर दोनों भाव प्रदर्शित किये जाते हैं। उपनिषदों में कहीं मन-बुद्धि आदि कहकर, और कहीं आनन्द-चित्त कहकर इसी प्रकटावस्था के विषय में कहा है। उपनिषद् ने यथार्थ में वेद-विषय का निरूपण तात्त्विक (दार्शनिक) दृष्टिकोण से किया है, और पुराणों ने सृष्टि के विस्तृत रूप की दृष्टि से। थियासफी की पुस्तकों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि ग्रीक लोग इस प्रकट स्वरूप को 'लोगस' कहते थे। बस यही प्रकटावस्था है जो तत्वज्ञानियों के सारे मतभेद की जड़ है। कोई उसे यथार्थ रूप (सत्य) मानते हैं और कोई केवल भ्रम-मात्र (असत्य)। जब दो विपरीत दल उठ खड़े होते हैं तो यह स्वाभाविक है कि कोई समझौता करने वाला आ जाता है, जो दोनों को सच बताने की चेष्टा कर तीसरा रास्ता निकाल लेता है। इसी साधारण नियम का पालन ईश्वर-वादियों के मत-भेद में पाया जाता है। पहले जो कुछ न्यायादि दर्शनों तथा बौद्ध एवं जैन मतावलम्बियों के बारे

---

*देखो अध्याय १३ श्री मद्भगवद्गीता।

†यही तो उलझन का कारण है। एक ही 'पुरुष' शब्द का उपयोग भिन्न-भिन्न अर्थ-प्रदर्शन के लिए किया गया मिलता है।

में कहा जा चुका है उससे ज्ञात हुआ होगा कि वे केवल प्रकृतिवादी कहे जाते हैं और इसीलिए उन पर निरीश्वर-वाद का दोषारोपण किया जाता है। परन्तु हम अब ऐसे दार्शनिकों पर विचार करेंगे जो ब्रह्म-सत्ता को तो मानते हैं परन्तु उसके और प्रकृति के सम्बन्ध को निर्धारित करने में भिन्नता रखते हैं, और इसी कारण से परमात्मा (जिसे ब्रह्म या परब्रह्म भी कहते हैं) और जीवात्मा के नाते को स्थापित करने में भी मत-भेद आ जाता है।

ईश्वरवादियों में मत-भेद

एक ओर श्रीमच्छंकराचार्य का अद्वैतवाद है जिसके अनुसार शुद्ध ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो दृश्यमान जगत् है वह भ्रम मात्र है, माया है। जीवात्मा और परमात्मा वास्तव में अभिन्न हैं। मनुष्य केवल अपने भ्रम के कारण उन्हें भिन्न मानकर दो का भाव उत्पन्न कर लेता है। परन्तु श्री रामानुजाचार्य का कहना है कि यद्यपि दृश्यमान जगत माया (भ्रम) है तो भी हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। ब्रह्म का विग्रहरूप जो ब्रह्माण्ड है उसमें रहकर ही हमारी जीवात्मा को परमात्मा से सम्पर्क करने के लिए उद्यत होना पड़ता है। इसलिए उनके इस मत का नाम हुआ 'विशिष्टाद्वैत'। इसके विपरीत श्री माध्वाचार्य जी ने इस दृश्यमान् जगत् को निरा भ्रम नहीं कहा। वे उसे अपने स्वामी, ब्रह्म (ईश्वर) का कार्य मानते हैं अर्थात् उनकी दृष्टि में वह मनुष्य का केवल ख्याली पुलाव नहीं है बल्कि ईश्वर का उसके कृत्यों द्वारा सत्याभास है। ब्रह्म और दृश्यमान् जगत् दोनों को सत्य मानने के कारण यह मत 'द्वैतवाद' कहा गया। श्री माध्वाचार्य जी भक्त थे और इसलिए दृश्यमान् जगत् के आधार पर ईश्वर-गुणानुवाद कर भक्ति-रस का मधुपान किया करते थे। इस तरह जब द्वैत और अद्वैतवाद का बखेड़ा बढ़ा और वैमनस्य के कारण अशान्ति फैलने लगी तो शान्ति-प्रिय श्री निम्बार्काचार्य ने दोनों वादों का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि द्वैत और अद्वैत दृष्टिभेद के कारण हैं। जब ब्रह्म का शुद्ध-स्वरूप देखते हैं तब वह माया से परे होता है। इस निर्विकल्प मायातीत सत् को देखने वाला अद्वैतवादी है, और जब वह माया विशिष्ट भेद से अथवा सविकल्प रूप में प्रकृतिमय देखा जाता है तब देखने वाले को द्वैतवादी कहते हैं। द्रष्टा की

दृष्टि-भेद से द्वैत और अद्वैत दोनों को बताने वाले श्री निम्बार्काचार्य जी के मत का नाम 'द्वैताद्वैत' (द्वैत + अद्वैत) हुआ ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जाना आवश्यक है कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रायः सभी मानते हैं । प्रकृतिवादी उसे ईश्वर न कह कर पदार्थान्तर्गत अणुओं में स्थित चेतना शक्ति के रूप में उसका अवलोकन करते हैं । इस चेतना शक्ति को ही चिदणु (चित् + अणु) कहते हैं और इसी को 'प्रधान' जानिये । पाश्चात्य उत्तरकालीन वैज्ञानिक इसी को इलेक्ट्रान कहते हैं । परन्तु जो अपने मन में यह प्रश्न पूछते हैं कि यह चिदणु, इलेक्ट्रान या प्रधान क्या स्वतंत्र रूप से स्वयं शक्तिमान् हैं तो उन्हें उत्तर मिलता है कि नहीं । प्राकृतिक गुणों के संयोग से जो शक्ति उत्पन्न होती है वह स्वतंत्र नहीं है । इस शक्ति को उत्पन्न करने वाले गुणों में शक्ति लाने वाली एक दूसरी ही शक्ति रहती है जिसे हम पूर्व-वर्णित 'पुरुष' कह सकते हैं । परन्तु केवल 'प्रधान' और 'पुरुष' रूप शक्ति को मानने वाले प्रकृतिवादी या पदार्थवादी ही हैं । उनका ध्यान व्यक्तिगत शक्ति से अथवा व्यष्टिरूप ईश्वर से बँध जाता है । यदि वे आगे एक प्रश्न यह और करें कि इन व्यष्टिरूप शक्तियों को नियन्त्रित करने वाला कौन है तो उन्हें उत्तर मिलेगा कि उनसे भी अधिक प्रबल कोई दूसरी ही शक्ति होनी चाहिये । इसी शक्ति को महाशक्ति या "महत्" कहते हैं । यह एक-देशीय और सर्वदेशीय अथवा व्यष्टि रूप और समष्टि रूप होकर एक समान रहती है । एक कदम और आगे बढ़ने पर ज्ञात होगा कि यह "महत्" अपनी सहचरी 'प्रकृति' के कार्यों को नियन्त्रित करने का अधिकारी है । परन्तु जब प्रकृति का लय हो जाता है अर्थात् समस्त बाह्य शक्तियाँ कच्छप के समान भीतर खींच ली जाती हैं तो केवल एक चेतना और आनन्दमय सत् रह जाता है जिसे सच्चिदानन्द या ब्रह्म कहते हैं । इसी को विष्णुपुराण में कथित "काल" तत्व जानिये । इसकी निर्विकल्पता पर विशेष ध्यान आकृष्ट करने के अभिप्राय से कोई-कोई उसे परब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा आदि कहते हैं ।

: ९ :

निर्गुण-सगुण

ब्रह्म-ईश्वर संज्ञाओं का पुनः स्मरण

गत आठवें अध्याय में यह बताया गया था कि ईश्वर निर्गुण है या सगुण, इसके विषय में सब से अधिक मतमतान्तर रहते हैं। हम स्वतः निर्गुण और सगुण दोनों के उपासक हैं। जो कुछ हम कहते हैं वह केवल हमारा ही विश्वास नहीं है। वह महा ज्ञानियों के अनुभवपूर्ण ज्ञान पर आश्रित है। गत सातवें अध्याय में हमने जो ब्रह्म और ईश्वर संज्ञाओं में भेद बताया था उसका पुनः स्मरण कीजिये। यद्यपि अध्यात्म-विषयक चर्चा और वार्ताओं में ईश्वर शब्द का प्रयोग अधिकतर होने के कारण हमने अपनी इस पुस्तक में ब्रह्म और ईश्वर शब्दों का उपयोग बहुधा अभेद रूप से पर्यायवाची मानकर किया है, तथापि ७ वें अध्याय में बताई हुई स्थिति-भेद पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। उसे चाहे ब्रह्म और ईश्वर शब्द कहकर जानिये अथवा किसी और दूसरी संज्ञाओं द्वारा। उसके जाने बिना निर्गुण और सगुण का ज्ञान नहीं हो सकता। ब्रह्म-स्थिति ही निर्गुणावस्था की द्योतक है और ईश्वर-स्थिति सगुणावस्था की। अहंरूपी लहर उठी कि निर्विकल्पावस्था भङ्ग हुई और सवि-कल्पता आई अर्थात् सगुणावस्था का अंकुर निकला। इस अहं के पश्चात् एक के बाद एक अथवा साथ ही साथ अनेक तत्वों का जन्म होता है जिनके विषय में हम पहले कह चुके हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अदृश्य तत्वों से क्रमशः स्थूल और दृश्यमान् जगत् प्रकट होता है। अहं से लेकर स्थूल दृश्य जगत् तक सब का सब ईश्वर का सगुण स्वरूप है और उसके परे निर्गुण स्वरूप। गुण शब्द से विकल्प शब्द का प्रयोजन समझना चाहिये। स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार इन विकल्पों को तीन भागों में विभक्त करते हैं और उन्हीं का नाम त्रिगुण है अर्थात् सत्, रज और तम। पूर्वोक्त स्थिति-भेद को विज्ञजन विपरीत भावात्मक सैकड़ों संज्ञाओं द्वारा प्रकट किया करते हैं, यथा—

निर्विकार	सविकार
निर्विकल्प	सविकल्प
निर्विशेष	सविशेष
निरुपाधि	सोपाधि
निर्गुण	सगुण
निराकार	साकार
अजन्मा	जन्मा
अमर	मर्त्य
अनन्त	सान्त
मायातीत	माया-विशिष्ट
(इत्यादि)	(इत्यादि)

प्रकृतिवाद का निर्गुण-सगुण-निरूपण और उससे हमारा मतभेद

स्थिति-भेद के कारण वस्तु के ऐक्य में दो का आरोपण करना अज्ञान है। यदि अज्ञान नहीं है तो द्रष्टा के दृष्टिकोण का अन्तर अवश्य है। यह हम अपनी दिनचर्या में हर घड़ी देखा करते हैं। परन्तु जब सिद्धान्त-प्रतिपादन की बात आती है तब उसे भूल जाते हैं। हमने अन्यत्र इसके दृष्टान्त देकर समझाया था, उसे स्मरण कीजिये तथा अन्य और पदार्थों को देखिये तो विदित होगा कि हर एक में हर पल अदृश्य रूप से स्थिति-भेद उत्पन्न होता जाता है, परन्तु वह एक, एक ही बना रहता है। आज का बूढ़ा सफेद बाल-वाला गोपाल कुछ वर्ष पूर्व नौजवान काले बाल वाला दिखाई देता था। वही उसके और भी पूर्व बालक रूप में था। इस बाल्यकाल के पहिले वही माँ के गर्भ में अदृश्य सूक्ष्म कीटाणु (Spermatoza) के रूप में पिता के वीर्यद्वारा प्रवेश कर गया, तथा वहाँ पर भिन्न-भिन्न नाम वा रूप बदलते हुए अन्त में गर्भ से बालक रूप हो निकला। वीर्य में वह कहाँ से और कैसे आया, सोचते जाइये तो आप को पता लगेगा कि एक ही वस्तु स्थिति-भेद-वश नाम और रूप बदलती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती चली जाती है—यहाँ तक कि वह अरूप व

अनाम होकर अन्त में एक वही चिन्मयावस्था रह जाती है जो सृष्टि का कारण है। इसी प्रकार वृक्ष और उनके फलादि तथा पशु-पक्षी आदि पर विचार कीजिये तो यही बात विदित होगी। इस बात पर ध्यान रखने से यह सिद्धान्त सहज ही में समझ में आ जायगा कि एक ही सत्ता स्थिति-भेद के कारण निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में हो सकती है। जिस समय द्रष्टा उस सत्ता की जिस स्थिति का विचार करता है उस समय उसे अपनी दृष्टि में उसी स्थिति का आभास होने लगता है। ओले या भाफ को देखकर हम उसके मूल स्वरूप जल को भूल जाते हैं। वर्त्तमानकालिक दृष्टि से प्रभावित होकर हमें भूत और भविष्य काल का ध्यान ही नहीं रहता। जो आज ओला, भाफ या मेघ के रूप में दिखाई देता है वही पहिले पानी था और बाद में भी पानी-रूप हो जायेगा, यह हमें विस्मृत हो जाता है। इन्हीं प्राकृतिक परिवर्तनों का नाम माया है जो अज्ञान मूल होती है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से सम्बन्धित रहकर अपना रूप बदलती रहती है। उन्हीं रूपों में द्रष्टा को फँसाकर अपनी अनित्यता तथा असत्यता में नित्यता और सत्यता का आभास दिखाने वाली वह माया उसकी अन्तर्दृष्टि को इतनी चकाचौंध कर देती है कि वह यथार्थ स्वरूप को देख ही नहीं पाता। माया के इस असत्य गोरखधन्धे में फँसाने वाली जो अज्ञान-मय क्रिया है उसी का नाम मोह है। अतः द्रष्टा की दृष्टि यदि तीनों कालों को चीरती हुई दृश्यमान् पदार्थ को देखे तो उसे प्रत्येक काल से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न रूपों के अन्तर्गत एकता झलक उठेगी। उक्त दृष्टान्त और कथन से यह समझ में आ जाता है कि जो काल-सम्बद्ध माया-विशिष्ट स्वरूप है वही सगुणावस्था है, और जो त्रिकाल से असम्बद्ध चिन्मय स्वरूप है वही गुणातीत होकर निर्गुणावस्था कहलाती है। इस निर्गुण अवस्था का यह अर्थ नहीं है कि उसमें गुण ही नहीं। यथार्थ में वह सगुण ही है। अन्तर केवल इतना है कि उसकी सगुणावस्था सुषुप्त अथवा निष्क्रिय रह कर अपने आप में लय को प्राप्त रहती है। इस लय अथवा अहं-शून्य स्थिति पर हम किसी पूर्वाध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। यदि निर्गुण को गुण-युक्त नहीं मानते तो सारी सृष्टि अर्थात् दृश्यमान् जगत् कहाँ से आता

है, यह शंका बनी ही रहती है। कुछ लोग शंका का समाधान यह कहकर करते हैं कि निर्गुण सत्ता के अतिरिक्त एक सत्ता और है जिसे प्रकृति कहते हैं। वही सगुण है और वही सृष्टि का कारण है। इस तरह उनकी दृष्टि में दो सत्तायें हैं—एक निष्क्रिय और दूसरी सक्रिय। दोनों अनादि काल से व्याप्त हैं। अब जब हम अपनी विचार-धारा को इस बात पर स्थिर करते हैं कि सृष्टि का प्रारम्भ कभी न कभी हुआ होगा, भले ही उस को हमें अब अनादि कहना पड़े—तो दो शक्तियों का एक साथ प्रकट होना असङ्गत प्रतीत होता है। इस असङ्गत भाव का समाधान केवल दो बातों को स्वीकार करने से किया जा सकता है। या तो यह माना जाय कि इन दो का स्वामी कोई तीसरी ही शक्ति है अथवा हम इन्हीं दो में से कोई एक को स्वामित्व की अधिकारिणी बनावें। दूसरा समाधान उस समय हो सकता है जब यह विचार किया जाय कि यथार्थ में एक ही शक्ति है और दूसरी जिसे प्रकृति कहते हैं, उस एक के अन्तर्गत् लय थी जो उस एक की इच्छा (ईक्षण) होने पर प्रकट हुई। इस तरह से विचार करने पर वही एक शक्ति उस दूसरी की जन्मदायिनी अथवा स्वामिनी कहावेगी। इन दो सत्ताओं के अतिरिक्त कोई भी उनसे ऊपर की अथवा उनसे अधिक महान् तीसरी शक्ति को नहीं मानता। इसलिए उपर्युक्त दोनों शक्तियों में से किसी एक ही में स्वामित्व भाव का अधिष्ठान करना होगा, और वह सब के मत के अनुसार प्रकृति में नहीं वरं उस दूसरी शक्ति में ही, जिसे ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, किया जाता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि उस स्वामित्व-भाव का अधिष्ठान किस ढंग से करने पर वह अधिक ग्राह्य हो सकता है। हमारी समझ में वही तर्क अधिक माननीय है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि प्रकृति उस एक के हिरण्यगर्भ* में लय थी, जहाँ से वह प्रकट हुई। यदि ऐसा नहीं माना जाता तो यह पूछा जा सकता है कि ब्रह्म और ईश्वर ही में क्यों स्वामित्व का अधिष्ठान किया जाय और प्रकृति में क्यों नहीं ? इसका उत्तर कदाचित् यही मिलेगा कि प्रकृति जड़ है

---

*हिरण्यगर्भ क्या है इसका विवेचन आगे मिलेगा।

और ब्रह्म चेतन। बिना चेतन के प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। यदि यही बात है तो प्रकृति के अनादि होने से क्या! अनादि होते हुए भी वह चेतन के आश्रित ही तो रही। तभी तो यह तर्क माननीय है कि उसका अस्तित्व ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। उसी से वह प्रकट होती और उसी में लय होती है। जो उसे अनादि कहकर उसके अस्तित्व को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं उनसे पूछा जाय कि वे प्रलय में विश्वास करते हैं या नहीं। यदि विश्वास करते हैं तो प्रलय का क्या अर्थ है? प्रलय होने पर क्या केवल एक ही तत्व नहीं रह जाता? मेरी समझ में उन्हें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्रलय शब्द यथार्थ में 'प्र' उपसर्ग के सहित लय शब्द ही है, और जब लय अथवा प्रलयावस्था आती है तो सब केवल एकमय हो जाता है, जिसमें सिर्फ चेतना शक्ति शेष रह जाती है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि प्रकृति या जीव उस एक ब्रह्म के साथ उससे भिन्न होकर दो या तीन रूप में रह जाते हैं। एक के अन्तर्गत् अनेक का समावेश हो जाना ही प्रलय है। प्रलय के पश्चात् सृष्टि का पुनः प्रारम्भ होता है। इस प्रलय और प्रारम्भिक काल पर ध्यान रखा जाय तो प्रकृति और जीव को अनादि मानने पर भी यही स्वीकार करना होगा कि उनका जन्म उसी एक ब्रह्म-नामी चेतन स्वरूप के हिरण्यगर्भ से हुआ है। यही निर्गुण का गुण है। यदि उसमें चेतन (चित्) गुण न होता तो अहंगुण न होता और अहं न होता तो प्रकृति न होती। प्रकृति न होती तो भूतादि न होते तथा मनादि इन्द्रियां भी न होतीं एव सृष्टि ही न होती। चूंकि प्रकृति, जिसके कारण सृष्टि दृष्टिगोचर है, जड़ है, इसलिये जो गुण उसमें विद्यमान हैं वे उसकी करतूत के फल नहीं हो सकते। उन्हें उत्पन्न करने वाला वही चेतन होना चाहिये। अर्थात् समस्त गुणों का अंकुर उसी हिरण्य-गर्भ से फूटता है जो ब्रह्म में स्थित है। अतः निर्गुण ही सगुण हुआ। परन्तु इस सिद्धान्त के प्रतिपादन से, सम्भव है, हम इस बात के दोषी ठहराये जायँ कि ब्रह्म को हम समस्त त्याज्य दुःखादि द्वन्द्वों का भी भाण्डार मानते हैं और इसलिये मनुष्य और ब्रह्म में कोई भेद न रहा। बात ऐसी नहीं है।

नर से ब्रह्म में यह विशेषता है कि ब्रह्म सर्वशक्तिमान् समर्थ है और इसलिए वह गुणों से मुक्त है। अर्थात् गुण रहते हुए भी वे उसके गाम्भीर्य में निर्जीव और निष्क्रिय रहते हैं, जिसका अल्प अनुभव मनुष्य निर्विकल्प समाधि द्वारा कर सका है। प्राकृतिक गुणों को सोख लेने वाली अथवा गुण रूपी विद्युत से भरी हुई बैटरी को डिसचार्ज करके रखने की सामर्थ्यवान शक्ति का नाम ही ब्रह्म जानो। इसी कारण से वह निर्गुण कहाता है।

आनन्द प्राणी मात्र का ध्येय है। जड़ स्थिति में जो शान्ति सी प्रतीत होती है वह उत्कृष्ट आनन्ददायिनी नहीं। इसलिये आनन्द चेतनामय होना चाहिये। चैतन्य स्थिति में जो रजोगुण वा तमोगुण द्वारा प्राणी सुख भोग करते हुए प्रतीत होते हैं वह अनित्य और दुःखदायी ही रहता है। बिना सत्व-गुण के सच्चा आनन्द नहीं मिल सकता। अतः जहाँ केवल सत्वगुण युक्त चेतनता है वहीं सच्चा आनन्द है। इस सत्+चित्+आनन्द (सच्चिदानन्द) की पूर्णता का आरोप मनुष्य ने ईश्वर (ब्रह्म) में किया है। इस पूर्णानन्द की स्थिति में बाधा डालने वाले जितने गुण हैं उन्हें पूर्ण रूप से निष्क्रिय अथवा निर्जीव बनाकर रखने या नष्ट कर डालने की जिसमें पूर्ण शक्ति है वही निर्गुण उपाधि पाने का अधिकारी हो सकता है। ज्ञान-अज्ञान, सुख-दुःख, बल-अबल, आदि द्वन्द्वसूचक जितने विकल्पात्मक गुण हैं, चाहे वे प्रकृति वा जीव में आरोपित हों, अथवा उनसे भिन्न हों, सत+चित्+आनन्द को भङ्ग करने वाले होते हैं। इन सबको लय करने वाला ही निर्गुणाधिकारी होगा। इससे सिद्ध होता है कि यह निर्गुण उपाधि केवल उसी पूर्ण समार्थ्यवान ब्रह्म को दी जा सकती है जो पूर्ण सत्+चित्+आनन्द मय है। पूर्णता-प्राप्त लक्षणयुक्त जो सत्ता है वही आदर्श हो सकती है। मनुष्य उसी का अनुकरण कर उसके लक्षणों को प्राप्त करने के लिये उद्योग करता है। सत्यानन्द को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक होता है कि यद्यपि मनुष्य प्रकृति-बन्ध होने के कारण प्राकृतिक गुणों को प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता तथापि वह उनसे अनासक्त रहकर अपने नित्य के कर्म करने की चेष्टा कर सकता है। प्राकृतिक गुणों में जो प्रवृत्ति होती है उनसे मन को हटाकर कार्य करने का नाम निवृत्ति अथवा अनासक्ति है।

ज्ञानवाद का निर्गुण-निरूपण और हमारा मतभेद

ईश्वर में निर्गुणता के अतिरिक्त सगुणता का आरोप न होने पावे इस अभिप्राय से जो लोग सृष्टि का कारण प्रकृति को बताते हैं उन्हीं के सिद्धान्त पर अभी तक हमने अपने विचार प्रकट किये हैं। अब दूसरे वे लोग हैं जो दृश्यमान् जगत् या सृष्टि की यथार्थता को बिल्कुल ही उड़ा देते हैं; उनका कहना है कि जो प्रकृति-स्वरूप सृष्टि है वह केवल द्रष्टा का भ्रम है। अज्ञानता-वश भ्रम होता है। प्रकृति ही भ्रम में डालने वाली है इसलिए उसी का नाम अज्ञान है। अतः यदि दृश्यमान् जगत् को हम भ्रम मान लें तो सारी सगुणता का बखेड़ा ही मिट जाता है और केवल निर्गुण ब्रह्म ही ब्रह्म रह जाता है। यह ज्ञान-मार्ग कहाता है। निर्गुण-ब्रह्म-निरूपण के लिए यह सब से सरल और उत्तम विधान प्रतीत होता है। परन्तु सुनने में वह जितना सरल और मधुर मालूम पड़ता है उतना ही वह कठिन है। कोई-कोई उसे आरामकुर्सी पर पड़े पड़े सोचने की फिलासफी के समान आनन्ददायक कहते हैं। उस सृष्टि की जिसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं और उन प्राकृतिक विकारों की जिनसे हम कस कर बँधे हुए हैं, किस प्रकार अवहेलना की जाय, उन्हें किस प्रकार भ्रम माना जाय, बड़ी टेढ़ी खीर है। घड़ी भर आँख बन्द कर एकाग्र चित्त हो उसे भूल जाने से काम नहीं चलता। ज्योंही चित्त हटा त्योंही फिर वही संसार-मय व्यस्त पूर्व-स्थिति आ जाती है। इसलिये ज्ञान-मार्ग केवल विचार मात्र से प्राप्त नहीं होता। उसे प्राप्त करने के लिये समस्त प्राकृतिक विकारों पर विजय प्राप्त करने की आवश्यकता होती है, और उन पर विजय प्राप्त करने के लिये कठिन से कठिन निरन्तर श्रम और अभ्यास की आवश्यकता है। इसका अर्थ वही हो जाता है कि जितने प्राकृतिक गुण हैं वे तुम्हें प्रभावित न कर सकें, अथवा तुम उनसे अविचल रहो। इस स्थिति को प्राप्त करने पर तुम निर्गुण ब्रह्म के दर्शन कर सकोगे। जब तक तुम स्वयं निर्गुण न होगे तब तक सगुणता का प्रभाव छूट ही नहीं सकता। इसलिए मुख से कितना ही कहा जाय कि प्रकृति भ्रम है, हमें कर्म-मार्ग से गुजरना

ही पड़ेगा; तब कहीं हम उस भ्रम से छुटकारा पा सकते हैं। सूर्य की किरणों में जल जैसा अथवा रज्जु में सर्प जैसा आभास रूपी प्राकृतिक भ्रम तभी मिट सकता है जब हम उसके पास तक पहुँचें। इस पहुँच के लिए सीधा सरल मार्ग नहीं है। अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक कर्ममय कठिन तपस्या करनी पड़ती है। ज्ञानियों ने जिस प्रकृति को भ्रम-मात्र कहा है वह चाहे भ्रम मान लिया जाय, चाहे सत्य सगुण-स्वरूप, दोनों दशाओं में उससे निवृत्त होने की आवश्यकता है। जब तक सगुणावस्था से निवृत्त न होगे तब तक निर्गुणावस्था का अनुभव नहीं हो सकता। निर्गुणावस्था को प्राप्त करने के लिए ज्ञानियों का आधार योग बल है।* "योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः" या "कर्मसुकौशलं योगः", किसी भी दृष्टि से योग का अर्थ लिया जाय, उसमें सिद्धहस्त होने के लिए निरन्तर कठिन कर्म करने की आवश्यकता रहती है। यदि कोई कहे कि कर्म से निवृत्ति भला कैसे प्राप्त हो सकती है क्योंकि उसका लक्षण प्रावृत्तिक है तो उससे यही कहा जाय कि तुम्हारा प्रश्न निर्मूल शंका-युक्त है। यद्यपि प्रत्यक्ष में इस शंका का समाधान करना कठिन प्रतीत होता है तो भी ध्यानपूर्वक विचार करने पर वह निर्मूल ही पाई जावेगी। यह तो सब को स्वीकार करना पड़ेगा कि सभी मनुष्य मानसिक, आध्यात्मिक दृष्टि से विकास की एक ही श्रेणी में एक ही समय पर नहीं हो सकते। पुनर्जन्म सिद्धान्त में विश्वास करने वालों को यह बात बड़ी सरलता से समझ में आ जावेगी। जब एक ही विकास-सीढ़ी पर नहीं हो सकते तो यह भी असम्भव है कि वे सबके सब सर्वदा के लिए निर्विकल्प समाधि लगाकर निर्गुणानन्द का भोग करें। जो निर्विकल्प समाधि द्वारा निर्गुणानन्द स्थिति में नहीं हैं उसे सगुणावस्था में रहना ही पड़ता है। फिर नित्यनिर्विकल्प-समाधि-

---

*सांख्य शास्त्र में, जो ज्ञान-शास्त्र भी कहाता है, योग का निषेध नहीं है बल्कि उसकी आवश्यकता ही बताई है, 'देखो अध्याय ३ 'रागोपहतिर्ध्यानम्' (राग का नाश ही ध्यान है) और 'वृत्ति निरोधात् तत्सिद्धिः' (वृत्तियों के निरोध से ध्यान की सिद्धि होती है।)

प्राप्त कितने मिलेंगे ? कदाचित् ही कोई मिले। तात्पर्य यह है कि व्यावहारिक दृष्टि से देखने से यह सभी को मानना पड़ेगा कि प्राणि-मात्र को कुछ न कुछ कर्म अवश्य करना पड़ता है, यहाँ तक कि सविकल्प समाधिस्थ योगियों का भी मन अकर्मी नहीं रहता। यथार्थ में जब तक मन काम करता है तभी तक मनुष्य के काम जारी रहते हैं जिनमें से कोई प्रत्यक्ष दिखाई देने लगते हैं और कोई अप्रत्यक्ष ही रहते हैं। कर्म मन का ही व्यापार है। अन्य इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा के अनुसार उसे प्रकट करती हैं। चूँकि मन इतना चंचल है कि उसके कर्म-व्यापार की सीमा नहीं रहती इसलिए विज्ञजनों ने कर्मों को सीमित किया है अर्थात् उनकी संख्या घटा दी है। सबसे प्रथम समस्त कर्मों को वे दो विभागों में बाँट देते हैं एक अच्छे और दूसरे बुरे। जो बुरे हैं वे त्याज्य हो गये। जो अच्छे बचते हैं उनमें से भी कुछ ऐसे होते हैं जो अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए होते हैं और कुछ परस्वार्थ के लिए। स्वार्थ-प्राप्ति के हेतु किये जाने वाले कर्म त्याज्य हैं। यदि उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनमें स्वार्थ और परमार्थ दोनों सधते हों तो वे त्याज्य नहीं, काम्य होते हैं। फिर जो स्वार्थ और परमार्थमय काम्य कर्म हैं उनका हेतु विषय-वासना न हो। जो विषयासक्त हों वे भी त्याज्य हुए। अन्त में विषय-वासनाहीन काम्य कर्मों में से भी वे ही उत्तम कर्म हैं जिनमें फलासक्ति भी न हो अर्थात् परमार्थ युक्त कार्य भी इस अभिप्राय से न किये जावें कि उनसे पुण्य होगा या स्वर्ग मिलेगा। तात्पर्य यह है कि मन की चंचलता युक्त दूषित-प्रवृत्ति को निवृत्ति की ओर ले जाने के लिए कर्म-भाण्डार को विभक्त करके त्याज्य और काम्य कर्म बताने का एक तरीका यह हुआ। कोई उसका विभाग तामसिक, राजसिक, और सात्विक कह कर करते हैं। कोई और भी दूसरे तरीकों से करते हैं। परन्तु सब की तह में त्याज्य और काम्य ये ही दो विभाग रहते हैं। इन काम्य कर्मों की संख्या भी घटाते घटाते इतनी घटा दी जाती है कि वे अत्यन्त अल्प रह जाते हैं। एक ओर कर्मों की संख्या घटाने का आदेश और दूसरी ओर मानसिक प्रवृत्ति पर प्रतिबंध लगाते जाना अथवा रागात्मक बुद्धि का त्याग वा विरागात्मक बुद्धि का ग्रहण कराना, यही दो बातें धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन से विदित होंगी। जब कोई धर्म-पुस्तक

यह कहती है कि अमुक कर्म करो तब उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वह तुम्हें कर्म करने के लिए प्रवृत्त करती है, बल्कि यह समझना चाहिये कि कर्म निषेध-वाचक है और जिस कर्म को करना कहा गया है वह उस निषेध-नियम का अपवाद है। जिन्होंने मनुस्मृति पढ़ी है उन्हें मालूम होगा कि उसमें किसी-किसी जीवधारी का मांस खाने के लिए आज्ञा दी है। मांसाहारी अपने पक्ष-समर्थन के लिए उसको बहुधा प्रमाण स्वरूप बताया करते हैं। परन्तु वे पूरी बात पर ध्यान नहीं देते। उसमें मांस खाना वर्जनीय बताया है। फिर यह भी कहा है कि अगर किसी कारण से मांस खाना आवश्यक हो तो अमुक वस्तु का पहिले, फिर वह न मिले तब दूसरी वस्तु का खा सकते हो, और दूसरी न मिले तो फिर तीसरी वस्तु का इत्यादि। इससे सिद्ध होता है कि मनुस्मृति में जो मांस खाना कहा है वह नियम-विरुद्ध अथवा निषेधात्मक है। यह निषिद्ध भाव ही निवृत्ति-सूचक होता है।

आक्षेप किया जायगा कि हम सब को वनों में भगाकर अकर्मण्य बना देना चाहते हैं। पर हमने कहाँ कहा है कि कर्महीन हो जाओ। हम तो स्वयं ही कहते हैं कि सृष्टि को चाहे भ्रम मानो या यथार्थ; दोनों दशाओं में कर्म करना ही पड़ेगा। हमारा कहना केवल यह है कि तामसिक कर्मों को छोड़ अन्य कोई जो कर्म हों वे सब उतने ही किये जावें कि जो समाज-सुख के लिये नितान्त आवश्यक हों, और वे भी इस ढंग से किये जाँय कि जिससे मन विषय विकारों में प्रवृत्त न हो। सांसारिक कर्म-क्षेत्र की यथार्थता और उसमें प्रत्येक मनुष्य को कर्म किस तरीके से करना चाहिये, इस विषय पर कर्म-योग-ज्ञान किसी को देखना हो तो वह श्रीमद्भगवतगीता को अवश्य पढ़े। पतञ्जलि का योगदर्शन जिन्होंने पढ़ा है उन्हें ज्ञात होगा कि वह शास्त्र संसार को व्यावहारिक दृष्टि से देखकर ही लिखा गया है। सांसारिक कार्यों में दक्षता प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधनों का उसमें समावेश है। पक्षियों की बोली आदि किस प्रकार जानी जा सकती है यह आप उसी में दृष्टान्त स्वरूप पावेंगे। परन्तु साथ ही उसका मूल विषय है चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के उपाय जो उसका प्रथम ही सूत्र है। इसका तात्पर्य यही है कि सकुशल कर्म किये जावें परन्तु वे

निवृत्ति की ओर ही ले जाने वाले हों। निर्विकल्प और सविकल्प समाधि आदि से यही प्रयोजन है कि मन को वश में करना चाहिये। प्रवृत्ति-सूचक विषय-वासनाओं के विस्तीर्ण क्षेत्र से निवृत्ति की ओर मन को ले जाते जाते एक मात्र ईश्वर-चिन्तन के विन्दु पर पहुँचाकर उसे वहीं लगाये रखने को सरलता से समझाने के लिये एक चक्र-व्यूह की कल्पना कीजिए। चक्र के भीतर ईश्वर-चिन्तन केन्द्र-विन्दु है। वह प्रवृत्तियुक्त सृष्टि से घिरा हुआ है जो काली लकीर से निरूपित किया जा सकता है। ईश्वर-चिन्तन के विन्दु को 'क' समझो। 'क' के निकट काली लकीर कम काली है। पर ज्यों-ज्यों वह 'क' से दूर होती जाती है त्यों-त्यों उसमें गहरा कालापन और स्थूलता आती जाती है। इसका अर्थ यह है कि ज्यों-ज्यों मन ईश्वर-ध्यान से दूर भटकता है त्यों-त्यों प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता जाता है। इस लकीर में ऊँचे-नीचे छोटे-छोटे कँगूरे दिखाये जा सकते हैं जिन्हें प्रवृत्ति की अनेक प्रकार की उठती-बैठती लहरें समझो। इन्हीं के आस-पास और इन्हीं में लिप्त होकर मन भ्रमण करता रहता है। अत्यन्त विषयासक्त स्थिति में मन का भ्रमण-क्षेत्र काली लकीर का अन्तिम भाग (जिसे 'ख' समझ लीजिये) होगा। इस स्थिति में मन की निकृष्ट से निकृष्ट वृत्ति रहती है। परन्तु मन में सदैव दो विरोधात्मक शक्तियाँ या वृत्तियाँ रहती हैं। एक प्रवृत्ति और दूसरी निवृत्ति। यथार्थ में ईश्वर-संज्ञा ही इन युगल विरोधिनी शक्तियों-युक्त है। एक ओर यदि मन में काली से काली प्रवृत्ति रहती है तो दूसरी ओर उस भयंकर स्थिति के समय भी उसमें निवृत्तिदायिनी शक्ति कार्य करने को उद्यत रहती है। उस समय वह सूर्य के समान काले बादलों से ढकी अवश्य रहती है। इससे उसे सूक्ष्म प्रकाशमान 'ग' विन्दु से सूचित किया जा सकता है। 'ग' विन्दु से 'क' विन्दु तक सुनहले रंग की रेखा बनाकर निवृत्ति-सूचक मार्ग बताया जा सकता है जो क्रमशः कम प्रकाशमान से अधिक प्रकाशमान होता गया हो। इस सुनहली रेखा का सीधापन और टेढ़ापन इस बात का द्योतक है कि मन निवृत्ति मार्ग पर चलते-चलते विचलित होता जाता है। कभी प्रकाश-रेखा पर चलता हुआ मन कृष्ण-रेखा की ओर भी झुक जाता

है। उदाहरणार्थ एक मनुष्य में कारण-वश विराग भाव उत्पन्न हुआ। उसने घर-गृहस्थी छोड़कर भाग जाने का विचार किया। यद्यपि उसने निवृत्ति साधन को ग्रहण किया तथापि निवृत्ति भाग जाने से प्राप्त नहीं होती। भाग जाना विकारयुक्त प्रवृत्ति मार्ग ही है। परन्तु उसमें ईश्वर प्रेरणा है इससे वह केन्द्र बिन्दु की ओर की रेखा की ओर झुकाव समझा जायगा। कभी मनुष्य इतना निराश हो जाता है कि उसे पूर्ववत् सांसारिक मोहादि की ओर रुचि हो उठती है। इससे उसका झुकाव तिरस्कृत प्रवृत्तिसूचक 'ख' बिन्दु की ओर हो जाता है। इन प्रवाहों में इधर उधर बह जाने के कारण ईश्वर-बिन्दु तक पहुँचते-पहुँचते जीव को (मनुष्य को) अनेक जन्म व्यतीत करने पड़ते हैं। 'ग' बिन्दु से चलना प्रारम्भ कर अध्यात्म विद्या, सत्संगति, योगादि साधनों के आधार को लेकर जब मन आगे को बढ़ता जाता है और अन्त में 'क' बिन्दु की पीयूषधारा पीने लगता है अर्थात् जब उसका आधार ईश्वर चिन्तन-मात्र रह जाता है तो वह सविकल्प समाधि प्राप्त कर लेता है। इसके परे जब ईश्वर- चिन्तन भी नहीं रहता तब पूर्ण निर्गुण स्वरूप हो जाता है। यहाँ पर मैं तुम-वह का भाव सुषुप्तावस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अहंशून्यता आ जाती है जिसके विषय में हम पूर्व में भी अन्यत्र कह आये हैं।

भक्तों का निर्गुण-सगुण

इस तरह पाठकों को अब विदित हुआ होगा कि ईश्वर में केवल निर्गुणता का निरूपण करने वालों के दो दल हुए; एक तो वह, जिसने प्रकृति को ईश्वर से भिन्न कहा, और दूसरा वह, जिसके अनुसार प्रकृति कोई चीज ही नहीं, वह मनुष्य का भ्रम मात्र है। इसके विपरीत जिन्होंने संसार को व्यावहारिक दृष्टि से देखा और ज्ञान-मार्गियों की इस भ्रम वाली बात पर विचार किया तो वह उन्हें कुछ ठीक नहीं जँची। उन्होंने जब यह देखा कि प्राकृतिक गुणों अर्थात् सृष्टि की अवहेलना करना मनुष्य के लिए असम्भव है तो कुछ ने उसे भ्रम कहना तो नहीं छोड़ा पर यह अवश्य बताया कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती; और किसी ने यह स्पष्ट ही कह दिया कि सृष्टि

को भ्रम मानना भूल है। वह तो यथार्थ सत्य है जिसमें ईश्वर के महान् गुण व्यक्त रहते हैं। वह निर्गुण के गुणों की परिणाम स्वरूपा है अथवा वह ईश्वर के कृत्यों का सत्याभास है। यही ईश्वर का सगुण स्वरूप है, जिसका आभ्यान्तरिक रूप आन्तरिक दृष्टि से देख-समझ कर मनुष्य उस महाप्रभु ब्रह्म की महती अनन्त शक्तियों का भक्त होता है। निर्गुण ब्रह्म की इन शक्तियों को सृष्टि रूपी कृत्यों में व्यक्त देखकर ईश्वर-प्रेमी उन्हें अपने कर्त्तव्य-कर्मों का आदर्श बनाकर भवसागर को पार करने का मार्ग पा जाता है। प्रकृतिवादियों में दो प्रकार के विचार रहते हैं। एक वे जो ईश्वर को निर्गुण नहीं मानते अथवा उसे गौण कहकर केवल सगुण उपासक हैं, और दूसरे वे जो निर्गुण स्वरूप के उपासक हैं, परन्तु उसमें सगुणता का आरोप नहीं करते, क्योंकि सगुणता का कार्य ईश्वर से भिन्न प्रकृति का है। इस प्रकृति-वाद और ज्ञान-वाद अर्थात् केवल निर्गुण-स्वरूप-वाद के मध्य में विशिष्टा-द्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत मतों ने, जिनके विषय में हम गत अध्याय में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं, अपने अपने स्थान निर्धारित किये। जो भौतिक संसार को व्यावहारिक दृष्टि से देखते हैं वे समस्त सृष्टि में ईश्वर को कर्म करते हुए पाते हैं। सृष्टि-स्थिति-लय की जो तीन क्रियाएँ संसार में वर्तमान हैं वे ही ईश्वर के कर्म हैं। इन तीनों क्रियाओं के करने में अनेक उपक्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है जो क्रमशः विकास और ह्रास के नाम से कही जाती हैं। इस प्रकार ईश्वर को नित्य प्रति कर्म करने से क्षण भर भी फुरसत नहीं मिलती। परन्तु उसके ये कर्म अनासक्त रहते हैं अर्थात् उसे न कोई इच्छा, राग, द्वेषादि है और न वह किसी फल-प्राप्ति के लिये उन्हें करता है। कर्म करना उसका स्वभाव है। स्वभाव ही कर्मकर्ता है न कि वह*। जब किसी का कोई स्वभाव बन जाता है, आदत या टेव पड़ जाती है—तब उसे उस बात को किये बिना चैन नहीं पड़ती। अनासक्त कर्म करने के गुण का ईश्वर में निरूपण किये बिना मनुष्य-समाज सुखी नहीं हो

---

*न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः
न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (गीता अ० ५-१४)

निर्गुणता की दुहाई देने पर भी सगुणता को नहीं त्याग सके और न त्याग सकते हैं। जो ईश्वर को सृष्टि का आदि कारण अथवा नियन्ता मानते हैं वे किसी भी दशा में उसके सगुण स्वरूप से इन्कार नहीं कर सकते। इसके विपरीत जो केवल सगुण-स्वरूप को मानते हैं उन्हें भी विवश होकर निर्गुण स्वरूप को मानना ही पड़ता है। जो त्रिगुणात्मक प्रकृति को सृष्टि का कारण कहते हैं उन्हें चाहे प्रकृति-वादी कह लो या सगुणवादी वे प्रकृति के सक्रिय गुण को सृष्टि का उपादान कारण या प्रधान कहते हैं। इन गुणों में सक्रियता लाने के लिये उन्हें किसी एक महती शक्ति का निर्माण करना पड़ता है। इसी महती शक्ति को नैयायिक 'निमित्त कारण" और सांख्यवादी सत्तामात्र या पुरुष कहते हैं। जब किसी दर्शन-शास्त्र में "प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः" (प्रधान से चेतन पुरुष का योग कहा जाय तो सङ्गापत्ति होगी) अथवा "श्रुति-रपि प्रधान कार्यत्वस्य" * (श्रुति अर्थात् वेद उपनिषदादि प्रधान ही को जगत्-कारण कहते हैं) इस प्रकार के वाक्य पढ़े जावें तो उसका अर्थ उपादान कारण का ही लेना चाहिये जिसे प्रत्यक्ष, साक्षात् भी कह सकते हों। निमित्त या अप्रत्यक्ष कारण उपादान कारण से कितना ही दूरवर्ती और अज्ञात क्यों न हो, पर आखिर है वह कारण ही। उसके अज्ञात होने से उसका महत्त्व नहीं मिटता वरं वह आदि कारण होने से विशेष महत्त्व का होता है। वृक्ष की विशालता को देख यदि कोई उसके बीज को भूल जावे तो अज्ञान नहीं तो और क्या है? बीज की याद कर यदि कोई उसमें विद्यमान अंकुरित शक्ति को, सक्रिय करने वाली शक्ति को, भूल जाय तो इसमें किस का दोष? कुम्हार द्वारा बनाये हुए अनेक घटादि को देख यदि कोई उसके चक्र और डंड को ही उन घटादि का कारण मान कर बैठ जाय तो सभी लोग उसे मूर्ख कहेंगे। इसके आगे और बढ़कर यदि कोई कुम्हार के हाथ-पाँव आदि इन्द्रियों को

---

* सांख्य अ० ५ सू० ८ और १२

संयोग होने से जो स्थूलादि परिणाम होना अनिवार्य्य है उन्हें सङ्गापत्ति कहते हैं।

ही कारण समझे और उसकी घटादि बनाने की इच्छा को, जो उनका मूल कारण है, भुला दे तो आदि कारण की महत्ता नहीं मिटाई जा सकती। सृष्टि के इस नैमित्तिक आदि कारण का नाम ही इच्छा है, जिसे तत्वज्ञानी मनुष्य की इच्छा से भिन्नता प्रकट करने के हेतु, ईश्वर का ईक्षण कहते हैं। इस इच्छा का प्रकट और लय होना खद्योत के प्रकाश वा अप्रकाश की क्रिया के समान स्वाभाविक गुण है। कुम्हार की इच्छा के सदृश वह मनचाहे जब हाथ-पाँव, चक्र-दंड आदि रूपी प्राकृतिक गुणों के द्वारा स्थूल जगत् तैयार करती है और जी चाहे तब उसे मिटा डालती है। इस इच्छा का स्थान जिस सर्वोपरि शक्ति में है वही परमेश्वर (ब्रह्म) है। यही इच्छा जब सुषुप्तावस्था में या लय-स्थिति में रहती है तब उस परमशक्ति को निर्गुण स्वरूप कहते हैं और जब वह जागरित अथवा प्रकटावस्था में होती है तब उसे सगुण-स्वरूप कहते हैं। इसी भाव को हमने कई स्थानों पर अहं-शून्य और अहं-जाग्रत स्थिति कहकर बताया है। इस विवरण से यह बात अवश्य ही ज्ञात हो गई होगी कि जो सगुण-वादी हैं उन्हें भी निर्गुणावस्था को मानना ही पड़ता है*।

ब्रह्म-जीव में समता

यह पहिले कहा जा चुका है कि मनुष्य अपने अनुरूप ही ईश्वर में गुणों या उपाधियों का आरोप करता है। इसी को दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि जो गुण ईश्वर में पूर्ण रूप से विद्यमान हैं वे ही गुण बीजरूप में मनुष्य में रहते हैं। इसी कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म'

---

* यदि अपने स्वभाव या गुण को अपने सत् (मूल) स्वरूप से अलग कर दिया जाय तो गुण तो उपादान कारण होगा और सत् निमित्त कारण। यही बात गीता के निम्न श्लोक में दर्शाई गई है। 'नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १४। १९। अर्थात् गुण ही कर्ता है और उससे परे मैं (अहंभाव) हूँ। इस पर और अधिक प्रकाश आगे डाला जायगा।

इत्यादि वाक्यों का प्रचार है, जिनके द्वारा ब्रह्म और जीव में समता बताई जाती है। पाश्चात्य देशों में हिन्दू संस्कृति और वेदान्त दर्शन को सकुशल प्रकाशित कर देने वाले स्वामो विवेकानन्द जी के निम्न वाक्य भी उसी ब्रह्म और जीव की समता के द्योतक हैं। उनका कहना है कि मनुष्य में जो पूर्णता पहले से विद्यमान है उसी के प्रकट होने का नाम विद्या है (Education is the manifestation of the Perfection already in man.) और मनुष्य में जो दैवी (दिव्य) शक्ति पहले से विद्यमान है उसी के प्रकट होने का नाम धर्म है (Religion is the manifestation of the Divinity already in man.) यदि ब्रह्म और जीव में सचमुच ही समता है तो ईश्वर के समान जीव भी निर्गुण-सगुण होना चाहिये, और जीव का यह निर्गुण-सगुण स्वरूप उसी अर्थ में घटित हो जिस अर्थ में ईश्वर के विषय में कहा है। ध्यानावस्था तथा निवृत्ति मार्ग पर हम जो विचार प्रकट कर चुके हैं उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह अवश्य ज्ञात होगा कि मनुष्य-जीव में दोनों सगुण-निर्गुण (Positive & negative) क्रियायें रहती हैं। जब उसमें निर्गुणता की प्रधानता पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तब वह गुणों से मुक्त हो जाता है और पूर्ण निर्गुणता को प्राप्त कर लेता है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य को अपने आप में निर्गुणता के दर्शन करने का अवकाश मिलता है चाहे वह क्षणमात्र के लिये ही क्यों न हो। यह तो सभी आदमियों को अनुभव होगा कि जब कभी हम किसी वस्तु-विशेष या विचार-विशेष पर ध्यान जमा लेते हैं तो केवल एक क्रिया को छोड़ हमारी सारी मानसिक क्रियायें, जो यथार्थ में मन के गुण ही हैं, एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण निष्क्रिय हो जाती हैं। मन के व्यापारों को घटाते जाना ही निर्गुणता के निकट पहुँचते जाना है। कभी आपको यह भी अनुभव हुआ होगा कि बिना किसी वस्तु या विचार-विशेष पर मन को केन्द्रित किये हुए ही मन आप से आप स्थिर हो जाता है। इस स्थिति को मन की शून्यता कहते हैं। इस मन-शून्यता में मन का वह पूर्वोक्त चिन्तन-व्यापर भी नहीं रहता। मन-शून्यता को लोग बहुधा मूर्खता या जड़ता का लक्षण कहते हैं। परन्तु जिस मन-शून्यता के विषय में

हम कह रहे हैं वह मूर्ख या जड़ बुद्धिवाले के बारे में नहीं है। यह स्थिति चैतन्य पुरुषों का अन्तिम लक्षण है और उसे प्राप्त कर लेने वाले जड़ सरीखे ही अबोध हो जाते हैं। परन्तु है वह सर्वोच्च आनन्द देने वाली। जड़ भरत ऐसे कई एक पहुँचे हुए महान् पुरुष उसे प्राप्त कर सके हैं। मन के गुणों को घटाते-घटाते एक पर केन्द्रित कर लेने से जितना आनन्द आता है उससे कई गुना अधिक इस एक को भी मिटाकर शून्यता प्राप्त कर लेने में होता है। इसका अनुभव हम सबों को होता है भले ही वह अल्पातिअल्प मात्रा में हो। यही निर्गुणता का बीज हम में है और सगुण हम हैं ही। यदि निर्गुणता प्राप्त करने में हम अपना अभ्यास उक्त क्रियाओं द्वारा बढ़ाते जावें तो अभ्यास-क्रम से हमारे आनन्द का समय भी वृद्धि पाता जायगा। इसीलिये जीव भी निर्गुण-सगुण ब्रह्म ही के समान उपाधि-धारी है। अन्तर केवल इतना है कि जीव, जब तक जीव है, कम सामर्थ्यवान रहता है जिसके कारण वह पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता जो ब्रह्म का लक्षण है। परन्तु जिसमें कार्य का बीजरूप कारण विद्यमान हो और उस बीज को अंकुरित कर उसे वृक्षरूप बना डालने की जिसमें शक्ति भी हो तो वह उस पूर्णता को भी प्राप्त कर सकता है।

: १० :

निराकार-साकार

गताध्याय का सार

निर्गुण-सगुण की अपेक्षा निराकार-साकार का विषय और भी अधिक विवाद-ग्रस्त सिद्ध हुआ है। यथार्थ में साकार-निरूपण का सम्बन्ध अवतार-वाद से है। यदि साकार सफलतापूर्वक सिद्ध किया जा सके तो अवतार को सिद्ध करने में कोई कठिनता नहीं रह जाती। साकार का सिद्ध होना सगुण-आरोप पर निर्भर है। ईश्वर यदि सगुण है तो उसके गुणों का कार्य रूप से प्रकट होना न तो असम्भव है और न अस्वाभाविक ही। जहाँ गुण सक्रिय है वहाँ कार्य अवश्य होगा; और जहाँ कार्य है वहाँ उसका स्वरूप हुए बिना नहीं रह सकता। जिस दृष्टि से गत अध्याय में हमने सगुणता का आरोप किया है उस दृष्टि से एक मात्र सर्वत्र चिन्मयावस्था क्रमशः सूक्ष्माति-सूक्ष्म रूप से प्रकट होकर परिवर्तित होती हुई अन्त में स्थूल दृश्यमान् स्वरूप धारण कर प्रकट दिखाई देने लगती है।

निमित्त और उपादान कारण

जो केवल निराकारवादी हैं, उनमें से कुछ ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं। ऐसा करने में उसमें सङ्गापत्ति का दोष नहीं आ सकता अर्थात् उसको परिणाम-वाची अवस्थान्तरयुक्त विकार (Evolutionary resul s) नहीं छू सकते। विकार-युक्त केवल उपादान कारण होता है, और इसीलिये उनके मतानुसार वही सृष्टि का कारण माना जाता है। निमित्त और उपादान कारण समझाने के लिये अनेक उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। परन्तु कुम्हार और उसके द्वारा बनाये गये घट का दृष्टान्त बहुधा प्राचीन काल से दिया जाता है, इसलिये उसी को ले लीजिये। कुम्हार की इच्छा हुई

कि घड़ा बनाया जाय, इसलिये उसने आवश्यक सामग्री एकत्र करना प्रारम्भ किया। सब से पहिले उसे मिट्टी की ज़रूरत मालूम पड़ी, इसलिये अपने हाथ-पाँव का सहारा लेकर वह मिट्टी लाया। फिर उसमें पानी मिलाकर एक गीला ढेर किया। तत्पश्चात् उस गीले ढेर को चक्र पर रखा और चक्र घुमाया, जिस पर घट तैयार किया। कुम्हार घट बनाने का मूल निमित्त कारण हुआ। परन्तु घट बनाने में इस मूल निमित्त कारण रूपी कुम्हार को मिट्टी के अतिरिक्त अनेक साधनों की आवश्यकता होती है जो अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) और परोक्ष (अप्रत्यक्ष) होते हैं, जैसे बुद्धि-बल अर्थात् हाथ पाँव आदि का योग देना, चक्र दण्डादि का सहारा लेना एवं आकाश-दशा-कालादि परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना इत्यादि। इन अनेक साधनों को साधारण या सामान्य निमित्त कहते हैं। इस तरह घट कार्य हुआ, मिट्टी उसका उपादन कारण और कुम्हार अर्थात् कुम्हार की इच्छा उसका निमित्त कारण तथा अन्य दूसरे परोक्ष या या अपरोक्ष साधन उसके साधारण निमित्त कारण हुए। इस दृष्टान्त को लेकर प्रकृति-प्राधान्य-तत्वज्ञानी प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण और परमात्मा को निमित्त कारण कहकर समझाते हैं। जो प्रकृति और परमात्मा के अतिरिक्त जीव को तीसरा अनादि तत्त्व मानते हैं वे उसको भी निमित्त कारण कहते हैं, परन्तु वह मूल निमित्त कारण नहीं बलिक् साधारण निमित्त कहा जाता है, क्योंकि वह "परमेश्वर की सृष्टि से पदार्थों को लेकर अनेकविधि कार्यान्तर (रूप) बनाने वाला" होता है। इस तरह जो ईश्वर मूल निमित्त कारण है वह स्वयं न बनता न बिगड़ता, न किसी प्रकार से विकृत होता, परन्तु कार्य-रूप सृष्टि को प्रकारान्तर भेद से बना देता है। इसलिये उसमें स्थूलादि परिणाम होने के, अथवा सङ्गापत्ति के, दोष नहीं आ सकते। ये सब दोष बेचारी प्रकृति के मत्थे मढ़ दिये जाते हैं, हालांकि उसे साथ ही साथ जड़ भी कहने में नहीं चूकते। अतः जो साकार रूप सृष्टि है उसका सम्बन्ध उनके मतानुसार, ईश्वर से केवल निमित्त रूप से है, जो प्रकृति रूपी मिट्टी को रचना-चक्र पर रख कुम्हार के सदृश घुमाया करता है। इस कारण साकार सृष्टि ईश्वर का परिणाम-स्वरूप नहीं है।

निमित्त-कारण-वाद की त्रुटियाँ

इस तर्क के अन्दर अन्य और पदार्थों को छोड़ कम से कम तीन भिन्न-भिन्न पदार्थों का विद्यमान रहना अत्यावश्यक है—यथा कुम्हार, मिट्टी और चक्र। कुम्हार मिट्टी और चक्र से भिन्न माना जाता है। इसी प्रकार ये लोग ईश्वर को प्रकृति से भिन्न मानते हैं और इस कारण ईश्वर को प्रकृति का चलाने वाला निमित्त मात्र कहते हैं। परन्तु यदि प्रकृति ईश्वरान्तर्गत मानी जाय तो निमित्त और उपादान कारण का सारा खेल ही मिट जाता है। गत अध्याय में हमने यह सिद्ध करके बताया था कि प्रकृति को अनादि कहने वालों को भी यह स्वीकार करना पड़ा है कि ईश्वर ही सर्वप्रथम तत्त्व (सत्ता है और अन्त (प्रलय) में वही एक रह जाता है। ऐसी अवस्था में अहं और प्रकृति ईश्वर के हिरण्यगर्भ में तद्रूप होकर रहते हैं। अहं जागरित होने पर प्रकृति की तद्रूपता मिटना प्रारम्भ हो जाती है और वह अपने निर्धारित क्षेत्रानुरूप अपना कार्य करने लग जाती है। ज्यों-ज्यों उसकी तद्रूपता मिटती जाती है, त्यों-त्यों वह अवस्थान्तर या कालान्तर-वश भिन्न-भिन्न रूपेण होती जाती है, अर्थात् वह एक से अनेक बनती जाती है। इसी का नाम 'रूपान्तर' या प्रकारान्तर हुआ। यदि इसी भाव को सरल-साधारण भाषा में प्रदर्शित करना चाहें तो यह कह सकते हैं कि प्रकृति समय पाकर धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न स्थितियों को पार करती हुई अपना रूप वा प्रकार बदलती जाती है। निमित्त-कारण-वादी सृष्टि को भिन्न प्रकार की (प्रकारान्तर) इसीलिये कहते हैं कि जिससे ईश्वर की निमित्तता में कोई अन्तर न पड़े, अर्थात् उसमें परिणाम-दोष न आवे। परन्तु किसी भी सूक्ष्म-दर्शी को यह बात रात दिन देखने में आवेगी कि स्थिति-भेद से रूप में इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि कुछ काल पर्यन्त एक ही पदार्थ भिन्न प्रकार का मालूम पड़ने लगता है जैसे बीज और वृक्ष; वीर्य-रज और मनुष्याकृति इत्यादि।

यथार्थ में यह एक स्वाभाविक क्रम है जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म से स्थूलता की ओर बढ़ता जाता है और यह सारा क्रम कारण कार्य के सम्बन्ध से गुँथा हुआ

रहता है जो अनिवार्य्य है। सारा सृष्टि-चक्र मानो एक ठोस गेंद का आवृत्त है जो मध्यस्थ शून्याकार केन्द्र के आस पास महीन से स्थूल होता हुआ उसी शून्य के आधार पर अन्त में अत्यन्त विशाल और ठोस दिखाई देने लगता है। ईश्वर का निराकार इसी शून्याकार केन्द्र के समान है और गेंद का आवृत्त ही मानो उसका साकार स्वरूप है। अन्तर केवल इतना है कि एक में निर्जीवता है तो दूसरे में सजीवता; एक जड़ है तो दूसरा चैतन्य; एक मनुष्य-कृत है तो दूसरे का अपने आप प्रादुर्भाव होता है अर्थात् स्वयंभू है।

निराकार से साकार का होना उसी समय तक सुनने में आश्चर्यमय और असम्भव प्रतीत होता है जब तक कि हमारा तर्क भौतिक पदार्थों से सीमित रहता है। उस दशा में शून्य से सब कुछ होना अथवा निराकार से साकार का होना अपनी विरुद्धता के कारण विश्वास-जनक नहीं होते। परन्तु वही लोग जो निराकार-साकार में वैधर्म्य के कारण विश्वास नहीं करते सैकड़ों विरुद्धात्मक गुणों या धर्मों का आरोप ईश्वर में करते हुए पाये जाते हैं। श्रुति-श्रुति में भेद नहीं, एक ही श्रुति में भिन्न-भिन्न स्थलों पर भेद-वाचक शब्द या वाक्यों का आरोपण पाया जाता है। कोई 'अपाणिपादो' आदि कहकर उसे बिना हाथ-पैर-नाक मुँह-कान-आंख आदि का बताकर आश्चर्यजनक कार्य करता हुआ बताते हैं, और कोई "सहस्राक्ष" आदि अर्थात् हजारहों नेत्र-हाथ-पाँव आदि वाला कहकर उसकी महानता दिखाते हैं। इस पर हम पूर्व में यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं और यह भी कह चुके हैं कि इस प्रकार की विरुद्ध भावात्मक बातों का आरोप होने का कारण द्रष्टा के दृष्टि-कोण और वाणी वा भाषा की अपूर्णता एवं शिथिलता रहती है। क्या यह आश्चर्यजनक विरुद्ध भावात्मक बात नहीं कि निराकार ईश्वर सक्रिय माना जाय? आश्चर्य-जनक भले ही हो, परन्तु वेही लोग जो केवल निराकार उपाधि मानते हैं उसे सक्रिय कहने में नहीं सकुचाते। स्वामी दयानन्द सरस्वती ईश्वर को सगुण तो मानते हैं पर वे उसके साकार होने से इन्कार करते हैं। उनका दावा है कि ईश्वर निराकार होने पर भी महान् कर्त्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय ६ मंत्र

८ * को आधारभूत मान वे कहते हैं कि "जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय न कर सकता। इसलिये वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।" जो विभु चेतन है, जिसमें अनन्त ज्ञान-बल-क्रिया है, जो उत्पत्ति करने वाला है, तात्पर्य यह कि 'जो सर्वशक्तिमान है और जो सब के पूर्व था और होगा' उसके विषय में यह शंका करना कि वह प्रकट नहीं, साकार नहीं, या कि उसका प्रादुर्भाव नहीं, हमारी सम्मति में मान्य नहीं है। सान्त (अन्त होने वाले) पदार्थों का दृष्टान्त देकर तथा अपूर्ण-ज्ञान मय तर्कों के द्वारा अनन्तादि गुणों से विशिष्ट सत्ता का अनुमान करना भ्रान्ति युक्त हो तो क्या आश्चर्य ? जो लघु से लघु कहा जाय और दीर्घ से दीर्घ भी, जो निर्गुण कहा जाय और सगुण भी, जो कर्मयोगी हो और कर्म-संन्यासी भी, जो कड़े से कड़ा न्यायी 'रुद्र' रूप होकर दुष्टों को रुलाने वाला हो और नम्र से नम्र भोलानाथ 'शिव' बनकर शीघ्र प्रसन्न होने वाला कल्याणकारी भी कहा जाय, जो 'वसु' कहलाकर सब में वास करे और सब उसमें वास करें, जो जड़ प्रकृति द्वारा अपने चैतन्य के बल पर कहीं बबूल का तीक्ष्ण काँटा बनकर दिखाई देता हो और कहीं काँटों के बीच में हँसता हुआ गुलाब का फूल; तात्पर्य यह कि जिसमें पग पग पर विरुद्ध-भाव-दर्शी कार्यों का आरोपण किया जाना अनर्थक नहीं समझा जाता हो उसी को यदि कोई निराकार कहे और साकार भी, तो वैधर्म्य की बात क्यों खड़ी की जाती है ? जो अनन्त वा असीम है और इसलिये जिसके गुण, कर्म वा स्वभाव के अनुसार एक नहीं सौ नहीं, सहस्र, अनन्त नाम हैं उसे यदि कोई साकार रूप में देखे तो निराकार रूप में देखने

---

* न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च॥
(स्वामीजी कृत-अर्थ)-परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य और उसको करण अर्थात् साधक सम दूसरा अपेक्षित नहीं। कोई उसके तुल्य और न अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति-अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है।

वाला उक्त द्रष्टा को मूर्ख-अज्ञानी क्यों कहने लगता है? श्री स्वामी दयानन्द जी ने कहा है कि मैंने "दो सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं। परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं। क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण, कर्म, स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् है क्योंकि वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण, कर्म, स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके पढ़ने पढ़ाने से बोध हो सकता है।" इसमें कोई सन्देह नहीं, जैसा कि स्वामीजी ने अन्यत्र प्रथम समुल्लास में लिखा है कि "परमेश्वर का कोई नाम अनर्थक नहीं। (वे) कहीं गौणिक, कहीं कार्मिक और कहीं स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं।" हमारी छोटी सी बुद्धि के अनुसार प्रकट होकर साकार होना परमेश्वर का ठीक उसी प्रकार स्वभाव है जैसा कि प्रकट स्वरूपों को, चाहे वे दृश्य हों या अदृश्य, लय करके निराकार हो जाना। जब ईश्वर सर्वप्रथम था, है और होगा तो उस समय निमित्त शब्द का सम्बन्ध किस से जोड़ा जा सकता है, क्योंकि वहाँ तो एक होने के कारण दो का सर्वथा अभाव ही है। उस एक में स्वयं प्रकट होने की शक्ति होने पर ही दो हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। जब वह एक स्वयं प्रकट होकर दूसरे को बना ले तब भले ही वह भविष्य में उसका निमित्त कारण कहा जाने लगे। जब तक कुम्हार की इच्छा प्रादुर्भूत होती हुई चक्र को प्रकट बना न लेगी तब तक कुम्हार घट का निमित्ति कारण कैसे हो सकता है? कुम्हार की इच्छा चक्र-रूप में प्रकट होगी तभी तो उसके सहारे घट बन सकेगा। ईश्वर से प्रकृति प्रकट हुई जो तुलनात्मक दृष्टि से ईश्वर की अपेक्षा स्थूल मानी जाती है। यहाँ से ईश्वर का साकार होना प्रारम्भ हो जाता है यद्यपि वह साकारता सूक्ष्मातिसूक्ष्म अदृश्य रूप में रहती है। समयान्तर से वही इतनी अधिक स्थूलता प्राप्त कर लेती है कि उसका ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होने लगता है।

हमारे मत से ब्रह्म वह चेतन है जिस में प्रकृति का लय रहता है, और ईश्वर वह चेतन है जिसकी सहयोगिनी प्रकृति प्रकट होकर उसके साथ कार्य-परायण हो जाती है। इस तरह चेतन सत्ता के दो स्वरूप हुए। इन

दोनों में से पहिली निष्क्रिय; दूसरी सक्रिय; पहिली निर्गुण दूसरी सगुण, पहिली निराकार दूसरी साकार, पहली निर्विशेष दूसरी सविशेष आदि है। इन दो स्वरूपों में से कोई ईश्वर-वादी पहिले स्वरूप ब्रह्म को मानते हैं और कोई दूसरे स्वरूप को; और कुछ ऐसे हैं जो अवस्थान्तर अथवा स्थिति-भेद से दोनों को मानते हैं। दूसरा स्वरूप प्रकृति-प्राधान्य है, जिसमें चेतन और प्रकृति के संयोग से सृष्टि-कार्य (प्रकट, स्थिति, लय) चलता रहता है, और इसलिये उसके मानने वाले ईश्वर को सक्रिय और साकार मानते हैं। कोई कोई इस साकारता के कारण अवतार-वाद में भी विश्वास करते हैं।

अब देखिये, उक्त दूसरे स्वरूप को मानने वालों के एक ही कोटि के अन्दर दो पक्ष हुए। एक ने कहा "ईश्वर साकार है, और जो यह दृश्यमान् जगत् है वह ईश्वर का ही स्वरूप है", और दूसरे ने कहा "नहीं जी, वह तो निराकार है, जो यह दृश्यमान् जगत् है वह प्रकृति का स्वरूप है।" बस! इसी पर दोनों की बहस छिड़ गई। तीसरा वहाँ कोई नहीं जो यह छेड़ देता कि "भाई लड़ो मत; वह तो निराकार-साकार दोनों है।"

मन, बुद्धि, और अहंकार* एक ही वस्तु (प्रकृति) की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। जैसे बाल, युवा, वृद्ध एक ही व्यक्ति के समयानुसार स्वरूप हैं वैसे ही मन बुद्धि-अहंकार को जानना चाहिये। 'चित्त' को इन तीनों से अलग इसलिये कर देते हैं कि वह स्वयं विकारवान् नहीं है। उसपर केवल स्फटिक या दर्पण के समान इन तीनों विकारों का आभास होता है, अथवा वह एक प्रकार का अनुभूतियों का कोष है जिसे मन, बुद्धि, अहंकार अपने अपने कृत्य फलों से भरते रहते हैं। यही कारण है कि चित्त को छोड़कर श्री मद्भगवद्गीता में आठ प्रकार की प्रकृति कही है —

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ अ० ७ श्लोक ४॥

---

*पूर्व वर्णित 'अहं' और जीव-साथी 'अहंकार' की भिन्नता पर पाठक अवश्य ध्यान रखें।

अर्थात् पृथ्वी (भूमि) जल (अप् या आप) अग्नि (अनल), वायु, आकाश (खं), मन, बुद्धि और अहंकार, ये आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी प्रकृतियाँ हैं।*

सो यह उक्त आठ प्रकार की प्रकृति जड़ है जिसे 'अपरा' कहते हैं। इस 'अपरा' प्रकृति में शक्ति, स्फूर्ति या चेतनता (animation; life) लानेवाली एक दूसरी प्रकृति उसमें विद्यमान है, जिसे 'परा' प्रकृति कहते हैं। इसी 'परा प्रकृति' को 'जीवभूत' और 'अपरा प्रकृति' को 'जड़भूत' या केवल 'भूत' कहते हैं। 'जीवभूत' का अर्थ हुआ वे (जड़) भूत जिनमें जीव या चैतन्य (life) हो। यही बात गीता के अगले ५वें श्लोक में कही है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ अ० ७ श्लोक ५॥

अर्थ—सो यह (आठ प्रकार की भेदों वाली) तो 'अपरा' है (अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है); और हे महाबाहो! इससे (परे या इसमें छिपी हुई) दूसरी को 'परा' प्रकृति जानो, जो 'जीवभूत' अर्थात् चैतन्य होने के कारण इस सम्पूर्ण जगत् को धारण किये है।

इस 'अपरा प्रकृति' को 'अधिभूत' और 'परा प्रकृति' को 'अधिदैव या पुरुष' संज्ञा भी दी है। जैसा कि अ० ८ श्लोक ४ से विदित होगा। इस 'परा प्रकृति' या 'अधिदैव' से परे उसी में छिपी हुई शक्ति देने वाली सर्वव्यास एक शक्ति और है। यह वही 'अहं' युक्त सर्वशक्तिमान् सत्ता है, जो सृष्टि का मूल (आदि) कारण है। वही सारे संसार को बनाती मिटाती रहती है। वही यज्ञ-रूप हो अपने कृत्यों का हवन, (त्याग अथवा अनासक्त कर्म) करती रहती है। वही अपने आस-पास चुम्बक पत्थर के समान इन्द्रियों आदि का आकर्षण

---

*किसी-किसी टीकाकार ने पंचभूतों का अर्थ स्थूल पंचभूत न लेकर उनकी तन्मात्राओं का लिया है! तन्मात्रा उस अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को कहते हैं जिससे भूतों के किसी प्रत्यक्ष लक्षण का अनुभव नहीं हो सकता। परन्तु इसी प्राथमिक सूक्ष्म अवस्था से स्थूल-भूत की उत्पत्ति होती है। इसे एक प्रकार से रेखा का विन्दु कहिये। विन्दु का कोई आकार (लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि) नहीं माना जाता, फिर भी उसी विन्दु से रेखा खिच जाती है।

करता है, क्योंकि कर्तृत्व अथवा सृष्टत्व उसका स्वभाव है। यही सिद्धान्त गीता के समस्त अध्यायों में (पहिले को छोड़कर जिसमें अर्जुन-विषाद का ही वर्णन है) प्रचलित दर्शनों का विचार करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से सिद्ध किया गया है। एकत्व पर पहुँच जाना ही 'योग' है। इसीलिये प्रत्येक अध्याय का अन्त 'योग' शब्द कहकर ही किया गया है। उसी सिद्धान्त को निम्न श्लोकों में देखिये।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ अ० ७ श्लोक ६ ॥

अर्थ—(इसे उक्त श्लोक ४ और ५ के साथ पढ़िये)—इनसे (अर्थात् उक्त अपरा और परा प्रकृतियों से) सब भूतों को उत्पन्न जानो; और 'मैं'* (अहं) ही (इन प्रकृतियों सहित) परिवर्तित जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ अ० ८ श्लोक ४ ॥

---

*गीता, रामायण, इत्यादि धर्म-ग्रन्थों में जहाँ कहीं उपदेशार्थ श्रीकृष्ण भगवान् और मर्यादा (पुरुषोत्तम) रामचन्द्र ने उत्तम (प्रथम) पुरुष सर्वनाम 'मैं' को कर्ताकारक में या अन्य कारकों की विभक्ति-युक्त प्रयोग किया है, वहाँ अहं-युक्त अव्यक्त ईश्वर संज्ञा से प्रयोजन समझना चाहिये, न कि व्यक्त नाम वा रूपधारी कृष्ण या राम से। इसी तरह बाइबिल में महात्मा यीशू के कहे हुए वाक्यों पर विचारना चाहिये। व्यक्त कृष्ण, राम, यीशू इत्यादि पर ध्यान जाने पर पाठक भ्रम में पड़ जाते हैं। जो ऐसा विचार करते हैं उन्हें गीता में कृष्ण भगवान् ने स्वयं अबुद्ध कहा है :—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
अ० ७ श्लोक २४

अर्थ—(देहभृतांवर) हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! जो (अर्थात् अपरा प्रकृति) विनाशवान् है 'वही अधिभूत है' जो पुरुष (अर्थात् अपरा प्रकृति में अधिष्ठित शक्ति-स्वरूप परा प्रकृति) है वही अधिदैव है और इस देह (अर्थात् परा प्रकृति, अधिदैव, या पुरुष नामी अधिष्ठित शक्ति) में मैं ही (अहं ही) यज्ञ रूप होकर (उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि में) संलग्न हूँ।

> ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
> मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ अ० १५ श्लोक ७ ॥

(इस श्लोक के अर्थ पर टीकाकारों में समानता नहीं है । हमने जितनी टीकायें देखी हैं उनमें संक्षिप्तता और सार्थकता की दृष्टि से हमें एफ० टी० ब्रुक्स द्वारा दिया हुआ अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत हुआ । इससे उसीको देते हैं।)

"A Ray of ME in Life—Sphere [Pure]
Transformed to deathless Life-Spark there,
Draws round it Mind and senses five,
of [outer] Nature denizens."

उक्त टीकाकार ने उपर्युक्त परा और अपरा प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करके अर्थ किया है, जिसका भावार्थ निम्न प्रकार से होगा ।

अर्थात् अबुद्ध जन ही मुझ अव्यक्त को छोड़, जो अनुत्तम (अर्थात् जिससे उत्तम और कुछ नहीं) है और जो अविनाशी, अजन्मा, आदि परम भाव युक्त है, व्यक्त (अर्थात् प्रपंचरूपी दृश्य पदार्थ) को भजते (मानते) हैं । तात्पर्य यह है कि अव्यक्त ईश्वर के सच्चे स्वरूप को जाने बिना जगत् की वस्तुओं को ब्रह्म कहना बड़ी भूल है । श्री श्रीधर स्वामी जी ने उक्त श्लोक पर टीका लिखते हुए कहा है कि 'ब्रह्म का स्वरूप बिना जाने इस मिथ्या जगत् के भाव को मन में रखकर उसे ही ब्रह्म कहने से ब्रह्म भी जगत् की तरह मिथ्या पदार्थ हो जाता है । पर यदि ब्रह्म का भाव समझकर जगत् को ब्रह्म कहा जावे तो वही ठीक है । इसलिये जो लोग परमात्मा का स्वरूप बिना जाने इन्द्र, वरुण, राम, कृष्ण आदि देवताओं को परमात्मा कहते हैं, वे लोग मूर्ख हैं ।''

जीवलोक (अथवा जीव-क्षेत्र जो जड़-क्षेत्र से भिन्न है) में मेरा ही अंश (अहं) है, जो वहीं पर सनातन (अनन्त, सदा) जीवभूत (परा प्रकृति) होकर स्थित रहता है और अपरा प्रकृति में स्थित मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को (याने इन छहों को) अपने आस-पास आकर्षण करता रहता है (अर्थात् चुम्बक के समान उन्हें चक्कर खिलाया करता है।)

इस अहं रूप सर्वव्याप्त महती शक्ति का महत्त्व गीता के अ० १४ श्लो० २७ में स्पष्ट कर दिया है। 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठा अहम्' अर्थात् अहम् ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा (स्थिति) है।*

इस सृष्टि के तीन दृश्य होते हैं (१) विनाशवान् जड़ देह (Form Side) (२) उसके अन्तर्गत स्फूर्तिदायिनी शक्ति (Power Side) और (३) इस शक्ति में भी अधिष्ठित यज्ञ स्वरूप सर्वव्याप्त अहं (Sacrifice Side)। इन तीनों विभागों को अच्छी तरह से जान लेने पर यह विदित होगा कि अहं रूप त्रसरेणु, अणु, परमाणु की कौन कहे, उनमें स्थित स्फूर्तिदायिनी परा प्रकृति (Power Side) को भी, जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, वश में करता है। अपरा प्रकृति परमाणुओं से कितनी सूक्ष्म है !! जिसमें पंचभूत ही नहीं बल्कि मन, बुद्धि, अहंकार सरीखे सूक्ष्म तत्त्व हों उस अपरा प्रकृति (अधिभूत) से तो परमाणु आदि का क्षेत्र कोसों दूर ही जानना चाहिये। इसलिये यह कहना कि यदि ईश्वर साकार माना गया तो वह त्रसरेणु आदि वा प्रकृति अर्थात् सूक्ष्म पदार्थों को वश में नहीं कर सकेगा, निरी भूल है। परा प्रकृति अपनी अधिष्ठित सूक्ष्मता के कारण अपरा प्रकृति को, और अहं अपनी अधिष्ठित सूक्ष्मता के कारण परा प्रकृति (पुरुष या अधिदैव Essence of Spirit or Power) को वश में करता है।

---

* संस्कृत में स्था' (तिष्ठ) धातु का अर्थ होता है स्थित होना (to stand) 'प्र' उपसर्ग के साथ प्रतिष्ठा का अर्थ हुआ आगे प्रादुर्भूत होने वाली स्थिति।

साकार स्वाभाविक गुण है

वश में करना या न करना यह एक गुण है—स्वभाव है। जैसे सूर्य का गुण है प्रकाश देना। सूर्य-गुणी से उसका प्रकाश-गुण अलग हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार अहंयुक्त ब्रह्म से प्रकृति अलग नहीं रह सकती तथा उसका प्रकृति के संग से साकार का होना भी अलग नहीं किया जा सकता। वह तो उसका स्वाभाविक गुण है। जिस प्रकार मनुष्य का साथ उसकी परछाईं नहीं छोड़ती उसी प्रकार ईश्वर का साथ साकारता नहीं छोड़ सकती।

शाङ्कर मत में साकारता

यह बात शंकराचार्य ने विवेक चूड़ामणि में कही है कि परमात्मा से जगत् (जगत् ही साकार है) पृथक् नहीं है।

> अतः पृथङ् नास्ति जगत्परात्मनः
> पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत्
> आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता
> धिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥२३७॥

अर्थ—"इसलिये परमात्मा से पृथक् जगत् है ही नहीं, उसकी पृथक् प्रतीति तो गुणी से गुण आदि की पृथक् प्रतीति के समान मिथ्या ही है; आरोपित वस्तु की वास्तविकता ही क्या ? वह तो अधिष्ठान ही भ्रम से उस प्रकार भास रहा है क्योंकि (नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य) अधिष्ठान से आरोपित वस्तु की पृथक् सत्ता हुआ ही नहीं करती।"

यद्यपि अधिष्ठान से आरोपित वस्तु की, अथवा गुणी से गुण की पृथक् सत्ता नहीं हो सकती और इसलिये उसके कारण सत्ता के एकत्व में दो होने की बाधा नहीं आ सकती, तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि गुणी ही गुण है या कि गुण ही गुणी है। राम मीठा बोलता है। न तो राम मीठा बोल है और न मीठा बोल ही राम है, हालां कि राम एक ही है और मीठे बोल का अस्तित्व राम के अस्तित्व पर ही निर्भर है। राम का अस्तित्व सत्य है, तो यह भी सत्य

है कि उसका मीठा बोल अवश्य होगा। इसी प्रकार जब तक अहं* का अस्तित्व है तब तक साकार जगत् का भी अस्तित्व होगा, क्योंकि एक गुणी है और दूसरा उसका गुण। जब यह कहा जाता है कि जगत् मिथ्या है तब यह नहीं समझना चाहिये कि उसका अस्तित्व ही झूठ है बल्कि यह जानना चाहिये कि उसका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं अर्थात् वह दूसरी सत्ता नहीं। वह अहंरूप ईश्वर सत्ता का गुण मात्र है। इसलिये जब तक अहं सत्य है तब तक साकारता भी सत्य है, और जब अहं ही विलीन हो जाय तो साकारता (जगत्) भी विलीन हो जायगी। जिस स्थिति में अहं विलीन रहता हो उसका नाम ब्रह्म है। जब इस ब्रह्म सत्ता का ध्यान करते हैं तब जगत् को मिथ्या समझना चाहिये। उस समय ब्रह्म में कोई गुण नहीं रहता, अथवा यह कहिये कि गुणों का जन्मदाता अहं भाव ही लय रहता है। यही कारण है कि भगवान् शंकराचार्य ने कहा है कि जगत् परमात्मा से पृथक् नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् है ही नहीं। जो लोग जगत् का या साकार स्वरूप का अणु, परमाणु आदि के सिद्धान्त को लेकर स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध करते हैं अथवा जो ईश्वर को केवल साकार रूप मानते हैं उन्हीं के लिये यह कहा गया है कि साकारता (जगत्) कोई एक स्वतंत्र सत्ता नहीं; वह सत्ता नहीं, केवल गुण है और उसका होना न होना परमात्मा पर निर्भर है। इसलिये जो साकार स्वरूप को स्वतंत्र रूप से सत्ता मानते हैं उनका ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि वे गुण को ही गुणी समझने लगते हैं। एक गुणी के गुण को दूसरी सत्ता (वस्तु) मान लेना ही भ्रम अथवा अविद्या है। 'सीप' वस्तु के 'चमक' गुण को 'रजत' वस्तु मान लेना भूल है अर्थात् एक वस्तु के स्थान में दो भिन्न वस्तुयें समझना अज्ञान है यद्यपि जब

---

*अहं और अहंकार में क्या अन्तर है इस पर पाठकों को अवश्य ध्यान रखना चाहिये। एक ईश्वरीय गुण है दूसरा प्रकृति का; एक में प्रकृति अंकुरित ही होती है, दूसरी में प्रकृति अपना पूरा नृत्य करती है; एक ईश्वर की उपाधि है, दूसरी जीव की इत्यादि। अंग्रेजी में अहं को बड़े अक्षरों 'Self' से लिखकर और अहंकार को 'egoism' द्वारा प्रदर्शित करते हैं।

तक सीप है तब तक उसकी चमक अवश्य रहेगी। इसी तरह रज्जुसर्प और मृग-जल आदि दृष्टान्तों के बारे में समझना चाहिये। यदि स्थिति-भेद के कारण शङ्कराचार्य परमात्मा को सगुणी और साकार नहीं मानते तो (१) वे अपने भगवद्गीता भाष्य में ऐसा क्यों लिखते—"साकार प्रतिपादक श्रुतीनां न विरोधः" अर्थात् साकार कहने वाली श्रुतियों से विरोध मत करो (२) वे शिव, विष्णु, गंगा, सूर्यादि के अनेक स्तोत्र लिखकर उनकी स्तुति क्यों करते (३) दश उपनिषदों में सैकड़ों स्थानों पर ईश्वर का अवतार अपनी लेखनी से क्यों लिखते, और (४) शङ्कर दिग्विजय में यह क्यों लिखा होता—

अथ ब्रह्मावतारस्य शिवस्योपासनं श्रुतौ।
प्रोक्तं तस्य निराशोनो कर्त्तुं केनापि शक्यते॥

अर्थ—ब्रह्मा का अवतार और शङ्कर का पूजन जो वेद-विहित है, किसी की सामर्थ्य नहीं है जो उसका खण्डन कर सके।" *

यद्यपि गुणी के गुण का आरोप करना अविद्या है तथापि गुणी के रहते गुण मिट नहीं सकता।

प्रपञ्च जगत् अर्थात् प्रकृति आरोपित गुण है और अधिष्ठान—अहं गुणी! यह अहं ही अवस्था-भेद से ईश्वर वा जीव संज्ञा कहलाता है। जिस प्रकार दशा, देश वा काल-युक्त बाह्य कारणों से सूर्य का प्रकाश-गुण कम या अधिक, रंग-विरंगा दिखाई देने लगता है और सूर्य उन विकारों से अविकृत ही रहता है, उसी प्रकार प्रकृति-गुण में परिवर्तन हो जाने से सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, छेदन, भेदन, तृषा, क्षुधादि विकारों का अधिष्ठान अहं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी अधिष्ठान को देही भी कहते हैं। जब वह देही है तो प्रकृति उसकी देह। जब वह आत्मा कहा जाता है तो प्रकृति अनात्मा। धर्मग्रन्थों अथवा तत्त्वविषयक ग्रन्थों में आत्मा शब्द का प्रयोग दो विपरीत अर्थों

---

* उपर्युक्त चारों बातें श्री कालूराम जी शास्त्री द्वारा रचित अवतार मीमांसा (द्वितीयावृत्ति पृष्ठ २६) के आधार पर लिखी गई हैं।

में किया हुआ पाया जाता है जिससे पाठकों को भ्रम हो जाना आश्चर्यजनक नहीं। उदाहरणार्थ न्याय और वैशेषिक के उन सूत्रों को देखिये—

इच्छा द्वेषप्रयत्न सुख-दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

—न्यायसूत्र (अ० आ० १ सू० १०)

[इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख इत्यादि आत्मा के (पहचानने के) चिह्न हैं]

प्राणापान निमेषोन्मेष मनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः
सुख दुःखेच्छा द्वेषौ प्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि॥

—वैशेषिक सू० (अ० ३ आ० २ सू० ४)

[प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, मन और इन्द्रियों की गति, अन्तर विकार, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आत्मा के (पहचानने के] चिह्न हैं]

इनमें आत्मा के लक्षण सुख, दुःख, इच्छा द्वेषादि बताये हैं और गीतादि अन्य ग्रन्थों में आत्मा को उनसे परे कहा है। अतः ग्रन्थ का अध्ययन करते समय यह अवश्य देखना चाहिये कि किस ग्रंथ में किस संज्ञा का प्रयोग किस अर्थ में किया है अन्यथा भ्रम उत्पन्न होकर कुछ का कुछ समझ में आ जावेगा। गीता में आत्मा, अहं, अधिष्ठान, देही आदि शब्दों का प्रयोग उसी सत्ता के लिये किया है जो सर्वव्याप्त होकर प्रकृति रूपी देह या गुण से बिलकुल परे और अविकृत रहती है। उसी के विषय में भ्रम में पड़े हुए असीम विषाद-युक्त अर्जुन को, जो अपने भ्रम-पूर्ण अज्ञान में ही ज्ञान की डींग मार रहा था, भगवान् श्रीकृष्ण ने भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों द्वारा गीता के दूसरे अध्याय में ११ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक यह कहकर समझाया है कि जिसको तू समझता है कि आत्मा है वह तो केवल प्रकृति का स्वरूप है, आत्मा तो अमर-अजर है, उसे प्राकृतिक दोष छू भी नहीं सकते। उनमें से हम यहाँ पर केवल निम्न उन श्लोकों को ही देते हैं जिनका सम्बन्ध स्पष्टतः प्रस्तुत विषय से है:—

"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदाः।

पूर्वार्द्ध श्लोक १४

अर्थ—इन्द्रियों की वृत्ति और उनके विषयों का संयोग ही शीत, उष्ण, सुख दुःखादि का कारण होता है, (जो 'आगमापायी' अर्थात् आने-जानेवाले याने उत्पन्न नाश होनेवाले और 'अनित्य' होते हैं, जैसा कि उत्तरार्ध श्लोक में कहा है।)

टिप्पणी – वृत्ति नाम स्वभाव का है। विषय पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। एक-एक विषय से सम्बन्ध स्थापित करनेवाली एक-एक ज्ञानेन्द्रिय है। और जब कोई ज्ञानेन्द्रिय अपने इष्ट विषय से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है तब आवश्यकतानुसार उसे भोग करने के लिये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने क्षेत्र में कार्यतत्पर हो जाती हैं। इन्हीं के सुख दुःखादि की प्रतीति, मन बुद्धि, अहंकार को होती है। 'मात्रास्पर्शास्तु' का अर्थ यही 'इन्द्रिय-वृत्तियाँ, और उनका विषय-संयोग' है। शङ्कराचार्य ने कहा है कि जब एक ही विषय से बंधे हुए जीवधारी उसके कारण मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं तो मनुष्य का क्या ठिकाना जो पाँच विषयों का भक्ष्य बना है।*

नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

---

* "शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग मीन—
भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम्।"

अर्थ—"अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुए हिरण, हाथी, पतङ्ग, मछली और भौंरे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, फिर इन पाँचों से जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है?"

हरिण को मुग्ध करने वाला विषय 'शब्द', हाथी को 'स्पर्श' (संभोग), पतङ्ग को 'रूप', मछली को 'रस' और भौंरे को 'गन्ध' है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अर्थ—इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते, न इसको आग जला सकती और न जल ही गीला कर सकता और न वायु सुखा सकती है ॥२३॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य (जो छेदी न जा सके) अदाह्य (जलाई न जा सके), अक्लेद्य (भिगोई न जा सके) तथा अशोष्य (सुखाई न जा सके) है; और यह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाली सनातन है ॥२४॥

यह आत्मा (देही) सब देहों में स्थिर रहते हुए भी अबध्य (जिसका बध न हो सके) है; इसलिये हे अर्जुन ! सम्पूर्ण भूतों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे सर्वभूतों के लिये शोक करना उचित नहीं है ॥३०॥*

लिङ्ग देह और जीव-देही

इतना सब कह जाने पर भी आपके मन में यह शंका बनी रहना सम्भव है कि जिस दुःख का हम साक्षात् अनुभव कर रहे हैं वह कैसे भुलाया जा सकता है ? वह कैसे भ्रम-मात्र या कल्पना मात्र कहा जा सकता है ? जब आत्मा को हानि नहीं पहुँचती, जब देह को—स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् अपरा और परा प्रकृति याने सर्वभूतों को—हानि नहीं पहुँचती, जिससे वे शोच करने योग्य नहीं है और जब जीव को हानि नहीं पहुँचती तो फिर क्या किसी को दुःख

---

*३० वें श्लोक में 'भूतानि' शब्द बहुवचन है, जिसका एकवचन 'भूत' है। भूत संज्ञा भू (भव) धातु से बनी है जिसका अर्थ है 'होना' (To be) जो होवे वही भूत है। भूत रूपी देह में आत्मा देही है। भूतानि का अर्थ कई टीकाकारों ने भूतप्राणियों या जीवभूतों से लिया है और प्रसङ्गानुसार अर्जुन के लिये ऐसा अर्थ उपयुक्त भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपने सम्बन्धियों से लड़ना नहीं चाहता था। परन्तु हमारी समझ में 'सर्वाणि' विशेषण के साथ उसका अर्थ 'जीवभूत' से ही सीमित नहीं रखना चाहिये। उसका अर्थ उसी विस्तृत रूप से लेना चाहिये जैसा कि हम पहले कह चुके हैं।

ही नहीं होता ? अगर नहीं होता तो दुःखादि क्यों मालूम होते हैं और किसे मालूम होते हैं ? इसका उत्तर यही है, कि मन, बुद्धि, अहंकार को मालूम होते हैं। यदि ऐसा है, तो उन्हें शोचनीय क्यों नहीं कहा ? वे भी तो आत्मा के देह हैं, वे भी तो 'सर्वाणि भूतानि' के अङ्ग होने के कारण उनसे अलग नहीं हो सकते। *यदि वे भी शोचनीय नहीं हैं तो फिर शोचनीय क्या है ? शोचनीय है, उनका अज्ञान, जिसे अविद्या, भ्रम तथा माया भी कहते हैं। मन-बुद्धि अहंकार उस मूर्ख जुलाहे के समान हैं जिसे किसी पण्डित ने कह दिया था कि जब तेरे मुख से खून निकले तब तू समझना कि तेरी मृत्यु होने वाली है। एक दिन ताना-बाना लगाते समय उसके मुख में लाल रंग का धागा चिपक गया। उसकी स्त्री भी मूर्खा थी। भाई, बन्धु, कुटुम्बी, पड़ोसी भी मूर्ख थे। सबको पण्डितजी द्वारा कही हुई भविष्य-वाणी ज्ञात हो चुकी थी। उस मूर्ख को किसी ने कह दिया कि अरे तेरे मुख से क्या लाल-लाल निकल रहा है इसे पोंछ डाल। बस, वह घर आया, मारे रंज के सिसकता हुआ पड़ रहा। उसने सोचा कि अब मैं मरने वाला हूँ। रोना शुरू कर दिया। उसकी स्त्री तथा अड़ोसी-पड़ोसी भी रोने लगे और लगे चिल्लाने कि बापरे-दादारे अब यह मरा। रोने का बाजार गर्म हो गया। इतने में पंडितजी आये; उन्होंने कहा मूर्खो ! यह तो खून नहीं, धागा है ! कैसे अज्ञानी हो ? यदि थोड़ा भी विचार से काम लेते तो क्या इस भ्रमान्धकार को मिटा नहीं सकते थे ? धत् तुम्हारे अज्ञानियों की !! बस, इसी तरह मन-बुद्धि-अहंकार रूपी जुलाहा अपना ताना-बाना बुनते समय अविद्या-वश सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा समझता रहता है और अपनी कल्पनाओं की दुनियाँ रचा करता है। जिसमें जितनी ज्यादा मूर्खता होती है अर्थात् जिसका बुद्धि (विवेक) विकास जितना कम होता है उतना ही अधिक वह अपने आप को दुखी बनाता है। अज्ञानी समूह की जब विवेकी पंडितजी द्वारा आंखें खुलीं तब रोने के स्थान में हँसी आ गई और सब

---

* पञ्चभूतों की तन्मात्राओं का अहंकार रूप ही 'मन' है (मनः शब्देन तत्कारण भूतोऽहंकारः) और बुद्धि तथा अहंकार 'मन' से उपजते हैं।

आनन्दमय हो गये क्योंकि अज्ञानान्धकार मिटकर सत्य प्रकट हो गया, जो प्रकाशमय होता है। इसी प्रकार जब विवेक-सूर्य प्रकट होता है तब मनादि का अंधकार मिट जाता है, और तब फिर वे अपने पूर्वभ्रम-पूर्ण कृत्यों पर पश्चात्ताप करते हुए आश्चर्य करने लगते हैं कि कितने घोर अन्धकार में अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। अतः यह अविद्या ही दुखी बनाने का कारण है, वही शोचनीय है और उसी से निकलकर भागना चाहिये।

लिङ्ग शरीर के दोषों का आरोपण जीव में

सम्भव है इतने पर भी आप को सन्तोष न हो। आप कह सकते हैं कि इस प्रकार के कल्पित दृष्टान्तों द्वारा सिद्धान्त-दर्शन भले ही कराया जा सके, परन्तु यथार्थ जीवन में उनका कोई विशेष मूल्य नहीं है। इसलिये यथार्थ जीवन से बताइये कि दुःख-सुखादि मनादि के कल्पित व्यापार हैं। इसका सीधा उत्तर है कि अहंकार (अर्थात् "मैं हूँ" युक्त भाव) को थोड़े समय के लिये सुला या भुला दीजिये। इसके समझने में भी कठिनता हो तो अहंकार की बात छोड़कर 'मन' ही को ले लीजिये क्योंकि मन ही का दूसरा स्वरूप तो अहंकार है। मन को सुला दीजिये। उसको सुलाने की सरल विधि है कि उसका ध्यान किसी एक बात पर लगा दीजिये। वह एक चंचल उपद्रवी बालक के समान है। कोई एक खिलौना उसे दे दीजिये। जब तक उसका ध्यान उस खिलौने में रहेगा तब तक सब उपद्रव शान्त रहेंगे। एक छोटा उदाहरण लीजिये। आप के हाथ में एक पुस्तक है। उसके पढ़ने में आपका ध्यान लगा है। इसी को कहते हैं मन लगा है, दिल लगा है। मन के इस एक ओर लगजाने से वह दूसरी ओर सो रहा है। और इससे उसे यह ज्ञात नहीं कि कहाँ क्या आपके शरीर में या बाहर हो रहा है। मच्छड़ आया, काट गया; मक्खी आई, बैठकर उड़ गई; खटमल निकला और काट कर सट से छिप गया; चीटीं भी चढ़कर आप के शरीर पर भ्रमण करने लगी, पर आप का मन नहीं उचटा। क्या आप को कुछ कष्ट हुआ ? नहीं, क्योंकि मन महाशय दूसरे खेल में लगे हैं। अब पुस्तक बन्द कर दीजिये और मन को ध्यान-बन्धन से मुक्त

कर दीजिये, फिर देखिये, कि मच्छड़, खटमल आदि का जरा भी काटना, चींटी का जरा भी रेंगना आप को कितना परेशान करता है। मारे इन तकलीफों के तहस-नहस हो जाते हैं और गाली बकना, हाथ पैर फटकारना, कीटाणुओं को पकड़-पकड़ कर मारना इत्यादि सैकड़ों प्रकार से स्वेच्छाचारी मन-महाशय आपको तंङ्ग करके आप खुद मौज उड़ाते हैं। इस छोटे से दृष्टान्त के आधार पर आप यह भी अनुसन्धान लगा सकते हैं कि जिस गहराई के अनुपात से जितनी देर तक मनुष्य अपने मन को एक स्थान पर लगा सकता है उसी अनुपात से उतनी ही देर तक उसे सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष घात, आघात, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि व्याप्त नहीं होंगे, यहाँ तक कि अँगुली का कट जाना या उससे भी और अधिक यन्त्रणाएँ नहीं सता सकतीं। योगियों के शरीराङ्गों को काट डालना, रण-क्षेत्र में संलग्न वीर का अङ्ग-विच्छेद होना, ध्यानावस्थित विद्यार्थी के सम्मुख से सेनादि का निकल जाना। किसी भी प्रकार के बाह्य या आन्तरिक विकार को लीजिये सब मन के व्यापार मालूम होंगे। मन बँधा है तो कुछ नहीं है, और यदि मुक्त है तो दुनिया की सभी उछाड़-पछाड़ मौजूद है। इसीलिये तत्वज्ञानियों ने यह निर्धारित किया है कि सुख-दुःखादि सारे व्यापार न जीव की उपाधियाँ हैं और न आत्मा की; न जीव के लक्षण हैं और न आत्मा के।*

---

*'आत्मा' शब्द का प्रयोग किसी ग्रन्थ में 'जीव' वाची और किसी में 'ईश्वर' वाची अर्थ में किया गया है। जो उसे 'ईश्वर' का द्योतक मानते हैं और ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव को केवल स्थिति-भेद के कारण असमान कहते हैं वे तीनों की यथार्थ समानता, 'आत्मा' शब्द को जोड़कर संयुक्ताक्षरों द्वारा प्रकट करते हैं—जैसे परमात्मा, आत्मा और जीवात्मा। इन शब्दों से क्रमानुसार ब्रह्म, ईश्वर और जीव का बोध होता है। "वासना" शब्द 'वास' से बना है, जिसका अर्थ है 'गन्ध'। वह जिस प्रकार वृक्ष के फूल का गुण है उसी प्रकार उसके फल का भी गुण होता है। मान लीजिये आपको अनार का सत्व (Essence) निकालना है तो आप अनेक अनार वृक्षों के अनेक फलों को एकत्र (संचित) करेंगे और उनका रस निकालकर उस सञ्चित रस से महीना से

ये सब लक्षण मूर्ख मन-बुद्धि-अहंकार के हैं, जो लिङ्ग शरीर संज्ञा से जाने जाते हैं। इसलिये ये लक्षण लिङ्ग-देह ही के हैं, न कि जीव-देही के, और इस सूक्ष्म लिङ्ग-देह में भी वे भ्रम अथवा अविद्या-वश प्रतीत होते हैं।

फिर निर्लिप्त जीव का कर्म-फल भोग और पुनर्जन्म क्यों ?

तब फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि जीव निर्लिप्त है तो उसको पूर्ववासनायें कहाँ से, कैसे और कब आ जाती हैं जिनके कारण उसे बार-बार (पुनर्जन्म) भोगना पड़ता है। कर्म-फल ही पूर्व वासनायें हैं। जब कर्म-फल पूर्व-वासनायें हैं और कर्म मन-बुद्धि, अहंकार के व्यापार हैं न कि जीव के तो जीव को कर्म फल-भोक्ता क्यों कहते हैं और उसे जन्म क्यों लेना पड़ता है ? यह उसकी कुसङ्गति का परिणाम है। यदि राम नाम का बालक, जो स्वभाव का सरल-सीधा पवित्र है, कारणवश गोपाल और हरीराम दुष्ट आचरण वाले बालकों की कुसङ्गति में पड़ जाय तो उसके स्वच्छ-निर्मल गुण कहाँ रहेंगे ? उसे तो गोपाल और हरि के कुसङ्ग का फल भोगना ही पड़ेगा। यदि राम चोरी भी न करे पर गोपाल और हरि चोरों के साथ बना रहे तो उसे भी उनके दुष्कृत्यों का परिणाम भोगना ही पड़ेगा। कचहरी-अदालत वाले यह अच्छी तरह जानते हैं कि कई निर्दोष व्यक्तियों को इसी कुसङ्गति के कारण

महीन द्रव पदार्थ बनावेंगे जिसके थोड़े ही अंश में अनार फलों का गुण सहस्रों मात्राओं में विद्यमान रहेगा। यदि विज्ञान द्वारा उसी सत्व को इतना महीन कर सके कि वह अदृश्य वायु (गेस) बन जावे तो भी उसमें अनार फलों का गुण अवश्य रहेगा, बल्कि प्रभाव-मात्रायें उसमें और भी अधिक हो जायँगी। इसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अदृश्य सत्व का नाम वासना या गन्ध है। जिस प्रकार एक तरह के झाड़ों के एक से फलों का सत्व निकल आता है, उसी प्रकार एक कोटि के कर्मों के फलों का सत्व वासना-रूप होकर रह जाता है। इसी तरह अन्य कोटियों के कर्म फलों की वासनायें बनती जाती हैं। इन कर्म-फल कोटियों की एकत्रता का नाम ही 'सञ्चित' है।

सजायें काटनी पड़ती हैं। यहाँ तुलसीदास जी द्वारा कथित "और करे अपराध कोउ, और पाय फल भोग" उक्ति बैठती है। इसलिये जब तक राम अपनी मूर्खता या अज्ञान पर, जिसके कारण ही वह कुसङ्गति में पड़ अपने विरोधी स्वभाववालों को मित्र समझ बैठा है, पूर्ण पश्चात्ताप कर उसे त्याग न देगा तब तक गोपाल और हरि के दुष्कृत्यों के परिणामों से वह मुक्त नहीं हो सकेगा। इसी तरह जीव अविद्या-वश कुकर्मी मन-बुद्धि-अहंकार की कुसङ्गति में पड़ा हुआ उन्हें मित्र समझ उन्हीं के साथ-साथ घूमा करता है। उसके सम्मुख केवल दो उपाय हैं। एक तो यह कि वह उनका साथ छोड़ दे या कि दूसरा यह कि वह उन्हें अपने समान ही पवित्र बना ले। यह तभी हो सकता है जब कि उसे यह ध्यान आजावे कि वह अविद्या के चक्कर में पड़ा हुआ उन्हें मित्र समझ रहा है।

जब ईश्वर वा जीव एक हैं तो जीव अविद्या में क्यों फँसा ?

तब फिर एक शंका और भी रह जाती है। जब जीव ईश्वर के समान स्वभाव वाला है—नहीं, दोनों एक ही हैं तो वह अविद्या में क्यों फँसा है, और फंसा है तो क्यों उससे छुटकारा नहीं पा सकता ? अगर फँसा है तो वह ईश्वर कैसे हो सकता है, और जब ईश्वर नहीं हो सकता तो वे एक नहीं हो सकते ? अविद्या में क्यों फँसा, इसका उत्तर तत्व-ज्ञानियों के पास नहीं है सिवाय इसके कि एक बार फिसलने की ओर प्रवृत्ति या इच्छा उठी कि फिर उसको रोकना बड़ा कठिन होता है। इस प्रश्न का उत्तर देना उतना ही कठिन है जितना कि कोई यह पूछे कि ईश्वर मायामय क्यों हुआ। दोनों का उत्तर एक ही है। वह है उसकी 'इच्छा' अथवा उसका 'स्वभाव'। जब तक राम अपने आप में मग्न था अर्थात् मन शून्य, इच्छारहित था तब तक वह अत्यन्त पूर्ण निर्मल था; जब उसके मन में इच्छा उठी या शौक चढ़ा कि गोपाल-हरी का सङ्ग किया जाय तभी से उसमें अशुद्धता का बीज आया हालां कि कार्य से वह उस समय भी निर्मल-शुद्ध रहा; अन्त में जब उसकी इच्छा इतनी प्रबलता को प्राप्त हो गई कि वह उनका साथी बन गया, और यहाँ तक

साथी बन गया कि अपने मूल-अस्तित्व को भूल उन्हीं में अपने आपको तल्लीन कर लिया तब वह पूर्ण समल वा अशुद्ध हो गया। परन्तु राम तो सर्वदा एक ही रहा; केवल उसमें गुण-भेद होते गये जिनके कारण वह निर्मल से समल हो गया अथवा यों कहिये कि उसमें अकर्तृत्व होने पर भी उसके निर्मल शुद्ध स्फटिक स्वरूप पर गोपाल-हरी के अवगुणों की छाया इतनी घनीभूत होती गई कि उसे देखकर वह स्वयं अपने आपको दुःखी समझने लगा है। परन्तु जिसमें अपने आप फँस जाने का गुण है उसमें उससे निकल कर मुक्त हो जाने का गुण भी रहता है। इसलिये राम, जिसने फँसने की इच्छा की, यदि मुक्त होने की इच्छा करे तो वह अविद्या से मुक्त भी हो सकता है और पुनः अपने पूर्व निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। चूँकि मन-बुद्धि-अहंकार गोपाल-हरी सरीखे कोई बाह्य पदार्थ नहीं हैं, बल्कि उसी एक सत्ता, परमात्मा के अन्दर से प्रकटित प्रवृत्ति-सूचक तत्व (पदार्थ) हैं इसीलिये वे पुनः अपने अन्दर ही कर लिये जा सकते हैं जैसे कोई योगी अपनी आन्तरिक अँतड़ियों को निकाल कर उन्हें फिर भीतर कर ले। इसी तरह यह कहा जा सकता है कि जीव, जो स्वभाव से परमात्मा स्वरूप है, अपने आप मन बुद्धि-अहंकार से छुटकारा पा सकता है। या तो यह मनादि को बिलकुल शून्य कर दे, उन्हें निष्क्रिय कर स्वयं निर्विकल्प हो जावे, या आभास द्वारा उनका अस्तित्व इतना शुद्ध हो जाय कि वे तद्रूप होकर जीवात्मा से अभिन्न हो जावें। इन दोनों प्रकारों से जीव की जीव सत्ता मिटकर पूर्ववत् आत्म संज्ञा हो जायेगी, और जब अपने अस्तित्व रूपी अहं का भी लय हो जावे तो वह ब्रह्म ही हो जायगा। मन बुद्धि-अहंकार के विकार और क्रियाओं के लुप्त हो जाने से जो आनन्द स्वरूप हो जाता है वही स्थित-प्रज्ञ, जीव-मुक्त आदि उपाधियों से युक्त कहा जाता है - वह यथार्थ में ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है। यदि क्षुधा, तृषा, इच्छा, द्वेष आदि जीव के स्वाभाविक लक्षण (गुण) होते तो वह उनसे कभी छुटकारा नहीं पा सकता जैसे सूर्य से प्रकाश कभी अलग नहीं हो सकता। स्वाभाविक गुण तो उसका है शुद्धता, निर्मलता और उक्त विकार हैं केवल उसमें आरोपित गुण। इसलिये तिमिरभास्कर श्री मच्छंकराचार्य ने कहा है—

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभास वस्तु निरासतः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ।। (विवेक चूड़ामणि श्लोक ३६८)

अर्थ—अपने आत्मा में आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओं का निरास (निराकरण, त्याग) कर देने पर मनुष्य (जीव) स्वयं अद्वितीय, अक्रिय और पूर्ण ब्रह्म ही है ।

अतः निर्विकल्प निर्विशेष-निराकार ब्रह्म, सविकल्प माया-विशिष्ट साकार ईश्वर, तथा सविकल्प अविद्या-विशिष्ट साकार जीव को आरोपित गुणों के कारण नाम-भेद से एक ही सत्ता जानना चाहिये ।

: ११ :

श्रुति और अवतार

अवतार-वाद के विरुद्ध अन्य और प्रमाण

पिछले अध्याय से पाठकों को विदित हो गया होगा कि हम निराकार-साकार मत के समर्थक हैं, न कि केवल निराकार-वाद या केवल साकार-वाद के। हमारा सिद्धान्त कुछ इस तरह चलता है। प्रकृति ही कारण शरीर मानी जाती है, यह हम पहले देख चुके हैं। परन्तु जब तक कार्य प्रारम्भ न हो तब तक प्रकृति-शरीर भी उपस्थित नहीं होता, अथवा यों कहिये कि उस समय तक प्रकृति सोई हुई रहती है।

कृति अर्थात् कार्य प्रारम्भ होने के पहिले कार्य करने की इच्छा (या ईक्षण) होनी चाहिये; और इच्छा उस समय तक जागरित नहीं हो सकती जब तक कि अहं रूप निजास्तित्व भाव सोया हुआ हो। भावार्थ यह है कि ब्रह्म-स्थिति और कारण-शरीर के बीच में दो प्रमुख अवस्थाएं और रहती हैं; एक तो स्वास्ति अर्थात् अहं भाव का जागरित होना और उसके जागरित होने पर सर्जन की इच्छा आना। इसलिये ये दोनों अवस्थाएँ भी ब्रह्म अवस्था के साथ ही कारण-शरीर के परे रहती हैं। यद्यपि सविशेषता अथवा सविकल्पता के कारण वे निर्विशेष-निर्विकल्प ब्रह्म से भिन्न हो जाती हैं, तथापि प्रकृति रूपी कारण-शरीर के दोषों से मुक्त रहती हैं; और इसलिये वे भी 'शुद्धम्' 'परिअगात्' आदि रहती हैं। कारण-शरीर के परे इस अहं-ईक्षण-युक्त अवस्था का नाम कुछ तत्त्व-ज्ञानियों ने ब्रह्म का महाकारण-शरीर कहा है और कोई उसे महत्तत्व भी कहते हैं।

इसी अवस्था को कहीं हिरण्यगर्भ कहा जाता है जिसमें सृष्टत्व का कार्य बीज रूप में सहस्रों सूर्यों के तेज वा प्रकाश के समान प्रकट होने

के लिये छटपटाता-सा रहता है। इसी अवस्था में समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए (तस्मिन्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्व लोक पितामहः)। बस, ब्रह्मा के साथ ही प्रकृति-शरीर हुआ, उसके पहिले नहीं। चूँकि ब्रह्म सर्वत्र है इसलिये उसकी यह अहं-ईक्षण-युक्त अवस्था भी उसकी चिरकालीन सङ्गिनी होकर सर्वत्र व्याप्त रहती है। जिस प्रकार प्रकृति को कारण-शरीर संज्ञा दी है उसी प्रकार यदि कोई इस अवस्था-भेद को महाकारण-शरीर कहे तो क्या आपत्ति हो सकती है? जिस प्रकार हिरण्यगर्भ, महत्तत्व आदि नाम देकर स्थिति विशेष का ज्ञान कराया जाता है उसी प्रकार महाकारण शरीर नाम भी दिया जा सकता है।

यदि कोई यह कहे कि शरीर संज्ञा में अशुद्धता और एकदेशीयता अथवा सीमाबद्धता का भाव रहता है इसलिये उक्त अवस्था-भेद को शरीर-संज्ञा नहीं दी जा सकती और तुम उसे 'शुद्धम्' और 'परिअगात्' (सर्वव्याप्त) कह चुके हो, तो हमारा उत्तर यह है कि शरीर को दोषयुक्त, अशुद्ध और एकदेशीय कहने का कारण केवल यह है कि उसे प्रकृति से सम्बन्धित करके रखा है। चूँकि प्रकृति, जिसे माया या अविद्या भी कहते हैं, दोषमय होती है इसलिये उसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म और स्थूल शरीर भी समल माने गये हैं और सीमा-बद्ध भी। परन्तु जहां मलोत्पादक तथा सीमित रूप में रहने वाले विकार की पहुंच ही न हो, वहां उक्त दोनों दोष नहीं आ सकते। यही कारण है कि जिससे ब्रह्म शुद्ध और व्यापक कहा जाता है। यही कारण तो यहाँ पर है कि अहं-ईक्षण-युक्त अवस्था भी शुद्ध और व्यापक कही जाती है; और चूँकि वह सविकल्पता-युक्त स्थिति-विशेष ब्रह्म से भिन्न है इसलिये उसे महाकारण-शरीर संज्ञा दी जाती है। इस दृष्टि से यजुर्वेद अ० ४० मंत्र ८ के पढ़ने से ज्ञात होगा कि उसमें न केवल ब्रह्म के मूल निराकारत्व का बल्कि प्राथमिक साकारत्व का समावेश होता है अथवा यह कहिये कि वह हमारे पूर्वोक्त कथित ब्रह्म और ईश्वर दोनों संज्ञाओं का प्रतिपादक है।

सम्भव है, कोई यह कहे कि हम अन्यत्र ईश्वर को माया-उपाधि-युक्त कह चुके हैं और माया प्रकृति का ही दूसरा नाम है, इसलिये ईश्वर संज्ञा

पर यह मंत्र लागू न होगा, क्योंकि सभी भाष्यकारों ने प्रकृति-युक्त अवस्थाओं को अशुद्ध माना है। परन्तु हम यह भी कई बार याद दिलाते आये हैं कि सारा सृष्टत्व का क्रम एक लम्बा सूत्र-सा है। उस अटूट (अभिन्न) सूत्र के ध्यान से यह समझ में आ जावेगा कि ईश्वर संज्ञा अहं के प्रकट होते ही क्रिया-शील नहीं हो सकती और जब तक उसमें क्रियता प्रारम्भ नहीं होती तब तक वह माया से परे ही रहती है। निम्नलिखित जिस श्रुति को लेकर ईश्वर की साकारता-निराकारता-सम्बन्धी अनेक शास्त्रार्थ हो चुके हैं, उसमें वस्तुतः निर्विकल्प ब्रह्म और मायातीत सविकल्प ईश्वर दोनों का समावेश होता है।*

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू-स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

यजुर्वेद अ० ४०, मंत्र ८

दूसरी शंका यह भी उपस्थित होती है कि जब हम उक्त अवस्था-विशेष को महाकारण-शरीर कहते हैं तो उसे हम उक्त मंत्र के अर्थ के अन्तर्गत कैसे ला सकते हैं, क्योंकि उसमें 'अकायम्' शब्द के आने से सभी प्रकार के शरीर त्याज्य माने जावेंगे।

हम यह कह चुके हैं कि यह महाकारण नाम का शरीर प्रकृत्यादि या अविद्यादि मलों से दूर है इसलिये 'अकाय' शब्द के प्रयोग के कारण वह त्याज्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'शुद्धम्' आदि विशेषणों से यह

---

*ईश्वर शब्द का प्रयोग पाठक गण इस पुस्तक में कहीं ब्रह्मसूचक पावेंगे और कहीं इस अहंयुक्त अवस्था विशेष सूचक। धर्म-विषय चर्चा में उसका अत्यधिक प्रचलन होने के कारण हम उक्त भेद का पालन नहीं कर सके हैं। इसलिये पाठक क्षमा करें और प्रसंगानुसार उसका अर्थ समझने की कृपा करें। इसी तरह माया-विशिष्ट ईश्वर और मायातीत ईश्वर का भेद भी ध्यान में रखना चाहिये। बाल, कौमार्य्य-गुण आदि के दृष्टान्त का ख्याल कर ब्रह्म से सृष्टि पर्यन्त एक लगातार अटूट शृङ्खला का तांता लगा हुआ जानना आवश्यक है।

स्पष्ट है कि वे ही शरीर त्याज्य हैं जो पापमय या अशुद्ध हों। यदि कोई कहे कि शरीर शब्द ही अशुद्ध, अशुक्र, अल्पज्ञता आदि का सूचक है इसलिये उसका समावेश पूर्वोक्त मंत्र में नहीं हो सकता तो उसका उत्तर यही है, जैसा कि हमारे पूर्व विवेचन से विदित होगा, कि ये सब दूषण केवल उसी शरीर में रहते हैं जिसका जन्म या सम्बन्ध प्रकृति से हो और यह सम्बन्ध केवल कारण-शरीर से रहता है, न कि महाकारण-शरीर से। इस अवस्था-विशेष को महा-कारण शरीर नाम दिया जाय या न दिया जाय इससे कुछ बिगड़ता नहीं है। परन्तु उसको शरीर संज्ञा देना केवल इसलिये उचित और आवश्यक है कि ब्रह्म की निर्विकल्प स्थिति की तुलना में सविकल्पता स्थूल-दर्शी और भिन्नता-सूचक होती है और स्थूलता ही सशरीर का द्योतक है।

अब यदि आप मंत्र को पढ़ेंगे तो मालूम होगा कि उसमें आया हुआ कोई भी ऐसा विशेषण नहीं है जो इस अवस्था-विशेष के लिये न घट सके। बल्कि हमारा विचार तो यह है कि 'अकायम्' शब्द के साथ 'अव्रणम्' और 'अस्नाविरम्' केवल इसी अभिप्राय से लाये गये हैं कि जिससे केवल प्रकृति-बद्ध शरीर के निषेध का बोध हो। यदि मंत्र-प्रणेता का ध्यान इस अवस्था विशेष पर न होता तो केवल 'अकायम्' शब्द ही कहकर अपना मन्तव्य प्रकट कर देता। व्रण आदि स्थूल शरीर के विकार कारण-शरीर (प्रकृति) के कार्य रूप हैं। इसलिये कार्य का कारण से सम्बन्ध होने के कारण 'अकाय' शब्द के अर्थ के अन्तर्गत 'कारण-शरीर' ही लेना ठीक हो सकता है, अन्य और शरीर नहीं। इसके अतिरिक्त 'मनीषी' और विशेष कर 'व्यदधात्' शब्दों के आने से भी यह सिद्ध होता है कि मंत्र इस अवस्था विशेष का ही दिग्दर्शन कराने के लिये लिखा गया होगा, क्योंकि जब तक निर्विकल्प स्थिति विद्यमान हो तब तक किसी भी प्रकार की क्रियता नहीं आ सकती।* अतः हमारी की हुई विवेचना के अनुसार 'अकाय' शब्द के 'काय' पद का अर्थ है केवल प्रकृति-विशिष्ट

---

*'मनीषी' का अर्थ 'मन-प्रेरक' और 'व्यदधात्' का अर्थ 'विभक्त करे' कालूराम शास्त्री ने किया है।

शरीर। तात्पर्य यह कि उक्त मंत्र केवल निराकारत्व का प्रतिपादक नहीं है बल्कि ईश्वर रूप शुद्ध साकारत्व का भी है।

जातः आदि भिन्न-भिन्न शब्दों में साकारता का दर्शन

आपको वेद, उपनिषद्, स्मृतियों आदि के ईश्वर-विषयक कई मंत्रों और श्लोकों में 'जातः' अथवा संधि वा कारक-विभक्ति के कारण इस 'जातः' शब्द के दूसरे रूप जैसे 'जातो' आदि मिलेंगे। जैसे यजुर्वेद अ० ३२ मंत्र ४ में 'सएव जातः', एवं अथर्ववेद अ० १० अनु० ४ मंत्र २७ में 'त्वंजातो' इत्यादि। जो साकार के विपक्ष में हैं वे 'जातः' का अर्थ 'प्रसिद्ध होना' या 'प्रकट होना' करते हैं और साकार के समर्थक उसका अर्थ 'जन्म लेना' करते हैं। इसके अतिरिक्त आपको यह भी मिलेगा कि जो ईश्वरावतार के विरोध में हैं वे इस प्रकार के मंत्रादि का अर्थ 'जीवात्मा' के लिये घटाने में तोड़-मरोड़ करते हैं, तथा ईश्वरावतार को मानने वाले ईश्वर के लिये।

'जातः' शब्द को लेकर 'जन्म लेना' और 'प्रसिद्ध होना' इस तरह भिन्न-भिन्न अर्थ करके अवतारवादियों एवं अवतार-विरोधियों में बहुतेरे झगड़े चले हैं। हम इनको छोड़ सार को ग्रहण करें तो यह बात निश्चित होती है कि पुनर्जन्म शरीर का हुआ करता है और चूंकि पुनर्जन्म कर्मफलों को भोगने के लिये होता है इसलिये यथार्थ में कर्म-फल-भोक्ता शरीर ही हुआ। अतः सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादि, विकार जो कर्मानुसार हुआ करते हैं, शरीर के ही गुण हुए, न कि जीवात्मा के। इससे यह निष्कर्ष निकला कि जीवात्मा समस्त विषय-विकारादि से अलिप्त और अदूषित रहता है, लिप्त और दोषी तो शरीर ही होता है। जीवात्मा अदृश्य रहे या दृश्य, अप्रकट हो या प्रकट; किसी भी दशा में उक्त दोषों से दूषित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रकट होने पर भी जीवात्मा तो जीवात्मा ही रहेगा। हाँ, यदि उसके प्रकट रूप को ही शरीर कहा जाय तो भी उक्त दोष उसके प्रकट रूप नामी शरीर के ही होंगे न कि मूल अदृश्य जीवात्मा के। जब जीवात्मा के प्रकट रूप होने पर भी उसमें कोई दोष नहीं आ सकते, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर का प्रकट होना

मानने से ईश्वर में दोष आ जायँगे। दोष यदि होंगे तो उसके प्रकट रूप में, जो अपनी स्थूलता अथवा दृश्यता के कारण शरीर कहा जाने लगता है।

यदि अवतार-वादी ईश्वर का अवतार लेना, जन्म लेना, पैदा होना अथवा उत्पन्न होना न कह कर प्रकट होना कहें, तो सम्भव है, अवतार-विरोधी उनकी बात को मान लें। उनकी चिढ़ जन्मादि उक्त शब्दों से मालूम पड़ती है, क्योंकि उनका कहना है कि जो कभी न हो अथवा कहीं न हो वही इस-उस काल में और यहाँ-वहाँ हो सकता है। उनके कहने के अनुसार उक्त शब्दों के कहने से काल वा स्थान बद्धता का बोध होता है, अतः उनसे ईश्वर की अनन्तता तथा सर्वव्यापकता में बाधा पहुँचती है। चूँकि वे शरीर के दोषों की बात को भूल कर जीवात्मा को ईश्वर से भिन्न मानने के कारण शरीर के दोषों को जीवात्मा पर घटाते हैं इसलिये वे यह कहने लगते हैं कि यदि ईश्वर का अवतार या जन्म होना माना जाय तो ईश्वर और जीवात्मा में कोई भेद न रहेगा। उनके इस मूल तर्क की भित्ति पर कई लोग अनर्गल दलीलें पेश करने लगते हैं। जैसे कोई कहता है कि गधा, सुअर, बिच्छू, साँप, झाड़, पेड़ सभी ईश्वरावतार हुए; और कोई 'अवतार' शब्द के धात्वर्थ के आधार पर यहाँ तक कह बैठते हैं कि गाड़ी पर से भरे हुए बोरों को उतारा या कि कोई झाड़ पर से नीचे उतरा, चाहे वह मनुष्य हो या पशु या कीटाणु सभी अवतार कहे जावेंगे।

परमतत्त्व को जानने के लिये लौकिक दृष्टान्त बहुधा असफल होते हैं। फिर भी उन दृष्टान्तों के बिना काम नहीं चलता। इसलिये पूर्णतः तौलकर उनका प्रयोग करना वाञ्छनीय होता है। ऊपर से नीचे उतरने की बात और नानारूप दिखलाई देने की बात दोनों में आँखों से दिखाई देने वाला स्थूलाति-स्थूल पदार्थ का भाव भरा है, जो अनुपयुक्त है। यदि कोई अदृश्य सूक्ष्म पदार्थ या पदार्थों से भी सूक्ष्म उनके तत्त्वों की तथा उन तत्त्वों की तन्मात्राओं की बात करे तो क्या जब तक वे दिखाई न देंगे तब तक आप उनके अस्तित्व पर विश्वास नहीं करेंगे? चूँकि आप जीवात्मा को ईश्वर से भिन्न मानते हैं इसलिये यदि आप से कोई पूछे कि जीवात्मा एक है या अनेक, तो आप अनेक ही कहेंगे। यदि एक कहेंगे तो जीवधारियों में असमानता आदि का पाया जाना इत्यादि

अनेक प्रश्न उठेंगे और अन्त में उसी सिद्धान्त को मानना पड़ेगा कि ईश्वर और जीवात्मा में केवल उनके बीच में माया के आ जाने से भिन्नता प्रतीत होने लगती है। अवतार-भक्त तुलसीदास जी ने इसी भाव को बड़ी सरलता से अपने लोकप्रिय ग्रन्थ रामायण में निम्न चौपाई में दर्शाया है —

"उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥"

एक कहो या अनेक आप से भी वही प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या आपने स्थूल शरीर-धारी जीवात्मा को भी कभी देखा है? आप को कहना पड़ेगा 'नहीं'। फिर 'नहीं' का शरीर कहाँ से आया? एक नहीं असंख्य शरीर कहाँ से आये? आप सम्भवतः कहेंगे प्रकृति से। तब फिर क्या आपने प्रकृति को भी कभी देखा है? प्रकृति क्या है? वही अदृश्य तत्त्व न, जो कार्यान्वित हैं या क्रियाशील हो रहे हैं। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि यदि हम स्थूल शरीर के सूक्ष्म मूलाधार को स्थूल नेत्र से नहीं देख सकते तो यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उसका मूलाधार ही नहीं है। अतः 'वह (परमात्मा) नाना-रूप धारण करके ठहरा हुआ है' यह कहने में कौन सी अमाननीय बात हुई?

इसी प्रकार 'अवतार' शब्द के अर्थ 'उतरना' का आश्रय लेकर व्यर्थ कुतर्क नहीं करना चाहिये, क्योंकि उससे केवल हठ प्रदर्शन होता है। क्या आपने निशि-दिन के अनुभव की इस बात पर कभी ध्यान नहीं दिया कि जिस प्रकार स्थूल जगत् में स्थूल पदार्थों तथा राग-रागिनी गाने-बजाने आदि का चढ़ना-उतरना दिखाई देता है या अनुभव से जाना जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् में विचार, विवेक, ध्यानादि के चढ़ाव-उतार का अनुभव होता है, और यह सूक्ष्म-क्षेत्रीय चढ़ाव-उतार सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के चढ़ाव-उतार की गति के अनुसार हुआ करता है। मनादि चतुष्टय कभी हमें सत्यार्थ-प्रकाश, रामायण, गीता आदि के पढ़ते समय स्वर्गानन्द प्राप्त कराते हैं और फिर कभी बाह्य कारण से इतना नीचे उतार देते हैं कि हम दुःख-यातनाओं या लौकिक झंझटों में तड़पने लगते हैं। आप कहेंगे ये प्रकृति के विकार हैं। परन्तु प्रकृति को तो आप जड़ ही कहते हैं न? वह चेतन के बिना स्वयं कुछ नहीं कर सकती। इसलिये जब प्रकृति ऊर्ध्वगति में हो तब चेतन उसके साथ और अधोगति में हो तब भी

चेतन उसके साथ रहता है। प्रकृति की जिस गति से आनन्द की ओर खिंचाव हो वही उसकी ऊर्ध्वगति है और जिसमें दुःख की ओर जाना पड़े वही उसकी अधोगति। परन्तु जहाँ उसकी गति ही स्थिर हो वहाँ न चढ़ाव रहता और न उतार। वहाँ तो सर्व शान्तिमय सर्वानन्द स्थिति ही रहती है। इस सर्वानन्द ब्रह्म स्थिति से अहं-ईक्षण पर आना और फिर प्रकृति समेत कार्यान्वित हो जाना ही ऊपर से नीचे उतरना है। यही प्रारम्भिक अवतार ब्रह्मा कहलाता है, जिसे हिरण्यगर्भ, महत्तत्त्व, महाकारण आदि कहते हैं। यही भाव श्री मद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय के निम्न श्लोकों में व्यक्त किया गया है।

ऊर्ध्व मूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुण प्रवृद्धा विषय प्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढ मूल-
मसङ्ग शस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा ॥३॥

यदि हम इन श्लोकों में आये हुए शब्दों की व्याख्या करके श्लोकों का अर्थ करने लग जायं और उनमें प्रतिपादित आनन्दमय रहस्य का रसास्वादन कराने की चेष्टा करें तो अधिक विस्तार हो जायगा, जो हमारे मूल विषय से हमें दूर कर देगा, तथापि उनका संक्षिप्तार्थ देना आवश्यक ही है।

यह संसार एक (कल्पित) बट[1] के वृक्ष के समान है। यह अव्यय

---

[1] 'अश्वत्थ' शब्द का अर्थ कुछ टीकाकारों ने, जिनकी टीकायें हमने पढ़ी हैं, पीपल वृक्ष लिया है। ब्रुक्स सा० ने किसी वृक्ष विशेष का नाम नहीं लिया, सिर्फ सृष्टि-वृक्ष (World-tree) कहा है। हमने बट वृक्ष की उपमा

(अर्थात् अखण्ड, एक समान, नाशरहित) है। इसकी जड़ ऊपर है और शाखा नीचे की ओर। इस मुख्य शाखा से उत्पन्न अनेक तत्त्व वा पदार्थ हैं वही मानो उसके पत्ते हैं जिनकी अनेकता में काव्य-सा सङ्गीत अर्थात् समन्वय है। इसलिये जो इस प्रकार से संसार को जानता है वही वेद-वित् (अर्थात् ज्ञानवान्) है ॥१॥*

इस मुख्य शाखा से प्रकट होकर त्रिगुणों से प्रवृद्ध (बढ़ती) हुई तथा विषयों द्वारा पल्लवित होती हुई अनेक शाखायें फूटी हैं, जो कुछ ऊपर को और कुछ नीचे की ओर फैलती हैं। कुछ ऐसी हैं जो नीचे की ओर जड़ों-सी पृथ्वी तक जाती हैं वही मानों मनुष्य-लोक में मनुष्यों को कर्म-बन्धन से

अधिक उपयुक्त समझी है इसलिये 'बट' कहा है। कारण कि शाखा में से नीचे की ओर जटा-सी जड़ें बट वृक्ष में ही निकलती हैं न कि पीपल में। तभी श्लोक २ के उत्तरार्ध में आये हुए 'अधश्चमूलान्' का अर्थ घटित होगा। इसके अतिरिक्त बट वृक्ष पीपल से अधिक फैलाव भी करता है और जाति भेद से भी वह पीपल-वर्ग का ही है। परन्तु यदि हमने 'बट' अर्थ करने में भूल की हो तो पाठक क्षमा करें और जो उपयुक्त समझें वही अर्थ लगावें।

*इस श्लोक में 'वेद' शब्द आया है। उसका अर्थ कई एक टीकाकारों के 'वेद ग्रन्थों' किया है जिनकी उपमा पत्तों (पर्णानि) से दी गई है क्योंकि ब्रह्मा से वेदों की उत्पत्ति कही जाती है। हमने 'वेद' शब्द का मूलार्थ 'जानना' (ज्ञान) ही लिया है और इसीलिये 'वेद-वित्' का अर्थ भी ज्ञानवान् कर दिया है। धर्म विशेष के प्रचलित ग्रन्थों के नाम आ जाने से किसी को सम्भवतः उसमें साम्प्रदायिकता दिखाई देने लगे इसलिये उसके निवारण के लिये मूलार्थ देना ही सर्वोचित है। 'अधः शाखम्' प्रकृतियुक्त प्रारम्भिक स्थिति है, जिसे ब्रह्मा आदि कहा है। पत्तों की उपमा हमने तत्त्वों वा पदार्थों को दी है जिसमें सूक्ष्म और स्थूल जगत् का भाव है क्योंकि ब्रह्मारूपी प्रारम्भिक स्थिति से सूक्ष्मता प्रादुर्भाव होती हुई स्थूलता को प्राप्त होती जाती है। 'छन्दांसि' शब्द का हमने अनेकता में एकता दर्शाने के अभिप्राय से 'काव्य' अर्थ किया है!

बाँधने वाले अहन्ता, ममता और वासनायें हैं ॥२॥ यहाँ पर ऊपर की ओर जाने वाली शाखाओं से देवादि योनियों और नीचे जाने वाली शाखाओं से कुकर्मी जीव तिर्यक् योनि (पशु-पक्षी आदि) से अभिप्राय समझना चाहिये।

(यद्यपि संसार को वृक्ष की उपमा तो दी गयी है पर उसमें और दृश्य वृक्ष में बहुत ही अन्तर है। इसको अवश्य जानना चाहिये : वह दृश्य वृक्ष से किस प्रकार भिन्न है ? यह श्लोक ३ में बताया है) जिस संसार रूपी वृक्ष का न आदि है, न अन्त है और न स्थिति (संप्रतिष्ठा) ही है उसके रूप को समझना या उपलब्ध करना बड़ा कठिन है। वह तो तभी समझा या पाया जा सकता है जब कि (अहंकार, मोह, वासनाओं आदि युक्त माया रूपी) नीचे को फैले हुए (नीचे की ओर मूल वाले) इस सारे वृक्ष को दृढ़ वैराग्य-रूप शस्त्र से काट डालो ॥३॥

इस तरह प्रकृति स्वरूप सृष्टि-वृक्ष को काट डालने से वही एक ऊर्ध्वमूल (ब्रह्म) रह जाता है। ऊर्ध्वमूल वाले वृक्ष की उपमा देने का प्रयोजन यही प्रतीत होता है कि जिससे यह ज्ञात हो कि जो कुछ आदि से अन्त तक प्रकृति-स्वरूप सृष्टि-क्रम है वह ऊर्ध्वस्थिति की निम्नावस्था या अधोगति है। अदृश्य अध्यात्म-क्षेत्र में इसी का नाम ऊपर से नीचे उतरना है। यह उतरना भी उसी प्रकार क्रम-क्रम से होता है जिस प्रकार स्थूल जगत् में स्थूल पदार्थ ऊंचे से नीचे उतरते हैं। इसलिये जब कभी ईश्वरावतार की चर्चा की जावे तो सर्वप्रथम ऊर्ध्वमूल रूप ब्रह्म का ध्यान लाना चाहिये और तब फिर उससे लगी हुई निकटतम निम्न स्थिति का, जो उस ब्रह्म से सर्वप्रथम प्रकट हुई हो। सर्वानन्दमय ब्रह्म स्थिति ही ब्रह्म-लोक है और समस्त सृष्टत्व ईश्वर-लोक। ब्रह्म-लोक की निम्न सीमा और ईश्वर-लोक की ऊर्ध्व सीमा दोनों एक हैं, जो आगे के गोलाकार चित्र में अ ब रेखा द्वारा बताई गई हैं। इस अ ब रूपी स्थिति का नाम अहं-ईक्षण-युक्त हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा समझिये। चूँकि ईश्वर लोक की अ ब रूपी प्रारम्भिक सीमा के नीचे सारी जड़, चेतन, सूक्ष्म, स्थूल सृष्टि प्रजा रूप होकर निवास करती है इसलिये ईश्वर वा ब्रह्मा को कहीं-कहीं वेदादि धर्म ग्रन्थों में 'प्रजापति' भी कहा गया है। 'यः सर्वेषु भूतेषु

तिष्ठति यश्च प्रजापतिर्भवति'। प्रजा (प्र उपसर्ग + जा)। 'जा' वह जो उत्पन्न हुआ है। प्रजा का अर्थ है 'सन्तति या रैयत''।

जो वेदों को आधार मान कर निराकार और साकार दोनों को मानते हैं वे 'जातः' शब्द के प्रयोग में दोनों भावों का प्रतिपादन पाते हैं, और जो उनको केवल निराकार प्रतिपादक समझते हैं वे उक्त शब्द के अर्थ को दूसरी प्रकार से घटाने का प्रयत्न करते हैं। निराकार-साकार-वादी का कहना रहता है, कि * "ईश्वर के शरीर धारण करने को हिन्दुओं की प्रधान पुस्तक वेद

में "जातः, 'आविरासीत्' 'प्रादुरासीत्' 'प्रादुर्बभूव' आदि आदि शब्दों से कहा है। इसी को हिन्दी भाषा में 'उत्पन्न,' 'प्रकट' 'प्रादुर्भाव,' 'शरीर धारण,' 'अवतार' इत्यादि शब्दों से कहते हैं।'' परन्तु केवल निराकार-वादी अपना मन्तव्य सिद्ध करने के अभिप्राय से एक ही शब्द का अर्थ एक मंत्र में कुछ करता है तो दूसरे मंत्र में उसी शब्द का अर्थ कुछ और, हालांकि उन मंत्रों को देखने से उनमें कोई प्रकरण या प्रसंग भेद नहीं दिखाई देता। इसका कारण हमें यही प्रतीत होता है कि उसे जब कोई मार्ग साकार प्रतिपादकता से निकल भागने का नहीं मिलता तो उसे विवश होकर एक ही शब्द का भिन्न अर्थ बताना पड़ता है।

सङ्गत्यनुसार श्रुतिमन्त्रार्थ

अब हम स्वामी जी § कृत इन्हीं तथा कुछ अन्य मंत्रों के भाष्यों की

---

* श्री कालूराम शास्त्री। § दयानंद जी।

सङ्गति पर विचार करेंगे और उन्हें उदाहरण स्वरूप मान यह बतावेंगे कि स्वामी जी ने प्रकरणानुसार अर्थ नहीं किया है। सङ्गत्यनुसार अर्थ करने पर उनके निराकारत्व में साकारत्व का बोध होता है। यही बताने का अब हमारा प्रयत्न होगा।

हमें प्रतीत होता है कि स्वामी जी ने ब्रह्म और हिरण्यगर्भ इन दो अवस्थाओं में कोई भेद नहीं रखा है और यदि कहीं रखा है तो वे उसे कहीं भूल गये हैं। इसलिये दोनों अवस्थाओं को वे परमात्मा, परमेश्वर आदि कहकर अपने निराकार ब्रह्म की ही बात पर आ जाते हैं।

कुछ वैदिक मंत्र

यजुर्वेद अ० १३ म० ४, इस प्रकार है:—(यही मंत्र अथर्ववेद में भी आया है)

हिरण्य-गर्भः समवर्त्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविशा विधेम॥

कुछ लोग (जैसे स्वामी दयानन्द आदि) कहते है कि हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम प्रादुर्भूत तत्त्व है और वही पृथ्वी से लेकर प्रकृति-पर्यन्त अर्थात् स्थूल वा सूक्ष्म समस्त जगत् का प्रसिद्ध पति है। इससे उसी का नाम प्रजापति है। वे इसी हिरण्यगर्भ नाम प्रजापति को निराकार परमात्मा कहकर उसी की भक्ति करने के लिये कहते हैं। यदि इसे निराकार परमात्मा कहा जाता है तो उसके लिये 'प्रादुर्भूत' विशेषण अनुपयुक्त होता है। 'प्रादुर्भूत' कहने से उसके पूर्व किसी एक और पूर्व स्थिति का मानना आवश्यक होता है और जब हम इसे ही निराकार कहेंगे तो उसकी पूर्व स्थिति क्या कहलायगी? इसलिये जिसे ये लोग निराकार परमात्मा कहते हैं उसे साकार ही मानना पड़ेगा और उसके पूर्व की स्थिति को निराकार, अन्यथा 'प्रादुर्भूत' शब्द ही निरर्थक हो जायगा।

इसी पूर्व स्थिति का नाम ब्रह्म है जिसका वर्णन वा नाम उक्त मंत्र के पूर्व मंत्र में आया है। वह यह है:—

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचोवेन आवः।
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्चयोनिमसतश्च विवः॥ अ० १३ मंत्र ३

पर ब्रह्म क्या है ? वही अग्नि (अर्थात् तेज वा चैतन्य) जिसके विषय में इससे पूर्व के मंत्र १ वा २ में कहा गया है। इसलिये अ० १२ मंत्र १, २ वा ३ ब्रह्म के प्रतिपादक हैं। ब्रह्म का मूलार्थ है जो सबसे बड़ा-विस्तृत हो। 'सबसे बड़ा' कहने में इस बात की स्वीकृति आती है कि किसी भी दृष्टि से देखो, उस स्थिति से अधिक महती स्थिति और कोई दूसरी नहीं है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि यही स्थिति है जो अन्य और स्थितियों को धारण करती है। जो धारण करता है उसका नाम है 'आधार' और जो आधार हैं उसी को दूसरे शब्दों में 'पृष्ठ' कहा जाता है। हम गर्भ और योनि शब्दों से भी परिचित हैं। वे बहुधा पर्यायवाची हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उनमें भिन्नता विदित होने लगती है। गर्भ वह स्थिति या स्थान[1] विशेष है, जो किसी को धारण करे, और योनि वह है, जो धारण की हुई वस्तु को बाहर निकाले, या प्रकट करे अथवा उत्पन्न करे। या यों कहो कि वह स्थान जिससे धारण की हुई वस्तु प्रकट हो। योनि प्रकट होने का कारण नहीं है और न गर्भ ही उसका कारण हो सकता है। प्रकट तो जो होता है वह कुछ और ही है। गर्भ उसे धारण करता और समय पाकर वह योनि द्वारा प्रकट होता है।

यद्यपि मनुष्यादि जीवधारियों के विषय में विचार करने पर गर्भ शब्द से एक संकुचित या सीमित स्थान का भाव आता है, तथापि उससे सर्वत्र ही यह भाव नहीं समझना चाहिये। वृक्षादि पदार्थों के सार भाग को भी कभी-कभी गर्भ कहते हैं जिसको देहाती लोग अपभ्रंश 'गाभ' या 'गाभा' कहकर बताते हैं। यह सार भाग सभी वृक्षों में रहता है। गरज यह है कि जो विस्तृत क्षेत्र का शक्तिमय सार-स्वरूप रहता है उसी का नाम गर्भ हुआ। इस सर्वत्र विस्तृत क्षेत्र रूपी ब्रह्म में जो सर्व तेजोमय प्रकट होने की शक्ति है उसी को यहाँ अग्नि कहा है। यह अग्नि क्या है ? वही चिन्मात्र शेष जिसे शंकराचार्य ने केवल अखण्ड, चिन्मात्र, परमतत्त्व (केवलाखण्ड

---

[1] स्थिति, स्थान, स्थावर आदि शब्द 'स्थ' धातु से बने हैं अर्थात् जो हो, कायम हो।

चिन्मात्रं परंतत्त्वं) कहा है। इस अग्नि-स्वरूप चिन्मात्र शक्ति को ग्रहण करने का आदेश अ० १२ मं० १ में दिया है, और फिर दूसरे में बताया है कि यही चिन्मात्रशक्ति प्रकटावस्था का आधारभूत है (पृष्ठम् असि = पृष्ठमसि)[1]।

यह प्रकट होने का जो लक्ष्य है वही मानो योनि स्वरूप है और जो उस प्रकटावस्था द्वारा प्रकट होता है वही उसके अन्तर्गत विद्यमान् अग्नि है जो दूसरे मंत्र में 'योनिरग्नेः' कहा गया है (योनिः + अग्नेः = अग्नेः योनिः अर्थात् अग्नि की योनि)। फिर इसके बाद ही इस अग्नि रूपी ब्रह्म का लक्षण मंत्र ३ में और स्पष्ट किया है। वह ब्रह्म (पुरस्तात् प्रथमं) सृष्टि के पूर्व सबसे प्रथम (जज्ञानं) उत्पादक[2] और (सतश्चयोनिम् असतश्चविवः) सत्, योनि और असत् तीनों को (विवः)[3] धारण करता है या ग्रहण करता है, अथवा वही तीनों स्थितियों में प्रकाशित होता है। सत्, योनि और असत् से सृष्टि की तीन अवस्थाओं का ज्ञान होता है।[4] जो सदा सर्वत्र हो वह सत् है, उसमें प्रकट होने की शक्ति है वह योनि

---

[1] पृष्ठम् का अर्थ उव्वट और महीधर ने 'कमलिनी पत्रमुपदधाति' कमल पत्र किया है। परन्तु हमारी सम्मति में वह असङ्गत है क्योंकि अभी अग्नि क्या है उसी का ज्ञान कराया जा रहा है और इसीलिये मंत्र ३ में भी उसी का वर्णन जारी रखा है, पत्र कहने से प्रकट पदार्थों का भाव आ जाता है।

[2] स्वामी दयानन्द जी ने स्वयं 'जज्ञानं' का अर्थ उत्पादक किया है।

[3] 'विवः' का अर्थ स्वामी दयानन्द जी ने 'ग्रहण करता' है या महीधर ने 'प्रकाशयति' अर्थात् 'प्रकाशित होता है' किया है।

[4] स्वामी दयानन्द जी ने "सतः च असतः च योनिम् विवः" का अर्थ इस तरह किया है। (सतः) विद्यमान देखने योग्य (च) और (असतः) अव्यक्त (च) और कारण के (योनिम्) आकाशरूप स्थान को (विवः) ग्रहण करता है। उव्वट और महीधर दोनों का अर्थ प्रायः एक है, थोड़ा सा शब्दों का ही हेर-फेर है। "सतश्च योनिः विद्यमानस्य मूर्तस्य स्थानम् असतश्च अमूर्तस्य वाय्वादेः योनिम्" (उव्वट) अर्थात् विद्यमान या मूर्तिमान् स्थान सत् योनि और अमूर्त्य असत् योनि है। यहाँ सत् का अर्थ प्रत्यक्ष जगत् और असत् का

है, और जो प्रकट होकर देश वा काल से परिच्छिन्न हो, बनता मिटता रहे वह असत् है। सत् के अन्तर्गत् दो अवस्थाओं का भाव है। एक तो चिन्मात्र शेष जो ब्रह्म ही है, और दूसरी हिरण्यगर्भ स्थिति, जिसमें अहं रूप सर्वत्र व्याप्त होकर माया (प्रकृति) से परे प्रकट होने के लिये हिरण्य (सोने) के समान ज्योतिर्मय हो उठा हो। यह वही स्थिति है जिसके प्रकट होने के पश्चात् ही जगत् के कारण भूतों (अथवा प्रकृति) का जन्म होता है या कि वे प्रकट होते हैं इसी का वर्णन मंत्र ४ में किया है। यही (समवर्त्तताग्रे = समवर्तत + अग्रे) पहिले विद्यमान् रहता है और यही (भूतस्य जातः) भूतों को प्रकट करने वाला है और यही समस्त भूतों का (पतिरेक = पतिः एक) एक मात्र स्वामी अथवा अध्यक्ष है। इस तरह जगत् उत्पन्न या प्रकट होने के पूर्व दो स्थितियाँ हुईं, जो दोनों सत् हैं। फिर इस हिरण्यगर्भ नामी स्थिति के बाद सूक्ष्म और फिर स्थूल जगत् होता है। परन्तु जगत् रूपी कार्य होने के पूर्व प्रकट होने की क्रिया का होना आवश्यक होता है। जिस क्रिया द्वारा प्रकट होता है उसी का

अप्रत्यक्ष जगत् लिया है। यद्यपि लौकिक दृष्टा के लिये इन शब्दों का यह अर्थ भी होता है, परन्तु हमारी समझ में विषय के प्रकरण के अनुसार जब कि ब्रह्माग्नि से हिरण्यगर्भ और फिर सृष्टि का होना बतलाया जा रहा है, सत् का अर्थ वही अप्रत्यक्ष सत्ता से लेना चाहिये जो सदैव है और असत् का प्रत्यक्ष दृश्य अस्थिर जगत् से। सतः और इसी तरह असतः षष्ठी (एक वचन) और द्वितीया (बहु वचन) होता है। उव्वट वा महीधर ने षष्ठी मानकर अर्थ किया है। दयानन्द जी के अर्थ को पढ़ने से दोनों कारकों का अर्थ लिया जा सकता है। परन्तु प्रकरणानुसार हमारी दृष्टि से सत्, योनि, और असत् तीनों को कर्म कारक (द्वितीया) मानना अधिक उपयुक्त है क्योंकि जब ब्रह्म का वर्णन है तो उसके अन्तर्गत ये तीनों गुण विद्यमान हैं, ऐसा जानना ठीक होगा। सत् वा असत् के बहुवचन की शंका थोड़े विचार से समाधान हो जावेगी। शब्दों का क्रम भी इसी विचार की पुष्टि करता है। पहिले सत् फिर उसकी प्रकट होने की शक्ति (योनि) और फिर असत्।

नाम योनि है जिसका वर्णन मंत्र ५ में आया है। यह क्रिया यथार्थ में अपने आप का हवन कर डालना है। जब समस्त त्यागपूर्ण हवन होता अथवा जब अहं रूप परमात्मा स्वयं 'अधियज्ञ' रूप होता, तब कहीं सृष्टि उत्पन्न होती है। यही भाव मंत्र ४ में 'हविषा विधेम' और मंत्र ५ में 'सप्तहोत्रा' शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। पुराणों में "यज्ञो वै विष्णुः" (विष्णु भगवान् यज्ञ रूप हैं) कहकर इसी भाव को दर्शाया है। इस भाव को सरलता से समझने के लिये किसी बीज से अंकुर का निकलना देखिये। बीजान्तर्गत जो उत्पन्न होने की शक्ति है वह जब अपने आप को उसी में भस्म कर लेती है तब कहीं वह कालान्तर में अंकुर रूप हो प्रकट होती है। तात्पर्य यह है कि प्रकट होने की क्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् प्रादुर्भूत होने का अर्थात् लौकिक विकास का क्रम चालू रहते हुए कुछ काल के बाद दृश्य जगत् का निर्माण होता है। यह काल निमेषांश मात्र से लेकर वस्तु विशेष के निर्माणानुसार लक्ष या कोटियों वर्षों तक का रहता है। इसी निर्मित जगत् के अदृश्य व दृश्य, सूक्ष्म वा स्थूल लोकों का वर्णन अगले मंत्र ६, ७ वा ८ में किया गया है। चूँकि निर्मित जगत् के भिन्न-भिन्न रूप परमात्मा की प्रकट महिमा के द्योतक हैं इसलिये उक्त तीनों मंत्रों में उन्हें अथवा उन प्रकट स्वरूपों के अन्तर्गत विद्यमान् उस परमात्मा ही को नमस्कार किया है। इस तरह अ० १३ मंत्र १ से ८ तक में अग्निस्वरूप चिन्मात्र-ब्रह्म-स्थिति से लेकर स्थूल जगत् पर्यन्त का वर्णन आया है।

कुछ लोग अवतारवाद के खण्डन में यजुर्वेद अ० ३१ के उन्नीसवें मंत्र को उद्धृत करते हैं—

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वाः॥

बहुत से लोग इस मंत्र में आये हुए गर्भ शब्द का अर्थ साधारण 'गर्भ' समझते हैं। सच पूछिए तो इसमें 'हिरण्यगर्भ' की ओर संकेत है और किंचित् विचार से सिद्ध हो जायगा कि इसमें अवतारवाद का खण्डन नहीं है। 'अजायमानः' शब्द को लेकर बड़ी खींचातानी हुई है।

उसका सीधा अर्थ है 'उत्पन्न नहीं होने वाला'। उक्त मंत्र के अर्थ करने के पूर्व भाष्यकार को यह आवश्यक होता है कि यह निश्चय किया जाय कि 'अजायमानः' प्रजापति की विशेषता बताता है अथवा उससे पूर्व की स्थिति की। हमारी बुद्धि के अनुसार वह हिरण्यगर्भ रूप प्रजापति की पूर्व स्थिति उसी चिन्मात्रशेष रूपी अग्नि या ब्रह्म के लिये आया है जिसके विषय में अभी हम ऊपर कहते आ रहे हैं। यदि उसे 'प्रजापति' का विशेषण स्वरूप अथवा 'विजायते' क्रिया का कर्त्ता मानें तो एक ही मंत्र में विरोधाभास आ जाता है, क्योंकि उसका अर्थ होगा "जो उत्पन्न नहीं होता वही अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है"। इसलिये हमारी समझ में मंत्र का सीधा-सादा अर्थ यह होता है :—

जो (अजायमानः) उत्पन्न होनेवाला नहीं है, वही (गर्भेऽन्तः) हिरण्यगर्भान्तर्गत प्रजापति रूप हो (चरति) विचरता अर्थात् आन्दोलित होता है। तब फिर वही (बहुधा विजायते) अनेक रूपों में प्रकट होता है। (तस्य योनि)* उसकी प्रकट होने की क्रिया अथवा प्रकटावस्था को (धीराः) ध्यानशील ब्रह्मविद् जन (परिपश्यन्ति) चहुँ ओर से देखते हैं जिससे उन्हें विदित होता है कि (तस्मिन्) उस योनि में (ह) प्रसिद्ध (विश्वाः) सब (भुवनानि) लोक-लोकान्तर (तस्थुः) स्थित हैं। अर्थात् वही सब सूक्ष्म-स्थूल लोक-लोकान्तरों की खानि है।

'अजायमानः' शब्द चाहे ब्रह्म के लिये या चाहे प्रजापति के लिये आया हुआ समझा जावे, दोनों स्थितियों में अवतारवाद का खण्डन नहीं करता। यदि ब्रह्म के लिये आया हुआ माना जाय तो उसका अर्थ अवतारवाद के विरोधियों को वही लेना होगा जो यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र ४ में 'स्वयंभू' शब्द का लेते हैं। अवतारवादी 'स्वयंभू' का अर्थ 'अपने आप ही प्रकट होना' करते हैं और विरोधी उसका अर्थ करते हैं 'जो अपने आप ही अनादि काल से स्थित

---

*'तस्य' शब्द ब्रह्म या प्रजापति दोनों के लिये कहा जा सकता है। ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से सर्व भुवनादि हुए। इससे वक्ता के दृष्टिकोणानुसार ब्रह्म सबका मूल वा आदि कारण हुआ और प्रजापति उसके बाद का कारण।

हो'। इसलिये अजायमान से भी वही 'जो कभी उत्पन्न न हुआ हो अर्थात् अपने आप स्थित हो' यही अर्थ लेना होगा। जो अपने आप विद्यमान हो अर्थात् जिसे उत्पन्न करने या बनाने वाला कोई दूसरा न हो उसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आप अनेक प्रकार से प्रकट होकर रूप धारण करने वाला ही नहीं हो सकता। एक विद्यमानता अथवा स्थिति भाव का प्रदर्शक है और दूसरा स्वरूप धारण करने के सामर्थ्य के भाव का। इसलिये यह बिना किसी विरोध-भय से कहा जा सकता है कि जो उत्पन्न नहीं होने वाला है अर्थात् जो स्वयं स्थित है वह उत्पन्न होने की सामर्थ्य रखता हुआ भिन्न-भिन्न रूपों में उत्पन्न होता है। स्थित होना और रूप धारण करना दो भिन्न भाव हैं। अब यदि यह कहा जाय कि अजायमान प्रजापति की विशेषता बताता है न कि ब्रह्म की, तो भी उससे अवतारवाद का खण्डन नहीं होता। जो (अजायमानः) अपने स्वरूप से उत्पन्न नहीं होने वाला है, अर्थात् अपने आप उत्पन्न नहीं होता, उसके लिये यह कहना भूल होगी कि वह दूसरे के द्वारा अथवा दूसरे के रूप से भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जो अपने आप उत्पन्न हो उसे दूसरा उत्पन्न कर सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं।

जब यह कहते हैं कि प्रजापति अपने निज स्वरूप से उत्पन्न नहीं होता तब उसका अर्थ यह है कि उसके स्वरूप को उत्पन्न करनेवाला कोई दूसरा रूप होगा। इसलिये 'अजायमानः' शब्द के आ जाने से यह सिद्ध नहीं होता कि मंत्र में अवतारवाद का खण्डन है। यदि प्रजापति अजायमान है अर्थात् स्वयं स्थित न होकर दूसरे का स्वरूप है तो यही सिद्ध होता है कि वह प्रजापति उसी दूसरे से अवतरित होता है तथा उस प्रजापति से और दूसरे अवतरित होते हैं। इसी तरह 'उस में सब भुवन स्थित हैं' यह मन्त्र में आ जाने से भी अवतारवादियों का कुछ नहीं बिगड़ता। 'स्थित हैं' ये शब्द दो भावों के सूचक होते हैं। एक वह दशा जब सब भुवनादि प्रकटतः स्थित हों, और दूसरी वह दशा जब वे गुप्त या लुप्त रूप से विद्यमान हों। दृष्टान्त स्वरूप पानी से भरा एक चौड़े मुँह का वर्तन लीजिये। पानी स्थिर हो। इसके बाद किसी नली आदि से उसमें हवा का प्रवेश कीजिये तो देखियेगा कि उसमें छोटे-छोटे

बुलबुले सर्वत्र ऊपर नीचे उठ रहे हैं। इन बुलबुलों के प्रकट होने पर देखने वाला कहेगा कि पानी में बुलबुले स्थित हैं। परन्तु जब बुलबुले पानी में नहीं दिखते थे तब उनके प्रकट होने के पूर्व भी यह कहना पड़ता कि वे पानी ही में गुप्त रूप से विद्यमान हैं।[१] इसी तरह सृष्टि[२] हो चुकने के बाद अर्थात् भुवनादि प्रकट होने पर यह कहेंगे कि वे सब सर्वव्याप्त परमात्मा (ब्रह्म) नामी सत्ता में स्थित हैं। और सृष्टि होने के पूर्व भी यह कहेंगे कि वे उसमें ही गुप्त रूप से स्थित हैं क्योंकि उसी में से वे प्रकट होते हैं। किसी वृक्ष के प्रकट होने के पूर्व यदि कोई कहे कि उसके बीज के अन्तर्गत वह विशाल वृक्ष स्थित है तो उसका कहना निर्मूल न होगा। इस तरह 'स्थित हैं' शब्दों से सृष्टि के पूर्व की स्थिति और सृष्टि के बाद की स्थिति दोनों का ज्ञान होता है। इस मंत्र १९ में सृष्टि के पूर्व की स्थिति पर विचार किया जा रहा है, जैसा कि उसमें 'अजायमानः, प्रजापति, योनि, गर्भ' आदि शब्दों के आने से विदित होता है। गर्भ और योनि इन दोनों शब्दों से उक्त भाव की निर्विवाद पुष्टि हो जाती है। अतः 'उसमें सब भुवन स्थित हैं' कहने से उसी से प्रकट या उत्पन्न होना सिद्ध होता है। प्रकट या उत्पन्न होना ही अवतारवाद का पुष्टि-कारक है।

अध्याय ३१ पूरे का पूरा परमात्मा विषयक है। उसमें कुल २२ मंत्र हैं। परमात्मा और सृष्टि का सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसमें उस परमात्मा की उपासना के लिये मनुष्यों को आदेश है, तथा यह उपासना किस ढंग से

---

[१] हम यह पहले कह चुके हैं कि किसी आध्यात्मिक भाव को समझाने के लिये लौकिक पदार्थों से सर्वाङ्ग उपमा मिलना कठिन होता है। यहाँ पर पानी के बुलबुलों का दृष्टान्त देकर केवल स्थितता के दो भावों का आभास कराया गया है। इसलिये पाठक उसे वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर तर्कों की जाल-रचना करने न बैठें।

[२] पूर्व में कहे हुए सृष्टि शब्द के अर्थ का स्मरण कीजिये। सृष्टि अर्थात् सृजन का कार्य नित्य होता रहता है।

करनी चाहिये, यह भी बताया है ताकि मनुष्य आनन्द को प्राप्त कर सके। मंत्र १६ का अर्थ हम देख चुके। जिस प्रजापति का वर्णन १६ वें मंत्र में आया है उसी को १८ वें मंत्र में 'पुरुषम्' कहा है। इसी 'पुरुष' को 'महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' कहा है अर्थात् वह अत्यन्त महान्, अन्धकार को हरने वाला सूर्य-सा प्रकाश वाला है। यह 'पुरुष' कौन है? वही 'अहं' रूप जिसके विषय में हम पहिले कई बार कह चुके हैं। इस अहं रूप पुरुष को जानने से ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त हो सकता है, इसके सिवाय और कोई अन्य मार्ग नहीं है। यही इस मंत्र का सार है।[1] इसी अहं रूप पुरुष या प्रजापति को २० वें मंत्र में यह बताया है कि जो कुछ दिव्य लोक (World of Spirit) है उस सब के पूर्व वही उत्पन्न था, उस सब को प्रकाशित करने वाला (आतपति) वही है, उस सबका प्रथम या सर्व श्रेष्ठ हितू (पुरोहितः = पुर — हितः) वही है। वही (रुचाय) रुचि उत्पन्न कराने वाला (अर्थात् जिसे देखकर रुचि या प्रसन्नता हो) है और वही (ब्राह्मये) ब्रह्म की सन्तान के तुल्य है।[2] इस प्रकार उसकी महिमा बताते हुए मंत्र २० में

---

[1] मंत्र १८ में 'वेदाहमेतं पुरुषं······' पद आया है। उसका अर्थ स्वामी जी ने (अहम्) मैं जिस (एतम्) इस पूर्वोक्त (पुरुषम्) स्व-स्वरूप से सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को (वेद) जानता हूँ ऐसा किया है। इसका अन्वय 'अहम् एतम् पुरुषं वेद' किया जाता है। परन्तु हमें अधिक उपयुक्त 'एतम् अहम् पुरुषम् वेद' मालूम पड़ता है और इसलिये 'अहं रूप पुरुष' अर्थ किया है। परन्तु यदि अहम् का अर्थ 'मैं' (जिज्ञासु या विद्वान् के लिये ही) माना जाय तो भी हम जिस भाव का समर्थन करना चाह रहे हैं उसमें कोई क्षति नहीं पहुँचती। अन्य पुरुष एकवचन वर्तमान काल क्रिया का रूप भी "वेद" ही होता है जिसका अर्थ हुआ "जानता है"। देखो यजु० अ० ३२ मंत्र ६ वा १०।

[2] 'ब्राह्मये' पद का अर्थ स्वामी दयानन्द जी ने "परमेश्वर की सन्तान के तुल्य (सूर्य से)" किया है। अर्थात् जो ब्रह्म से उत्पन्न हो, यही उसका अर्थ निकला।

उसको नमस्कार किया है अर्थात् यह बताया है कि ऐसे महान् पुरुष को योगी जन नमन करते वा ध्यान में धरते हैं (योगिनस्तं नमन्ति ध्यायन्ति)। उसी पुरुष या प्रजापति के भाव की धारा मंत्र २१ और २२ में चली जाती है। मंत्र २० में 'ब्राह्मये' और २१ में 'ब्राह्मम्' (ब्रह्म के उपासक) तथा 'ब्राह्मण' (ब्रह्म के जानने वाले अर्थात् ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः) शब्दों के आने से ब्रह्म और प्रजापति दोनों स्थितियों का सम्बन्ध स्थापित किया गया है तथा २२ वें मंत्र में इस प्रजापति की स्थिति ही को श्री और लक्ष्मी सम्पन्न कहा है। जिसकी श्री और लक्ष्मी दो भार्या हों, दिन और रात आगे-पीछे चलने वाले नौकर हों, नक्षत्र (तारागण) रूप हों और सूर्य-चन्द्रमा (अश्विनों) का प्रकाश वा तेज सर्वत्र फैला हुआ मुख हो उसी प्रजापति की इस २२ वें मंत्र में प्रार्थना कर अध्याय ३१ को समाप्त किया गया है। सारांश हम यह देख चुके कि १८ वें मंत्र से (उसके पूर्व मंत्रों की बात ही जाने दीजिये) बराबर २२ वें मंत्र तक लगातार एक परमात्मा-विषयक धारा बहाई गई है।

अब हम यजुर्वेद अ० २५ मंत्र १० से १३ तक लेंगे। मत्र १० वाँ वही "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे......" है जो पहिले उद्धृत किया जा चुका है। यह मंत्र इतना अधिक भाव प्रधान वा ज्ञान का मूल है कि उसका प्रयोग वेदों में और इसलिये अन्य वेदान्त शास्त्रों में, भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया हुआ पाया जाता है। यह हम देख ही चुके हैं कि वह अथर्ववेद में आया है और यजुर्वेद के १३ वें अध्याय का चौथा मंत्र है। वह यजुर्वेद के २३ वें अध्याय का पहिला वा २५ वें अध्याय का दसवाँ मंत्र भी है। अ० २५ का यह १० वां मंत्र और १३ वां दोनों ईश्वर विषयक हैं। चारों मंत्रों में हिरण्य-गर्भ रूप देव (प्रजापति) का दिग्दर्शन कराया गया है अथवा उसकी महत्ता और प्रकटता पर प्रकाश डाला गया है। उसकी महती शक्ति के कारण उसे चारों में 'देवाय' कहा है और इसीलिये सभी उक्त मंत्रों में "कस्मै देवाय हविषा विधेम" का प्रयोग किया है।

इसके आगे अब हम यजुर्वेद के ३२वें अध्याय के चौथे मंत्र (एषोह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः...) को लेंगे, जो सनातनी और आर्य समाजियों के कसाकस

काल में अवतार और निराकार सिद्धि के हेतु इस-उस ओर खूब खींच-तान में पड़ा था। इसके पूर्व कि इस मंत्र के विषय पर कुछ कहा जाय यह आवश्यक है कि पाठक यह जान लें कि अ० ३१ में किस विषय का प्रतिपादन किया गया है और अध्याय ३२ में किस विषय का। कोई भी मननशील अन्तर्दृष्टि से देखने वाला पाठक हमारी इस सम्मति से सहमत होगा कि अ० ३१ में हिरण्य-गर्भ रूप पुरुष या प्रजापति का माहात्म्य-वर्णन है और अ० ३२ में उस पुरुष से भी ऊर्ध्व अर्थात् अधिपुरुष या ब्रह्म का माहात्म्य वर्णन। चूँकि पुरुष और अधिपुरुष एक दूसरे से, स्थिति-भेद के होते हुए भी, सम्बन्धित हैं, इसलिये दोनों अध्यायों में दोनों का स्थान-स्थान पर वर्णन आया है। इस प्रकार के सम्बन्धित वर्णन को देखने से और दोनों स्थितियों को भाष्यकारों द्वारा परमात्मा, पूर्ण परमात्मा, निराकार परमात्मा या परमेश्वर आदि कहे जाने के कारण पाठकों के लिये उक्त स्थिति-भेद का भूल जाना स्वाभाविक-सा हो जाता है। दोनों अध्यायों में प्रारम्भिक मंत्रों के पढ़ने से ही यह विदित हो जाता है कि एक 'पुरुष' का वर्णन करता है और दूसरा 'ब्रह्म' का। सारी सृष्टि दृश्य और अदृश्य, सूक्ष्म और स्थूल, भूत और इन्द्रियाँ बिना अहं पुरुष के नहीं हो सकतीं। इसलिये अ० ३१ का प्रथम मंत्र जिज्ञासु को मोटे तरीके से ज्ञान कराता है कि जो कुछ इस विशाल सृष्टि को तुम देखते हो वही मानो यह पुरुष है और उसीके अनेक पदार्थ मानों उसके (पुरुष के) सहस्र शीर्ष हैं, सहस्र आँखें हैं, सहस्र पाँव हैं। वही सर्वत्र आधार[1] रूप हो फैल रहा है और वही दशाङ्गुलम् अर्थात् पंच भूत और उनकी पांचों तन्मात्राओं में अधिष्ठित है। जब अ० ३१ इस बात का ज्ञान जिज्ञासु को करा देता है कि समस्त सूक्ष्म और स्थूल जगत् अथवा दृश्य और अदृश्य ब्रह्माण्ड अत्यन्त महान् हैं, उनसे भी महान् पूर्वोक्त

---

[1] 'स भूमि ꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' अर्थात् सः सर्वतः भूमिम् स्पृत्वा दशाङ्गुलम् अतिष्ठित्। यहां भूमिम् का अर्थ हमने 'आधार' लिखा है। यदि भूमि या भूगोल ही लिया जावे तो भी कोई हानि नहीं है। 'भू' जो होवे इसी मूलार्थ को समझना चाहिये।

अधिष्ठित पुरुष है जो नित्य क्रियाशील रह कर यज्ञ रूप हो उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय क्रियाओं को करता रहता है तथा उसी यज्ञ स्वरूप पुरुष का अनुकरण कर मनुष्य सप्त परिधयः और त्रिसप्त समिधः[1] लेकर मानस यज्ञ करता हुआ क्रियाशील रहे—जब इस प्रकार से सर्व भूतादि में अधिष्ठित पुरुष नाम की शक्ति की महत्ता बता उसकी उपासना की ओर रुचि उत्पन्न कर, जिज्ञासु को कर्तव्य क्षेत्र में यज्ञ रूप हो, उसी शक्ति का अनुकरण करने के लिये अ० ३१ तैयार कर देता है तब अ० ३२ यह कहना प्रारम्भ करता है कि यह जो सब कुछ है वह एक ऊर्ध्व मूल शक्ति अधिपुरुष के बिना नहीं हो सकता। वही मूल शक्ति सब कुछ है। वह नहीं तो पुरुष अथवा प्रजापति ही नहीं। इसलिये अ० ३२ का प्रथम मंत्र यों कहा गया है :—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रंतद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥१॥

अर्थात् (तत् एव अग्निः) वह ही अग्नि (तत् आदित्यः) वह (ही) सूर्य (तत वायुः) वह (ही) वायु (उतत् चन्द्रमाः) और वह (ही) चन्द्रमा है। (तत् एवं

---

[1] सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥३१॥५॥ सप्तअस्य आसनपरिधयः त्रिसप्तसमिधः कृताः। देवाः यत् यज्ञम् तन्वानाः अबध्नन पुरुषम् पशुम् ॥ जिस प्रकार यज्ञ के लिये कुण्ड या परिधि वा समिध की आवश्यकता होती है उसी प्रकार इस मानस यज्ञ को सिद्ध करने के लिये (देवाः) विद्वान् जन सात गायत्री आदि छन्द रूपी परिधि को रचकर इक्कीस प्रकार की समिध को इस यज्ञ में हवन करते हैं। स्वामी दयानन्द जी ने इक्कीस समिधियाँ इस प्रकार बताई हैं :—प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच स्थूल भूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और सत-रज-तम तीन गुण। किसी-किसी ने इनकी संख्या इस प्रकार बताई है :—पंच-भूत, पाँच उनकी तन्मात्रायें (सूक्ष्मभूत), दस इन्द्रियाँ और मन (इस मन के अन्तर्गत अहंकार भी आ जाता है)।

शुक्रम्) वह ही शुक्र (तत् ब्रह्म) वह (ही) ब्रह्म (ता आपः) वह (ही) आप है और (सप्रजापतिः) वही प्रजापति है।[1]

एक ओर अध्याय ३१ में पुरुष रूप क्रियावान् शक्ति का अनुकरण करने के लिये भूत, इन्द्रियाँ, त्रिगुणादि युक्त प्रकृति इत्यादि का हवन करते हुए कर्म-यज्ञ करने का आदेश है [यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः (अ० ३१ मं० १६) अर्थात् देवगण याने विद्वज्जन अग्निवत् यज्ञ स्वरूप ईश्वर की पूर्वोक्त यज्ञ द्वारा पूजा करते हैं], तो दूसरी ओर अ० ३२ में अधिपुरुष ब्रह्म-शक्ति को प्राप्त करने के लिये, जो (ओतः प्रोतः च विभूः प्रजासु) समस्त सृष्टि रूप प्रजा में विभु होकर ओत प्रोत हो रहा है, 'निहित गुहा' की (अ० ३२ मं० ८ और ९) अर्थात् स्थित-बुद्धि या स्थित-प्रज्ञ होने की आवश्यकता बतलाई है और इसीलिये अन्त में सत्यासत्य का निर्णय करने वाली इस (मेधाम्)[2]

---

[1] यहाँ पर अग्नि आदि पदार्थवाची या गुणवाची—किसी भी अर्थ में लिये जा सकते हैं। जब गौण रूप में लिये जावें तब तेज, प्रकाश बल, शान्ति, व्यापकता आदि अर्थ समझना चाहिये। आपः का अर्थ जल है। सृष्टत्व का यह प्रथम तत्व माना गया है बाकी चार आकाश, वायु, अग्नि और पृथ्वी है। आपः का अर्थ कोई-कोई आकाशतत्व करते हैं। वह अप का रूप है। किसी भी हालत में वह पंचतत्वों में से एक है और मनुस्मृत्यादि में उसे प्रथमतत्व कहा है "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" (देखो मनु १। ८ वा ७८) पं० तुलसीराम जी कहते हैं कि "अप शब्द से देह के बीज-भूत सब सूक्ष्मभूत समझने चाहिये। परन्तु श्लोक ७८ के अर्थ में उन्होंने उसका अर्थ जल ही लिखा है।

*[2] 'मेध' पुल्लिङ्ग है। उसका अर्थ है त्याग, यज्ञ। 'मेधा' उस का स्त्रीलिङ्ग रूप है। इसलिये 'मेधा' कहने से उस शक्ति या बुद्धि का बोध होता है जिसमें इन्द्रियाँ आदि पूर्वोक्त त्रिसप्त समिधियाँ जलाई जा सकें अथवा जिसमें प्रवृत्तियों के कारण त्यक्त हों।

उत्तम बुद्धि को प्राप्त करने के हेतु मंत्र १३, १४ वा १५ में अनेक प्रकार से प्रार्थना (आकांक्षा) की गई है।

बिना 'निहित गुहा' या 'मेधा' के ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता। बिना ब्रह्मज्ञान के कर्म की उत्तमता नहीं आती, अर्थात् कर्मशील पुरुषोत्तम नहीं होता; और बिना कर्म की उत्तमता के पुरुष श्री सम्पन्न नहीं हो सकता, लक्ष्मी सम्पन्न वह भले ही हो जावे। जहाँ पुरुष या प्रजापति रूप कर्म-शक्ति का दौड़-दौड़ा हो वहाँ श्री और लक्ष्मी युगल भार्याओं के समान प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु लक्ष्मी चञ्चला कहलाती है और ब्रह्म शान्ति-उदधि। इसलिये जहाँ ब्रह्म-रूपी अगाध शान्ति के साथ पुरुष रूप कर्म-शक्ति का नाता जुड़ा हुआ हो, वहाँ मन-चलित करने वाली लक्ष्मी की चञ्चलता कैसे टिक सकती है। इसीलिये अ० ३२ के अन्तिम सोलहवें मंत्र में (इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभेश्रिय-मश्नुताम्) कहा है अर्थात् मेरे लिये यह ब्रह्म और क्षत्र (पुरुष या प्रजापति) तथा उन दोनों के बीच में रहने वाली श्री प्राप्त हो, और अ० ३१ के अन्तिम २२वें मंत्र में श्री और लक्ष्मी दोनों को साथ रहने वाली भार्यादि कहा है। उक्त २२वें मंत्र में दिये हुए दो पत्नियों के भाव में, हमारी सम्मत्यनुसार, दो सौतों का भाव आता है। एक शान्ति-प्रिय गाम्भीर्य श्री और दूसरी चंचला लक्ष्मी। निरी कर्मशक्ति के कारण कर्मवीर सम्पत्ति-भोग तथा सौन्दर्य-भोग दोनों को प्राप्त तो अवश्य कर लेता है, परन्तु विपरीत स्वभाव वाली दो सौतों के रहते हुए वह कभी यथार्थ सुख-भोगी नहीं हो सकता। सौतें तो समान स्वभाव वाली भी बहुधा दुखदायी ही हुआ करती हैं, यह किसी से छुपा नहीं है। इसलिये शान्ति-उदधि ब्रह्म से पुरुष रूप कर्मवीर का नाता जुड़ा है ताकि श्री (शोभा-सौन्दर्य) निर्विघ्न होकर निवास करे तथा सत्यानन्द को प्राप्त करावे।

इतना सब कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म से सम्बन्धित रहने के कारण पुरुष लक्ष्मी हीन ही हो जाता है। लक्ष्मीयुक्त होना तो उसका सामर्थ्य-पूर्ण स्वभाविक गुण ही है। परन्तु ब्रह्म से सम्बन्धित होने के कारण वह लक्ष्मी से प्रभावित नहीं होता क्योंकि वह श्री रूप ही होकर वास करने लगती है। 'क्षत्र' का अर्थ चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी शब्दार्थ

पारिजात' में 'बल' 'राष्ट्र' दिया है, और लक्ष्मण रामचन्द्र वैद्य द्वारा लिखे गये संस्कृत-इंग्लिश कोष में उसका अर्थ 'डोमीनियन' 'सुपरमेसी' 'माइट' दिया है। 'क्षत्र' शब्द शक्ति का द्योतक है। दूसरे शब्द 'राष्ट्र' वा उसी शक्ति-भाव के प्रदर्शक हैं। 'क्षत्रपति' आदि शब्द इसी 'क्षत्र' से बने हैं, और उनसे शक्ति रूप लौकिक पदार्थों का बोध होता है। इसी प्रकार 'क्षत्र' में अलौकिक शक्ति का भी भाव है। जो शक्त्यवतार प्रजापति या पुरुष है उसी के लिये प्रकरण को देखते हुए, 'क्षत्र' शब्द का प्रयोग उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त अ० ३१ मं० २२ पर ध्यान रखते हुए 'श्रियम्' का अर्थ 'श्री' ही रखना चाहिये न कि 'लक्ष्मी' क्योंकि उक्त मंत्र में श्री और लक्ष्मी दोनों शब्द दो भिन्न भावों के प्रतीक हैं, तथा अ० ३२ मं० १६ उससे स्वतंत्र असम्बन्धित नहीं कहा जा सकता, यह भी हम देख चुके हैं।

अब हम 'एषोह देवः—'अ० ३२ मं० ४ पर आते हैं। पूरा मन्त्र इस प्रकार है :—

एषोह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोह जातः सउ गर्भे अन्तः।
स एव जातः सजनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः॥

इस पर स्वामी दयानन्द जी का भाष्य निम्न प्रकार से है —

"पदार्थ :—हे (जनाः) विद्वानो, (एषः) यह (ह) प्रसिद्ध परमात्मा (देवः) उत्तम स्वरूप (सर्वाः) सब दिशा और (प्रदिशः) विदिशाओं को (अनु) अनुकूलता से व्याप्त होके (सः) (उ) वही (गर्भे) अन्तःकरण के (अन्तः) बीच (पूर्वः) प्रथम कल्प के आदि में (ह) प्रसिद्ध (जातः) प्रकटता को प्राप्त हुआ (सः, एव) वही (जातः) प्रसिद्ध हुआ (सः) वह (जनिष्यमाणः) आगामी कल्पों में प्रथम प्रसिद्धि को प्राप्त होगा (सर्वतो मुखः) सब ओर से मुखादि अवयवों वाला अर्थात् मुखादि इन्द्रियों के काम सर्वत्र करता (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त हुआ (तिष्ठति) अचल सर्वत्र स्थिर है। वही तुम लोगों को उपासना करने और जानने योग्य है।

"भावार्थः—यह पूर्वोक्त ईश्वर जगत् को उत्पन्न कर प्रकाशित हुआ

सब दिशाओं में व्याप्त होके इन्द्रियों के बिना सब इन्द्रियों के काम सर्वत्र व्याप्त होने से करता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थिर है, वह भूत भविष्यत् कल्पों में जगत् की उत्पत्ति के लिये पहिले प्रकट होता है, वह ध्यानशील मनुष्य के जानने योग्य है अन्य के जानने योग्य नहीं है।"

यह हम देख चुके हैं कि अ० ३२ ब्रह्म का प्रतिपादक है। मंत्र ४ के पूर्व मंत्रों में उसी ब्रह्म का वर्णन है और ५ वें मंत्र में भी उसी का वर्णन आया है। इसलिये मंत्र ४ में भी उसी के लक्षण बताये हैं। इन लक्षणों के अनुसार इस मंत्र के ३ विभाग होते हैं। (१) व्यापक मूल स्वस्थिति (एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः) (२) सर्व प्रथम हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट होने या उत्पन्न होने का स्वभाव (पूर्वोहजातः सउ गर्भे अन्तः) और (३) भूत, भविष्य और वर्तमान में कार्य रूप हो नाना रूप से स्थित है (स एव जातः, जनिष्यमाणः, प्रत्यङ् तिष्ठति सर्वतो मुखः)।

इस मंत्र में 'गर्भे अन्तः', 'जातः और जनिष्यमाणः', तथा 'सर्वतो मुखः' इन तीनों के अर्थ करने में अवतार-वादी एवं निरावतार-वादियों में मतभेद है। प्रत्येक अपने-अपने वाद की सिद्धि उनसे करते हैं और उसी के अनुरूप उनका अर्थ लगाते हैं। 'गर्भे' का अर्थ स्वामी जी ने 'अन्तःकरण' किया है और 'अन्तः' का 'बीच'। इसलिये 'गर्भे अन्तः' का अर्थ उनके अनुसार 'अन्तःकरण के बीच' हुआ। उव्वट ने 'मातुरुदरे अन्तगर्भे' और महीधर ने 'गर्भमध्ये' किया है। परन्तु हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार 'हिरण्य गर्भान्तर्गत' या 'हिरण्यगर्भीय मध्यस्थान' या 'हिरण्य गर्भ' ही प्रकरणानुसार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि गर्भेअन्तः का अर्थ अन्तःकरण अथवा मातृ-उदरस्थ गर्भ लिया जाता है तो ब्रह्म और उसकी स्फुलिङ्ग-शक्ति का सर्व समर्थवान स्वाभाविक गुण व्यष्टि रूप से सीमित कर दिया जाता है, जो प्रकरण के प्रतिकूल है। चौथे मन्त्र के पूर्व के सभी मन्त्रों में उन दोनों शक्तियों का समष्टि रूप से वर्णन आया है जो पाँचवें मन्त्र तक बराबर चला गया है। छठवें मन्त्र से व्यष्टि रूपेण प्रारम्भ होता है। मन्त्र ३ की पूर्वार्द्ध ऋचा

(न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः) और इसी तरह मन्त्र ५ की पूर्वार्द्ध ऋचा (यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा) ब्रह्म-दर्शनी हैं, तथा उन्हीं दोनों की उत्तरार्द्ध ऋचाओं में उस ब्रह्म की स्फुलिंगनी शक्ति का वर्णन है जिसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति कहा गया है। वे ये हैं—

हिरण्यगर्भ इत्येष मामाहिंꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः[1] ॥३॥ आ०
प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतिꣳषि सचते स षोडशी[2] ॥५॥

---

[1] यहाँ पर पूर्व-कथित तीन बातें दुहराई गई हैं, (१) हिरण्यगर्भ इति एषः (इस प्रकार यह (पूर्व कथित) हिरण्यगर्भ है) देखो यजु० अ० २५ मं० १० से १३ तक,

(२) मामाहिंꣳसीत इतिएषः (इस प्रकार यह (पूर्वकथित) मामाहिंसीत है) देखो यजु० अ० १२ म० १०२। मामाहिंसीत का अर्थ है (मा) मुझको (मा) मत (हिंसीत) ताड़ना दे याने मुझको अपने से विमुख न कर।

(३) यस्मान्न जातः इति एषः (इस प्रकार यह (पूर्व कथित) यस्मान्न जातः है। देखो यजु० अ० ८ म० ३६। अ० ८ म० ३६ और अ० ३२ मं० ५ प्रायः एक ही से हैं। उत्तरार्द्ध दोनों के एक ही हैं। पूर्वार्द्धों में केवल शब्दों का कुछ हेर-फेर है, भाव में नहीं।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतींꣳषि सचते सषोडशी ॥अ० ८ मं० ३६॥
यस्माज्जात न पुरा किंचनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजयासꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतींꣳषि सचते सषोडशी ॥अ० ३२ म० ५

[2] अ० ३२ मं० ५ का पूरा अर्थ यह है—जिस ब्रह्म से पहिले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ। जो विश्व के भुवनों या समस्त भुवनों का आधार है वह स्वयं ही (आबभूव) वर्तमान है। वही (त्रीणि) तीन ज्योतियों और सोलहों कलाओं से युक्त प्रजापति रूप होकर समस्त प्रजाओं में (सम् रराणः) सम्यक् रमण करता है। अथवा सोलहों कला वाला प्रजापति प्रजाओं में रमण करता

जिस ब्रह्म की कोई प्रतिमा नहीं है (मं० ३), जिसके पूर्व कोई उत्पन्न नहीं हुआ (मं० ५) उसी के विषय में मं० ४ में "एषोह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः" कहा है। इसी तरह जिस ब्रह्म की स्फुलिंगिनी सर्वव्याप्त शक्ति को 'हिरण्यगर्भ' मंत्र ३ में, और 'प्रजापति' मंत्र ५ में कहा हो, उसी शक्ति की अन्तःकरण या उदरस्थ गर्भ में व्यष्टि रूप से व्याप्ति मंत्र ३ वा ५ के मध्यस्थ चौथे मंत्र में बतलाना प्रकरण के अनुकूल न रहेगा। प्रसङ्ग के कारण गर्भ के साथ हिरण्य विशेषण के न आने से भी केवल गर्भ पद से स्फुलिंग शक्ति रूप मूल भाव का प्रदर्शन हो जाता है। हिरण्य का अर्थ है सोना, और कभी-कभी उसको सूर्य के अर्थ में भी लाते हैं। इसलिये उससे तेजोमय प्रकाश का भाव मन में आ जाता है। यही कारण है कि लौकिक पदार्थों के गर्भ की अपेक्षा तुलनात्मक दृष्टि से ब्रह्म के गर्भ में विशेषता बताने के अभिप्राय से उसके साथ हिरण्य विशेषण जोड़ा जाता है, अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं है। अतः "पूर्वोह जातः सउ गर्भे अन्तः" का अर्थ इस प्रकार होगा। "ह सः उ पूर्वः गर्भे अन्तः जातः" अर्थात् (ह) निश्चय

हुआ तीन ज्योतियों को स्थापित करता है। कलायें ६४ होती हैं और १६ भी। परन्तु ६४ कलायें कार्य-क्षेत्र (Practical art) के विभाग हैं और १६ कलायें पूर्णता के अङ्ग हैं जैसे चन्द्रमा की सोलह कलायें। दयानन्द जी ने प्रश्नोपनिषद के आधार पर प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, लोक, नाम, कर्म (दूसरे स्थान पर कर्म न कह कर इच्छा कहा है) ये सोलह कला बताई हैं। महीधर ने त्रिज्योतियों को 'रवीन्द्वग्नि रूपेण' कहा है। उसी प्रकार दयानन्द जी ने 'तेजोमय बिजली' सूर्य, चन्द्रमा रूप प्रकाशक' कहा है। परन्तु हमारी समझ में उत्पत्ति-स्थिति-लय रूप ज्योतिर्मय त्रिक्रियायें कहना अधिक उपयुक्त होगा अथवा अर्थातिशय के अभिप्राय से त्रीणि ज्योति कहा हो। जैसे अंग्रेजी में 'थ्राइस वेल्कम', 'हुर्रे हुर्रे हुर्रे' आदि एवं संस्कृत में शान्तिः शान्तिः शान्तिः इत्यादि कहते हैं।

जानो* (सः) (उ) वह ही (पूर्वः) सबसे पहिले (गर्भेअन्तः) हिरण्य-गर्भान्तर्गत (जातः) प्रकट या उत्पन्न हुआ। मंत्र ४ में इस 'पूर्वोहजातः सउ गर्भे अन्तः' के पहिले और पीछे आने वाले भागों के देखने से भी यही अर्थ मान्य हो सकता है। दोनों भागों में समष्टि भाव ही का प्रदर्शन किया गया है। पीछे का भाग है "सः एव जातः, सः जनिष्यमाणः, प्रत्यङ् तिष्ठति, सर्वतः मुखः"। इस अर्द्ध भाग में भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल की स्थिति का समावेश है, और 'सर्वतः मुखः' (सब ओर मुख वाला) अर्थात् दशों दिशाओं में व्याप्त-कण कण में रमण करने वाला जिसके ऊपर, नीचे, मध्य में सिवाय उसके और कुछ नहीं है, वह ही वह है, 'नैनमूर्द्ध्वं न तिर्य्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्' (मं० २) इन तीनों ऊपर, नीचे, मध्य स्थितियों की विशेषता बताने वाला है। इसलिये इसका अर्थ यह हुआ। ब्रह्म जो (प्रदिशोऽनुसर्वाः) दिशा-विदिशाओं में सब ओर व्याप्त है, (सः एव) वह ही (सर्वतः मुखः] सब ओर मुख किये हुए (जातः) पहिले भूत काल में प्रकट हुआ (सः जनिष्यमाणः) वही भविष्य में प्रकट होगा और वही वर्तमान में (प्रत्यङ् तिष्ठति) प्रत्येक अङ्ग (पदार्थ) में स्थित है।

हमने 'जातः' और 'जनिष्यमाणः' का अर्थ 'प्रकट हुआ' और 'प्रकट होगा' कर दिया है। इसलिए निरावतार-वादी सम्भवतः कह उठेंगे कि हमने उन्हीं के पक्ष का समर्थन कर दिया, अतएव वाद-विवाद का सब खेल तमाशा भी खतम हो गया। पर बात यों नहीं है। जिस प्रकार 'प्रकट' और 'प्रसिद्ध' में 'प्र' उपसर्ग है उसी प्रकार 'उत्पन्न' और 'उत्पत्ति' में 'उत्' उपसर्ग है। जिस प्रकार 'प्र' का अर्थ है 'उत्कर्ष' इत्यादि, उसी प्रकार 'उत्' का अर्थ होता है 'ऊपर' इत्यादि। एक में भाव है आगे को बढ़ना और दूसरे में ऊपर को उठना। इस तरह दोनों का प्रयोग प्रायः एक ही भाव प्रदर्शन के लिये किया जाता है।

---

* 'ह' का अर्थ दयानन्द जी ने 'प्रसिद्ध' किया है। लेकिन उसका यथार्थ में कोई अर्थ नहीं होता। वह एक अव्यय है जिसका प्रयोग किसी बात पर जोर देने के लिये किया जाता है। जैसे अंग्रेजी में verily, indeed आदि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है।

उत्पन्न का संधि-विग्रह हुआ 'उद्+पन्न' और इसी तरह 'उत्पत्ति' का 'उद्+पत्ति'। पन्न का अर्थ है गिरा हुआ, डूबा हुआ अर्थात् इसलिये उद्+पन्न का अर्थ हुआ जो ऊंचा उठा हो इत्यादि। इसी तरह तत् का अर्थ है गिरना। इसलिये उद्+पत्ति का अर्थ हुआ जो ऊपर उठा हो इत्यादि*। ब्रह्म सत्ता सब सृष्टि का 'पृष्ठमसि' आधार है अर्थात् वह सब का मूल स्थान है जिस पर ऊपर का दृश्य भाग टिका हुआ है। यही डूबा भाग जब प्रत्यक्ष होता है तभी उसका नाम उत्पन्न या उत्पत्ति होता है क्योंकि वह नीचे से ऊपर को चलता है। यही भाव प्रकट और प्रसिद्ध शब्दों में विद्यमान है। इन सभी शब्दों में अप्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष तीनों का भाव भरा है। प्रत्यक्ष होने का क्रम भी रहता है। परन्तु हम केवल स्थूल दृष्टि से देखने वाले होने के कारण उस क्रम को भूल जाते हैं, और जब स्थूल दृश्य हमारी दृष्टि में आता है तब उसका सहसा 'उत्पन्न' या 'प्रकट' होना कहने लगते हैं। वेणु बन में सहसा आग दिखी। मूर्ख लोग कहेंगे किसी देवादि ने लगा दी। समझदार कहेंगे कि वह वेणु-वेणु की रगड़ से 'प्रकट' हो गई परन्तु समझदार का भी ध्यान उसके प्रकट होने के क्रम पर नहीं जाता। वेणु में अदृश्य शान्तिमय सोई हुई आग क्रम-क्रम से रगड़ खाते-खाते कुछ काल पर्यन्त उत्पन्न या प्रकट हो सकी यह हम भूल जाते हैं। 'प्र' और 'उद्' उपसर्गों में इसी क्रम के रहस्य का अनुभव करना चाहिये। अब यदि विचार किया जाय कि प्रारम्भ में केवल एक ही सत्ता है, जिसके अन्तर्गत सर्व भूत (भू) (भव)=होना; जो हो सके या हुए वे ही भूत हैं, वे ही भुवन हैं सूक्ष्म और स्थूल) समाधिस्थ हैं, तो प्रकट या उत्पन्न होने का क्रम सहज ही समझ में आ जायगा। उत्पन्न होने के लिये उस ब्रह्म को इधर-उधर जाने-आने की कोई आवश्यकता नहीं है जैसा कि जीव-उत्पत्ति को गलत समझ कर भ्रमवश लोग कुतर्क करने लगते हैं। इस सर्वव्याप्त शान्तिमय सोई हुई शक्ति में सर्व ओर (सर्वतो मुखः) स्फुलिंगिनी शक्ति अहं रूप होकर सर्व प्रथम जागृत होती अथवा उत्पन्न या

---

*उत्पन्न का अर्थ होता है कूदना।

प्रकट होती है। सर्वप्रथम ब्रह्म प्रकट होता और फिर जगत् उत्पन्न होता है। इसलिये जगत् रूप प्रकटता का प्रारम्भ ब्रह्म(अन्तर्भूतोऽणयर्थः) से ही होना सिद्ध होता है।

श्वेताश्वतर उपनिषदीय मंत्रों में साकारता—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्ति योगाद्वर्णाननेकान्निहतार्थोदधाति।
विचैतिचान्ते विश्वमादौ सदेवः सनो बुद्ध्या शुभया संयुनक्त ॥१॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥२॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी।
त्वं जीर्णोदण्डेन वंचसि त्व जातो भवसि विश्वतो मुखः ॥३॥

नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋत्वः समुद्राः।
अनादिस्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वाः ॥४॥

उक्त चारों मंत्र श्वेताश्वतर उपनिषद् के चौथे अध्याय के प्रथम चार मंत्र हैं। उक्त मंत्र ४ में 'विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वाः' आये हुए पद-समुच्चय का भाष्य शङ्कराचार्य जी ने 'विभुत्वेन व्यापकत्वेन यतो जातानि भुवनानि विश्वानि' किया है। 'इसी से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है' यह चौथे मंत्र के अन्त में तात्पर्य स्वरूप उस समय कहा गया है जब कि उसके पूर्व के सब से पहिले मंत्र में यह बताया जा चुका है कि प्रारम्भ में वही एक अद्वितीय अवर्णा है और वही अवर्णा नाना शक्ति के योग से अनेक-वर्णा होता है। फिर यह अनेकवर्णा किस प्रकार से है, यह आगे के मंत्रों में कुछ उदाहरण देकर बताया है। मंत्र २ में सूक्ष्म अदृश्यतत्त्वों का उदाहरण है, मंत्र ३ में मनुष्य जाति के दोनों पुरुष-स्त्रीलिङ्गों तथा उनकी काल-बद्धता के कारण भिन्न स्वरूपों का वर्णन है और फिर मंत्र ४ में पक्षी आदि प्राणियों का दृष्टान्त है।* इन सब प्रकार के दृष्टान्तों के पश्चात् कहा गया है कि यह

---

* 'नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षः तडिद्गर्भश्चतवः समुद्राः।' चौथे मंत्र के इस पूर्वार्द्ध में जो पतङ्ग आदि के दृष्टान्त दिये हैं उनमें हमें

सब जगत् इसी (परमात्मा या ब्रह्म) से उत्पन्न हुआ। जब एक ओर यह कहा जाता है कि ब्रह्म से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है तब दूसरी ओर यह

अत्यन्त सुन्दर वा उच्च भाव का गाम्भीर्य दिखता है। यद्यपि उसके पूर्व के दो मंत्रों की सङ्गति से पक्षी वा कीटों को, जो निम्नश्रेणी के चेतन हैं, शङ्कराचार्य आदि भाष्यकारों ने निकृष्ट प्राणी कहा है सो ठीक है, तथापि उनकी निकृष्टता में भी वही 'ब्रह्म अपनी सत्यमय स्फुलिंगिनी शक्ति के साथ विद्यमान है'—यह भाव लाने के लिये ही मंत्र में नीलः पतंगः लोहिताक्षः हरितः कहा है। इन निम्न श्रेणी के चेतनों में ही नहीं, बल्कि जड़ पदार्थों में भी वही शक्ति विद्यमान है, इसलिये तड़ितगर्भीय ऋतवः कहा है। आकाश वर्ण अर्थात् नीला रंग शान्तिमय निर्विशेषता का द्योतक है ऐसा हम पहिले समझा आये हैं और उसमें विद्यमान स्फुलिंगिनी प्रकाश वा तेजोमय शक्ति लाल वर्ण की मानी जाती है। नीला पतंग। पतंग अर्थात् उड़ने वाला कीट-भौंरा आदि। वह शान्तिमय शक्ति (नीला) जिसका उड़ान भरने का स्वभाव है। चूँकि हरा रंग भी शान्ति का द्योतक है (जैसे 'दूर्वादलश्यामतनुंदेवं देवेन्द्र पूजितम्'—पद्म पुराण), इसलिये हरितः (सुआ आदि) कहा है। वह हरे रंग का पक्षी भी उड़ान भरने का स्वभाव रखता है, और वह हरा रंग कैसा है? लोहित अर्थात् रक्त वर्ण की आँख वाला। इसी तरह जड़ श्याम मेघ भी है जिसके भीतर लाल तेजोमय बिजली भरी हो। ऋतवः का अर्थ भाष्यकारों ने मेघ लिया है। यथार्थ में ऋतवः ऋतु शब्द का बहुवचन है। समुद्राः कहने में दो भाव प्रतीत होते हैं। एक तो यह तड़ित्-युक्त मेघ अपनी उत्पादक शक्ति रूपी वर्षा से असीम अगाध समुद्री रूपी सृष्टि (जगत्) को बनाता है। और दूसरा भाव यह कि अपनी असीमता तथा अगाधता के कारण श्याम-वर्णीय शीतल जलधारी समुद्र मय अपनी अन्तरवाहिनी अन्तर्ज्वाला (बड़वा नल) के रहता है। तात्पर्य यह है कि मंत्र-प्रणेता ऋषि ने निम्न श्रेणी के प्राणी वा जड़ पदार्थों के दृष्टान्त देने में भी शान्तियुक्त तेज का भाव अपने शब्दों में भर दिया है।

कहना कि आदि में ब्रह्म सृष्टि को बनाता है, ग़लत होगा। प्रथम में एक अद्वितीय अवर्ण का भाव है जिससे सृष्टि प्रकट होती है और दूसरे में दो वस्तुओं का भाव है जिन में से एक बनाने वाला रहता है।

शांकर भाष्यम्—"य एकोऽद्वितीयः परमात्माऽवर्णः जात्यादि रहितो निर्विशेष इत्यर्थः। बहुधा नाना शक्ति योगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थोऽग्रहीत प्रयोजनः स्वार्थ निरपेक्ष इत्यर्थः। दधाति विदधात्यादौ। विचैति व्येति चान्ते प्रलय काले। च शब्दान्मध्येपि यस्मिन् विश्वं सदेवोद्योतन स्वभावो विज्ञानैकरसः इत्यर्थः। सन्तेऽस्मान् शुभया बुद्ध्या संयुनक्तु संयोजयतु।"

प्रलयकाल में जब सम्पूर्ण विश्व उसी में लीन हो जाता है तब बाहर क्या रह जाता है? कुछ नहीं! अर्थात् प्रकृति भी नहीं रहती। तभी वह ब्रह्म एक अद्वितीय अवर्ण निर्विशेष रहता है। यह निर्विशेष क्या है? इसे जानने के लिये भगवान् शङ्कराचार्य की 'विवेक चूड़ामणि' में 'प्रपञ्चकाबाध' नामक विषय के अन्तर्गत दिये हुए श्लोकों को पढ़िये। उनमें से एक यह है "द्रष्ट दर्शन् दृश्यादि भावशून्यैक वस्तुनि। निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदाकुतः"॥ अर्थात् द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि भावों से शून्य, निर्विकार, निराकार और निर्विशेष एक वस्तु में भला भेद कहाँ से आया? इस निर्विशेष के लिये यह कहना कि वह अनेक वर्णों को सृष्टि के आदि में बनाता है, भ्रम वा भूल है क्योंकि ऐसा कहने से भेद भाव आ जाता है। जब तक उसमें सविशेषता नहीं है तब तक सब कार्य स्थगित रहते हैं। यह सविशेषता वह स्वयं अपने आप में नाना शक्तियों के रूप में धारण करता है और उन्हीं के योग से अनेक वर्ण प्रकट होते हैं। यही भाव "बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति" में है जिसका अर्थ यह होगा—"नाना शक्ति के योग से अनेक वर्णों को अर्थ विशेष के हेतु धारण (या ग्रहण) करता है।"* इसी अपने आपसे प्रकट होने के

---

*निहित+अर्थ=निहितार्थ। शांकर भाष्य में इसका अर्थ स्वार्थ निरपेक्ष प्रयोजन किया है। परन्तु हमारी समझ में 'विशिष्टार्थ' अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यही उसका शब्दार्थ है।

कारण वह सृष्टा कहलाया, क्योंकि यदि वह सविशेष होकर प्रकट न हो और निर्विशेष बना रहे तो कुछ भी न बने। अर्थात् वह ही सब कुछ है। इसीलिये उक्त मंत्रों में प्रतिपादित विषय का निष्कर्ष श्री शंकाराचार्य जी ने इस तरह लिखा है—"यस्मात्स एव स्त्रष्टा तस्मिन्नेवलयस्तस्मात्स एव सर्वं न ततो विभक्तमस्ति इत्याह मन्त्रत्रयेण।" अर्थात् इस कारण से वह ही स्त्रष्टा है उस ही में लय होता है, इसीलिए वह ही सब कुछ है, उससे कुछ भिन्न नहीं है, यही तीन मंत्रों में कहा गया है।" ये तीन मंत्र वही हैं जो उपर्युक्त "य एकोऽवर्णो बहुधा......" के बाद में आये हैं। इस निष्कर्ष को पढ़ने पर भी शाङ्कर भाष्य की साक्षी देने वाला कैसे कह सकता है कि अग्नि आदि तत्त्व, पुरुष-स्त्री, कुमार-कुमारी आदि मनुष्यवर्गीय तथा पक्षी आदि अन्य वर्गीय प्राणी अथवा तड़ित् युक्त मेघादि निर्जीव पदार्थ उसी अद्वितीय अवर्णा से प्रकट या उत्पन्न नहीं हुए हैं? यदि वह न हो तो ये सब सब कहाँ से हों! यदि वह लीन (लय) करले तो प्रकृति कहाँ रहे? तात्पर्य यह कि वह ही सब कुछ है और उक्त भाष्य में 'वह ही सब कुछ है' केवल इसलिये नहीं कहा गया कि वह सबमें व्याप्त है बल्कि इसलिये भी कहा गया है कि वह इतना सामर्थ्यवान् भी है कि वही सब कुछ प्रकट करने वाला और लय करने वाला है। अतः शांकर भाष्य से यह सिद्ध होता है कि समस्त साकार सृष्टि—दृश्य हो या अदृश्य—उसी एक अवर्णा ब्रह्म की सविशेष शक्ति का प्रकट रूप है।

साकारता वा अवतार—परन्तु इस तात्पर्य पर भी पहुँच जाने से बहुत से लोग अवतार-वाद को नहीं मान सकते। उनका यह कहना है कि 'प्रकट होना' मान लेने से अवतार सिद्ध नहीं होता क्योंकि साकार से और अवतार से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका कहना है कि 'प्रकट होकर सर्व रूप हो' इससे अवतार सिद्ध नहीं होता। कोई भी अवतार ऐसा न हुआ जो प्रकट होकर सर्व रूप हुआ हो। सब एकदेशी ही रहे हैं। अतः इन शब्दों में तो अवतार की गन्ध भी नहीं है।'

उपर्युक्त आलोचना में यह स्वीकृति प्रतीत होती है कि जो प्रकट होता

है वह रूपवाला होता है और जो रूपवाला है वह साकार भी है। परन्तु यह कहा गया है कि साकार से अवतार का कोई सम्बन्ध नहीं है। अवतारवादी अवतार को साकार तो कहते ही हैं, इसलिये अवतार-विरोधियों के तर्क का यह अभिप्राय निकलता है कि यदि साकार को ही अवतार मानते हो तो सभी साकारों को अवतार मानना पड़ेगा। इसका उत्तर यह है। अवतार वस्तु-विशेष का नाम है अथवा स्थिति-विशेष का, जैसे ईश्वर वा जीवादि होते हैं। परन्तु साकार किसी वस्तु या स्थिति विशेष को नहीं कहते। अर्थात् एक विशिष्ट-भाव-दर्शी है और दूसरा साधारण-भाव-दर्शी इसलिये कि यह सहज ही समझ में आ जायगा कि यद्यपि प्रत्येक अवतार साकार होता है पर प्रत्येक साकार अवतार नहीं हो सकता। जब निराकार-साकारवादी यह देखता है कि निराकारवादी साकारता का कारण परमात्मा को न कहकर उससे भिन्न रूपेण प्रकृति को कहता है तब उसे इस बात की आवश्यकता पड़ जाती है कि वह सर्वप्रथम यह भी सिद्ध करके दिखावे कि समस्त संसार जो साकार है उस एक अवर्ण परमात्मा से ही उत्पन्न होता है न कि अन्य और किसी वस्तु से। उसका कहना रहता है कि यदि एक बार आपने यह मान लिया कि निराकार से ही साकार होता है तो फिर अवतार को आप मान ही लेंगे क्योंकि वह भी साकार ही तो है। 'कोई भी अवतार ऐसा न हुआ जो प्रकट होकर सर्वरूप हुआ हो, सब एकदेशी हो रहे हैं' अवतार-विरोधियों के इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना कहना यहाँ पर्याप्त होगा कि यह कहीं नहीं कहा गया है कि अवतार सर्वरूप हो। सर्वरूप ब्रह्म (परमात्मा) के लिये कहा गया है क्योंकि उसका अर्थ है "आप ही 'जातः' —प्रकट होकर सर्वरूप हो।" 'आप ही' ब्रह्म के लिये आया है न कि अवतार के लिये।

अवतार-प्रतिपादन में श्रुति-विरोध नहीं

इस सम्बन्ध में कुछ लोग एक और शंका भी उठाते हैं। उनका कहना है कि यदि श्वेताश्वतर उपनिषद् के उक्त मंत्रों को अवतार-प्रतिपादक माना जावेगा तो श्रुति-वाक्यों में परस्पर-विरोध हो जावेगा, क्योंकि उसी श्वे० उप० में निम्न मंत्र है :—

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्म निरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥*
अ० ३ मंत्र २१

चूँकि ये लोग शांकर भाष्य को ही प्रमाण मानकर कहते हैं कि ब्रह्मवादी लोग इस (ब्रह्म) के जन्म का नित्य अभाव बतलाते हैं, इसलिये सर्वप्रथम शंकर का किया हुआ ब्रह्म निरूपण किस प्रकार है, यह जानना चाहिये। तब फिर कह सकेंगे कि जो उस ब्रह्म को जाने वह ब्रह्मवादी है।

शंकर-सिद्धान्त-निचोड़, विवेक चूड़ामणि के श्लोक २३६ से २४२ तक में ब्रह्म-निरूपण किया गया है। श्लोक २३६ में उसे अक्रिय और श्लोक २४१ में अखण्ड, चिन्मात्र, निर्विकल्प आदि कहा है। वही निराकार, निर्विकार, निर्विशेष इत्यादि (श्लोक ४०० से ४०३ तक में) कहा गया है। 'एकात्मके परे तत्त्वे भेद वार्ता कथं भवेत्' (श्लोक ४०४) अर्थात् एकात्मक परमतत्त्व में भला भेद की बात ही क्या हो सकती है। परमात्मा का इस तरह ज्ञान होने का अनुभव मनुष्य को केवल उस समय हो सकता है जब वह 'स्वात्मन्यारोपिता शेषाभास वस्तु निरासतः' (श्लोक ३६८) अर्थात् जब वह अपने आत्मा में आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओं का निरास कर देता है। इस प्रकार ब्रह्म को जो देखता है वह समस्त विकल्प रूप जगत् को 'प्रजल्प मात्र' (व्यर्थ वकवाद श्लोक ३६६) या स्वप्नवत् मिथ्या या रज्जु में सर्प की सी अज्ञानता समझता है। केवल वह ही वह एक रहता है। जगत् उसका केवल एक गुण मात्र है जिसकी अस्ति गुणी से भिन्न नहीं हो सकती (श्लोक २४७)। इस तरह से जो जानता है वही ब्रह्मज्ञानी वा ब्रह्मवादी कहा जा सकता है। ब्रह्मवादी की दृष्टि में एक के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। उस एक से ही अनेक होते हैं। ऐसे ही ब्रह्मवादियों के वाक्य श्वेताश्वतर उपनिषद् में कथित हैं।

---

*'ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति' के स्थान में "ब्रह्मवादिनोऽभिवदन्ति" भी पाठ है। 'प्रवदन्ति' अर्थात् कहते हैं और 'अभिवदन्ति' अर्थात् अभिवादन करते हैं।

उक्त उपनिषद् का प्रारम्भ ही 'ऊँ ब्रह्मवादिनो वदन्ति' से होता है। तत्पश्चात् इस प्रकार से ब्रह्मतत्त्व को जानने वाले ब्रह्मवादी उस ब्रह्म और सृष्टि से सम्बन्धित पाँच प्रश्न जो बहुधा जिज्ञासुओं के मन में उठा करते हैं, प्रथम मंत्र में ही उपस्थित करते हैं और उन्हीं के उत्तर स्वरूप उक्त उपनिषद् छः अध्यायों में विभक्त करके तैयार किया गया है। प्रथम प्रश्न ही है किं कारणं ब्रह्म ? अर्थात् क्या (इस समस्त संसार का) ब्रह्म ही कारण है [या कि काल, स्वभाव, नियति, इच्छा, भूत, पुरुष आदि अलग-अलग या इकट्ठे मिलकर कारण हैं (मंत्र २)] ?* इसका उत्तर ब्रह्मवादियों ने प्रथम अध्याय ही में दिया है। वहाँ उन्होंने अन्य और कारणों का खण्डन करते हुए यही निश्चय किया है कि परमात्मा एक है, और वही एक अनेक का मूल कारण है; जितने और अन्य कारण है वे सब उसके आश्रित हैं। इस प्रकार से ब्रह्म जानने वाले के लिये प्रकृति और जीव का अस्तित्व उस ब्रह्म से भिन्न नहीं होता। क्या ब्रह्मवादी की इस बात को मानने के लिये अवतारवाद के विरोधी तैयार हैं ? यदि हैं तो उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि वही ब्रह्म सबका निमित्त और उपादान कारण है, क्योंकि संसार रूपी वृक्ष के अङ्ग प्रत्यङ्गों का मूल वही है। जीव और ब्रह्म में अभिन्नता मानने पर यह भी मानना पड़ेगा कि जीव की मुक्तावस्था नित्य होती है, अल्पकालज्ञ नहीं। तात्पर्य यह कि जब ब्रह्म, जीव वा प्रकृति एक हो गये तो अद्वैतवादी हो जाना पड़ेगा। परन्तु हमारा इससे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। हमें केवल इतना ही कहना था कि जब श्वेताश्वतर उपनिषद् तथा उस पर किये हुए शांकर भाष्य का प्रमाण दिया जाता है तो उक्त वर्णित ब्रह्म को ही मानना चाहिये। ऐसे ही ब्रह्मवादी उस ब्रह्म के जन्म का अभाव बतलाते हैं।

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि किसी भी ग्रन्थ या वक्ता के किसी वाक्य का अर्थ समझने के लिये इस बात पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक

---

*भिन्न-भिन्न तत्त्व-वेत्ताओं ने अपनी-अपनी सूझ के अनुसार काल स्वभावादि को सृष्टि का कारण बताया है अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति के वे सिद्धान्त (theories) हैं।

है कि वह वाक्य किस समय, किस प्रसङ्ग में, किस स्थिति विशेष के बारे में, किस ढंग से कहा गया है। तात्पर्य यह है कि द्रष्टा के दृष्टि-कोण से ही देखा जाय तब उसके यथार्थ भाव को जान सकते हैं अन्यथा नहीं! 'जन्म-निरोध' की बात समझने के लिये हमें यह न भूलना चाहिये कि ब्रह्मवादी ब्रह्म-स्थिति का ज्ञान करा रहा है। ब्रह्म-स्थिति क्या है? वही निर्विकल्प, निर्विशेष इत्यादि जिसके विषय में ऊपर संक्षेपतः कह आये हैं। जब तक इस निर्विकल्प स्थिति का वर्णन होगा तब तक उसी के विषय में कहा जावेगा। प्रसङ्गानुसार कभी-कभी वक्ता अपने द्वारा वर्णित स्थिति-विशेष का उसे अन्य स्थितियों से सम्बन्धित करके भी वर्णन करने लगता है। जहाँ एक ही वस्तु है और उस एक की आदि से अन्त तक भिन्न-भिन्न स्थितियाँ दिखाई देवें तथा उनका भिन्न-भिन्न वर्णन देखा जाय तो भ्रम में पड़ जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। जब भौतिक या लौकिक, पदार्थों के वर्णन के विषय में ही समझने के लिये हमें यह कठिनता होती है तो आध्यात्मिक अलौकिक विषय में तो होनी ही चाहिये। सारांश यह है कि इस जन्म-निरोध वाले मंत्र में द्रष्टा ऋषि ने केवल ब्रह्मस्थिति का वर्णन किया है और ब्रह्मवादी उस स्थिति को किस प्रकार देखते हैं यह बताया है। जिनके ज्ञान की पराकाष्ठा यहाँ तक पहुँच गई है कि वे जगत् को शून्य मानने लग गये हैं, अथवा उसे गुणी का केवल गुण समझने लगे हैं और इसलिये आदि से अन्त तक सब कालों में एक समान एक ही सत्ता ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखते हैं, उन्हीं ने इस मंत्र में उसे अजर, पुरातन (पुराणम्) सर्वात्मा, विभु, सर्वगत कहा है और जो सर्वात्मा और सर्वगत है उसी का जन्म न होना कहा है। परन्तु उन्हीं ब्रह्मवादियों ने इसी श्वेताश्वतर उपनिषद् में अन्य मंत्रों में जब उसी ब्रह्म स्थिति का वर्णन उसे अन्य स्थितियों से सम्बन्धित करके किया है अर्थात् जब उस निर्विशेष की सविशेषता बतलाई गई है तब उसी का वर्णन प्रधानतः 'भू' या 'जनी प्रादुर्भावे' धातु के शब्दों द्वारा किया गया है। उदाहरणार्थ इसी तृतीयोऽध्याय को ले लीजिये। "य एवैक उद्भवे सम्भवे" (मंत्र १) "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" (मंत्र ३), "हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं" (मंत्र ४) इत्यादि।

अब यदि दूसरी दृष्टि से देखो तो भी यही तात्पर्य निकलेगा। ब्रह्म के पूर्व क्या कोई दूसरी स्थिति है या कि उसका भी कोई दूसरा कारण है? यह प्रश्न कीजिये तो सर्वमान्य उत्तर मिलेगा 'नहीं।' अर्थात् वह किसी से प्रादुर्भूत नहीं है। वह आप स्वयं है। उसका जन्मदाता या प्रकट करने वाला कोई अन्य नहीं। इस विचार से भी उसके अजर आदि आदि लक्षणों के साथ अजन्मा के अर्थ में उसके जन्म का अभाव कहा गया समझा जा सकता है। अतः ब्रह्म के पूर्व और ब्रह्म के वर्तमान में जन्म-प्रकटता या प्रादुर्भाव का अभाव रहता है, यही भाव इस मंत्र में प्रतिपादित है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसे आज वर्तमान में हम एक रूप में ध्यानावस्थित होकर देखते हैं वह इच्छानुसार भविष्य में भी कभी किसी दूसरे रूप (वर्ण) को धारण नहीं कर सकता। यह रूप गुणवत् होकर गुणी से भले ही अभिन्न होकर रहे, पर रहता तो वह अवश्य है। यही गुण उसकी साकारता है अथवा साकारता ही उसका गुण है।

यदि सुषुप्त, स्वप्न वा जागर्ति इन तीनों अवस्थाओं का आश्रय लेकर उक्त भाव का दर्शन कराया जाय तो वह इस प्रकार होगा। जब तक सुषुप्तावस्था है उस समय तक ब्रह्म संज्ञा है। इस अवस्था में समस्त शक्तियाँ यहाँ तक "मैं हूँ" का भाव भी लय रहता है। जहाँ "मैं हूँ" का भाव ही सोया हुआ हो वहाँ प्रकट या जन्म होना कहाँ से आवेगा! इस अवस्था का ज्ञान लोग बहुधा 'गाढ़ निद्रा' कहकर कराते हैं यद्यपि निद्रा आदि से उसका पूर्ण भाव प्रकाशित नहीं होता।

ज्योंही अहंभाव "मैं हूँ" उठा कि स्वप्नावस्था प्रारम्भ हो गई। इसके प्रारम्भ होते ही लयावस्था समाप्त हो जाती है और प्रकट होने या जन्म लेने का काम आरंभ हो जाता है। अहं के साथ इच्छा उठती है। अहं और इच्छा के रहते हुए भी इस अवस्था में कोई कार्य नहीं होता। इसलिये इस काल में स्वप्न के समान अपने आपका आभास मात्र होता है। जब यह कहा जाय कि कुछ नहीं से कुछ हुआ या अन्धकार से प्रकाश हुआ इत्यादि, तब इसी सुषुप्तावस्था से स्वप्नावस्था का आना समझना चाहिये। परन्तु इच्छा के प्रकट होने

पर जब वह प्रबलता को प्राप्त हो जाती है तब पञ्चभूत उनमें अधिष्ठित-तन्मात्राओं एवं पुरुष विशेष के समेत जाग उठते हैं और अपने-अपने कार्यों में इतने संलग्न हो जाते हैं कि उनके इस कृत्य को बहुधा शिव का अपने भूतों के साथ ताण्डव (नृत्य) करना कहते हैं। यही जाग्रत अवस्था हुई। शिव, रुद्र, महर्षि शब्द इसी क्रियता के भाव को बताने के लिये इसी श्वेताश्वतर उपनिषद् में आये हैं।

सारांश यह है कि उक्त दृष्टि से देखने पर भी मंत्र में 'जन्म निरोध' के आ जाने से निराकार-साकार वाले का पक्ष कदापि निर्बल नहीं होता, बल्कि उसका समर्थन ही होता है, क्योंकि वह स्थिति विशेष के अनुसार निराकारता और साकारता दोनों को मानता है और यह भी इसलिये मानता है कि एक ही से सब कुछ पैदा हुआ न कि इसलिये कि एक ही ने सब कुछ बनाया।

ब्रह्म, ईश्वर, अवतार और जीव संज्ञाओं का निरीक्षण

कुछ लोग श्वेताश्वतर उपनिषद् का दसवाँ मंत्र भी अवतार-वाद का खण्डन करने के अभिप्राय से देते हैं। वह मंत्र यह है —

नैव स्त्री न पुमानैष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन सयुज्यते ॥

अर्थात् जीवात्मा न स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक है। जैसे-जैसे शरीर में वह जाता है उसी-उसी शरीर में वह युक्त होता है।

इसी पर अवतार-विरोधी कहते हैं कि जब ऊपर की श्रुति में जीवात्मा ही स्त्री, पुरुष वा नपुंसक नहीं है तब परमात्मा स्त्री पुरुष कैसे हो सकता है, जो जन्म लेता ही नहीं।

वे लोग यह तक भी देते हैं—"जो पैदा होता है वह मरता है। यदि परमात्मा पैदा होता है, तो वह मरणधर्मा होगा। इसका उत्तर आप के पास क्या है ? यदि कहें कि जीवात्मा तो पैदा होता है, परन्तु मरता नहीं, केवल मरने का उपचार मात्र है उसी प्रकार परमात्मा का भी समझ लें तो उत्तर में निवेदन है कि यदि जीव के समान ही परमात्मा का शरीर सम्बन्ध होता है तो शरीर

के सम्बन्ध से वह जीवात्मा के समान ही दुःख-सुख का भोक्ता हो जायगा। उस समय उसकी ईश्वर संज्ञा नहीं हो सकती क्योंकि आप जितने अवतार मानते है वे सब दुःखी-सुखी सब कुछ देखे जाते हैं।"

'जीवात्मा तो पैदा होता है मरता नहीं—मरने का केवल उपचार मात्र है' इससे प्रतीत होता है कि ये लोग जीवात्मा का केवल पैदा होना मानते हैं, मरना नहीं। परन्तु हम तथा हमारा विश्वास है, सभी अवतार-वादी इस बात को मानते हैं कि जीवात्मा न पैदा होता है और न मरता है। पैदा होना और मरना शरीर के लक्षण हैं (शरीर कहते समय लिङ्ग शरीर पर पाठक अवश्य ध्यान रखें)। इस पर हमने यथासम्भव पहिले यथेष्ट प्रकाश डाल दिया है। यहां पर केवल प्रमाण-स्वरूप हम उसी भगवद्गीता में से निम्न श्लोक देते हैं जिसमें 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत 'इत्यादि वाक्यों के द्वारा अवतार का प्रतिपादन किया गया है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
अ० २ श्लो० २०

अर्थ—यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है। (गीता प्रेस, गोरखपुर)

इसी तरह उसे श्री मद्भगवती गीता* में जहाँ हिमालय और पार्वती के सम्वाद रूप में आत्मा वा देह का क्या सम्बन्ध है, बताया गया है 'जन्म मृत्यु विवर्जितः' (अ० २ श्लो० ४) और 'न जायते न म्रियते निर्लेपो न च दुःख-

---

*यह एक छोटी सी पुस्तक कलकत्ता के बङ्गवासी प्रेस से सम्वत् १९५१ में प्रकाशित हुई है जो हमें प्राप्त हो सकी है। यह किस मूल ग्रन्थ का भाग है या कि वही मूल ग्रन्थ है, हम नहीं कह सकते।

भाक्' (अ० २ श्लो० १३) कहा है। अवतारवादी तो जीवात्मा को न केवल जन्म-मरण रहित कहता वरन् उसे दुःख और सुख दोनों से परे भी जानता है, क्योंकि वह निर्लेप है। यदि कहो कि दुःख तो साक्षात् मालूम होता है तो यह कैसे होता है? अगर जीवात्मा को नहीं होता तो क्या शरीर को होता है? शरीर तो जड़ है! तो उसका उत्तर यह है :—

नैवं दुःखं हि देहस्य नात्मनोऽपि परात्मनः।
तथापि जीवो निर्लेपो मोहितो मम मायया॥
अहं सुखी च दुःखी च स्वयमेवाभिमन्येते॥

(श्री मद्भगवती गीता अ० २ श्लो० १६)

अर्थ—(जब) शरीर को दुःख नहीं है और परमात्मा स्वरूपी जीवात्मा को भी दुःख नहीं है, (तब फिर किसे दुःख होता है)? (उत्तर) यद्यपि जीव निर्लेप है तथापि वह मेरी माया से अथवा अविद्या के कारण ही मोह-वश "मैं सुखी हूँ" "मैं दुखी हूँ" ऐसा अपने आप बोध करता रहता है।

हम इस बात को भी साधारण रीति से पहले समझा चुके हैं। तात्पर्य यह है कि अवतारवादी जीवात्मा को परमात्मा (ब्रह्म) से भिन्न 'मानता' ही नहीं है। इसीलिये न तो वह उसे शरीर से इस तरह सम्बन्धित रखता और न उसे उस तरह से सुख-दुःख का भोक्ता मानता है जिस तरह निरावतार-वादियों के कथन से प्रतीत होता है। यही कारण है कि वह नित्य मुक्त भी हो सकता है। सरांश यह है कि ब्रह्म-वाद के अनुसार जीवात्मा को अभिन्न मानने पर भी अवतार-वाद का खण्डन नहीं हो सकता। वह किस प्रकार से होता है सो बताते हैं। इसके लिये दो बातों को अवश्य ध्यान में रखना होगा (१) 'जन्म', 'पैदा' या 'उत्पन्न' होना आदि शब्दों के आने से हमारे दृष्टि-कोण को उनके व्यावहारिक या औपचारिक-भाव से नहीं बाँधना चाहिये जिसमें आवागमन, जन्म-मरण आदि का अर्थ माना जाता है। उनसे उनके धात्वर्थ का अर्थ लेना चाहिये, जो प्रकट होना, प्रादुर्भूत होना इत्यादि के समकक्ष रहता है, जैसा कि हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं। और (२) आद्यो-

पान्त एक सत्ता (ब्रह्म) का भाव ही समक्ष रखा जाय। उसमें भिन्नता प्रतीत करानेवाले प्रकृति रूपी आवरण पर विचार किया जाय। जैसे-जैसे यह आवरण स्थूल होता जाता है वैसे-वैसे वह एक ही सत्ता भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होने लगती है। दृष्टान्त स्वरूप जहाँ ब्रह्म ही ब्रह्म स्पष्ट दिखता है वहाँ प्रकृति का कोई आवरण उसे ढांके नहीं रहता। जहाँ प्रकृति (माया) की झिल्ली इतनी महीन हो जो यथार्थ में नहीं के बराबर हो अथवा जो केवल छाया मात्र हो वहाँ वही ब्रह्म ईश्वर संज्ञा से बोधित किया जाने लगता है। इसके आगे यदि प्रकृति का आवरण छाया मात्र न होकर अत्यन्त महीन हो तो वहाँ वही एक सत्ता अवतार या ईश्वरावतार कहलाई जाने लगती है। इस अवस्था में प्रकृति रूपी आवरण इतना स्थूल नहीं होता कि जिससे वह उस सत्ता के लक्षणों को ढाँक सके और यदि ढाँक सकती है तो अत्यन्त कम मात्रा में। इसके उपरान्त जब प्रकृति रूपी आवरण इतना स्थूल हो जाता है कि जिसके कारण वही सत्ता प्रायः ढक जाती है तब उस सत्ता को जीव-संज्ञा देने लगते हैं। यह आवरण क्रमशः स्थूल होता जाता है। इसलिये उसी क्रमानुसार जीव-संज्ञा भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त की जाती है जिन्हें योनि शब्द द्वारा जानते हैं जैसे मनुष्य योनि, पशु, कीट योनि, वृक्षादि योनि। इसके बाद जब वह आवरण इतना अधिक स्थूल बन जाता है कि वह सत्ता बिलकुल ढँक जाती है तो चेतन जीव नाम मिटकर ही जड़ संज्ञा हो जाती है जैसे पत्थर आदि। वृक्षादि को कोई जड़ संज्ञा ही में रखते हैं जिसका कारण यह है कि वे जड़प्राय ही रहते हैं। परन्तु हमारे महर्षियों ने उनमें सजीवता देखी थी जिसे सर जगदीशचन्द्र वसु ने आधुनिक वैज्ञानिक कला के द्वारा प्रमाणित कर पाश्चात्य पदार्थ-वादियों के सम्मुख सिद्ध करके दिखा दिया है।

ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा कि जिस प्रकार जीव संज्ञा के भेद रहते हैं उसी प्रकार अवतार संज्ञा के भी भेद होते हैं जिनके विषय में आगामी अध्याय में प्रकाश डाला जायगा। यहाँ इतना ही कहना है कि किसी भी क्षेत्र का ज्ञानोपार्जन तथा उससे अधिकाधिक लाभ उठाने के लिये यह आवश्यक होता है कि उसके उपयुक्त भाग किये जायँ। यही कारण है कि हम साहित्य,

विज्ञान, संगीत आदि भौतिक शास्त्र तथा वेद-वेदान्तादि धर्मशास्त्रों को विभक्त पाते हैं। इसी तरह जब हम किसी एक व्यक्ति के जीवन को जानना चाहते हैं तो हमें उसके कार्य-क्षेत्रों का उपयुक्त विभाग करके अध्ययन करना होता है। यही ब्रह्म, उस एक सत्ता को जानने का सरल उपाय है। केवल जानने से काम नहीं चलता, उसके अनुरूप ही होने का प्रयत्न करना पड़ता है। यदि विभाग करने की आवश्यकता न हो तो परमात्मा (ब्रह्म), प्रकृति और जीव इन तीन भेदों की भी क्या आवश्यकता है क्योंकि यथार्थतः वही एक ब्रह्म ही तो रहता है? कोई बड़े-बड़े विभाग करके ही काम चलाते हैं तो कोई दूसरे उन विभागों के उपयुक्त उपविभाग भी कर लिया करते हैं। यों तो परमात्मा के सभी विभाग हैं तो भी वेद वेदान्तों में उसको दो मूल रूपों में विशेषकर देखा गया है, एक प्रशान्त निर्विशेष रूप और दूसरा ज्वलन्त स्फुलिंग सविशेष रूप जिन्हें परब्रह्म-ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ब्रह्म-पुरुष (हिरण्यगर्भ) आदि, परमेश्वर-ईश्वर, ईश्वर-ब्रह्मा इत्यादि संज्ञायें दी गई हैं। इसी तरह प्रकृति के दो उपभेद है, माया और अविद्या। इसी प्रकार ईश्वरीय गुणों की निकटता स्थापित करने के अभिप्राय से ईश्वर और ईश्वरावतार अथवा अवतार और जीव भेद किये गये हैं, ऐसा ही जानना चाहिये। इसी ईश्वर-सामीप्य की दृष्टि से सोलह कला, बारह कला आदि के अवतार कहे जाते हैं। यथार्थ में ब्रह्म, ईश्वर, अवतार और जीव एक ही हैं परन्तु प्रकृत्यावरण अर्थात् स्थिति-भेद के कारण उन्हें भिन्न-भिन्न नाम से सम्बोधित करते हैं। यद्यपि अवतार संज्ञा ईश्वर संज्ञा नहीं होती तथापि जीव मात्र की दृष्टि से प्रत्यक्ष कर्म-क्षेत्र में ईश्वर-समीपस्थ महत्व-पूर्ण-आदर्श पुरुष को कभी-कभी लोग ईश्वर ही कह दिया करते हैं। यदि वह ईश्वर ही हो तो सोलह कला युक्त पूर्णावतार, बारह कला युक्त अवतार कहना निरर्थक हो जाय।

वेदान्त दर्शन में साकारता

प्रकृत्यावरण में भिन्नता हो जाने पर भी वह ब्रह्म एक का एक ही रहता है। उस प्रकृत्यावरण के कारण वह भिन्न-भिन्न उपाधियों युक्त कहा जाने

लगता है परन्तु उन उपाधियों से उसकी एकता में कोई भेद नहीं आता। इसीलिये वेदान्त दर्शन में यह सूत्र आया है। "न स्थानतोपि परस्योभयलिंग सर्वत्रहि।" (न स्थानतः अपि परस्य उभय लिङ्गम् सर्वत्रहि) अर्थात् जो ब्रह्म (परः) सर्वत्र ही है उसके स्थिति अथवा उपाधि भेद से भी दो लिंग हो ही नहीं सकते।

स्वभाव से ब्रह्म केवल एकरूपीय हो सकता है न कि दो रूपों का, ऐसा भगवान शंकर का कहना है। "स्फटिक उज्ज्वल होता है उसको यदि लाल रंग का संयोग हो जाय तो उसका स्वाभाविक रूप तो स्वच्छ ही रहेगा। रँगने से उसमें जो ललाई दीखती है वह तो भ्रम मात्र है, वास्तविक नहीं। इसका कारण यह है कि उपाधि की उपस्थिति अविद्या से हुआ करती है।" यह उन्होंने किस अभिप्राय से कहा है ? यह अभिप्राय भाष्य के प्रारम्भ ही में दिया है। उनका कहना है कि जीव स्वभाव से शुद्ध और निर्विशेष है क्योंकि उसमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इसी अभिप्राय से उक्त सूत्र का उक्त प्रकार से विवेचन किया गया है। उनके प्रारम्भिक शब्द ये हैं "सुषुप्त्यादि में उपाधि के नष्ट हो जाने पर जीव जिस ब्रह्म से मिल जाता है।" किसी भी अभिप्राय से कहा गया हो, आप कहेंगे, ब्रह्म तो निर्विशेष ही ठहरा न ? हां, स्वभाव से वह निर्विशेष ही है—स्वच्छ भी है। पर संयोग से क्या कहेंगे ? संयोग से, अविद्या के संयोग से, प्रकृति के साथ से, उसका शुद्ध स्वाभाविक रूप परिवर्तित दिखाई देने लगता है न ? यह दिखाई देने वाला अस्वच्छ परिवर्तित रूप क्या है ? एक वही सगुणता वा सकर्मता जिसे हम वा आप दोनों मानते हैं और दूसरा वही साकारता जिसे केवल हम ही मानते हैं, आप नहीं। यदि आप केवल एक स्वाभाविक शुद्ध निर्विशेष रूप को मानना चाहते हैं और अविद्या-जन्य अस्वच्छ स्वरूप को भ्रम समझना चाहते हों तो एक ओर आप सगुणता और सकर्मता को भूल जाइये और दूसरी ओर हम साकारता को भूल जायँ, सब शंकराचार्य के साथी हो जायँ। यदि आप इसे करने को तैयार नहीं हैं और सगुणता तथा सकर्मता रूपी अस्वच्छता में ही रहकर हमारी साकारता रूपी अस्वच्छता को मिटा देना चाहते हैं तो

शंकर की साक्षी देकर आपको ऐसा कराने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। हम तो इससे इन्कार ही नहीं करते कि ब्रह्म और जीव एक हैं और वे स्वभाव से शुद्ध निर्विशेष भी हैं, परन्तु इसके आगे हमारा कहना यह भी है कि वह निर्विशेषता सगुणता-सकर्मता-साकारता आदि उपाधियुक्त सविशेषताओं से ढँकी रहती है। यद्यपि ये उपाधि-युक्त सविशेषतायें अविद्या-जन्य हैं तथापि अविद्या से मुक्त होने तक उनका अस्तित्व तो बना ही रहता है। जब तक आप स्थूल-दर्शी हैं और जिसके फल-स्वरूप जब तक आपने लोकाचारों को असत् नहीं जान लिया है तब तक आप लोक वा लोकाचारों के प्रति अपनी आँख बन्द नहीं कर सकते अर्थात् उनकी अवहेलना नहीं कर सकते। यही कारण है कि श्री शंकराचार्य जी ने उन्हें लोक-व्यावहारिक वा औपचारिक कहकर उनसे विरोध करना उचित नहीं समझा और यह कहा है कि "इस प्रकार आकार वाली श्रुतियों का व्यर्थत्व नहीं है।" यही कारण है कि उन्होंने भगवद्गीता भाष्य में "साकार प्रतिपादक श्रुतीनां न विरोधः" लिखा है। इसलिये लौकिक दृष्टि से साकारता आदि सविशेषताओं की सार्थकता है और पारमार्थिक दृष्टि से निर्विशेषताओं की।

ऐसा कहने से सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होता क्योंकि शंकर के कथनानुसार "निमित्त जिस वस्तु का उपाधि होता है वह निमित्त उस वस्तु का धर्म नहीं होता क्योंकि उपाधि तो अविद्याजन्य है।" इसका अर्थ यह है कि जो साकार वस्तुयें हम देखते हैं और उनके जो गुण वा कर्म रूपी व्यापार (या धर्म) दिखाई देते हैं वे उस वस्तु के निमित्त नहीं होते। इसे और सरल करने के लिये एक उदाहरण देते हैं। मान लीजिये एक पत्थर की गेंद है। उससे कोई गन्ध नहीं आती और न उसमें कोई कीला या कांटा चुभ सकता है। किसी कारण वश वह ढुलक चली और मल-पूर्ण स्थान में से ढुलकती हुई निकली। तब उससे दुर्गन्ध आने लगी। यह दुर्गन्ध आने का गुण उसी मल का है जो उस पर लिपट गया है न कि मूल पत्थर की गेंद का। इसके आगे वह और बढ़ी और गीली मिट्टी को पार करते समय उस पर गीली मिट्टी आस-पास चिपट गई। तब फिर उसमें कांटे वा कीले इत्यादि चुभ गये। कांटे

चुभना मिट्टी नाम की वस्तु का व्यापार है और यह वस्तु गेंद की उपाधि मात्र है। यथार्थ तो गेंद है जिसमें कांटा चुभने का व्यापार ही नहीं हो सकता। इसी प्रकार साकारता में जो उसके व्यापार रूपी धर्म दिखाई देते हैं वे उसके ब्रह्मरूपी निमित्त के नहीं होते। अब यदि यह निमित्त-विन्दु स्थूल साकारताओं से अत्यन्त दूर देखा जाय तो विदित होगा कि उस पर आवर्त के आवर्त घिरे चले आते हैं, परन्तु उन आवर्तों के गुण वा धर्मों से उस निमित्त-विन्दु का कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो ठीक वैसा ही बना रहता है जैसे उक्त दृष्टान्त में पत्थर की गेंद। इन आवर्तों के नाम, रूप वा गुण तीनों बदलते जाते हैं। इनमें से गुण एक ऐसी वस्तु है जो पूर्व गुणों से भी सम्बन्धित रहती है। उपर्युक्त भाव को हम इसके पूर्व भी बहुरूपिया आदि के दृष्टान्तों द्वारा समझा आये हैं। शांकर भाष्य का तथा उक्त वेदान्त सूत्र का यही तात्पर्य है कि स्वभाव से ब्रह्म-चिन्मात्र निर्विशेष है परन्तु संयोग से वह सगुण, सकर्म, साकार वा सनाम भी होता है। जो जगत् को असत् नहीं मानते अर्थात् उसको वास्तविक (यथार्थ) समझते हैं उन्हें शंकर की साक्षी देने अथवा ब्रह्म-ब्रह्म कहने से क्या लाभ क्योंकि उन्हें तो साकारादि को सदैव वास्तविक ही मानना पड़ेगा, और जो जगत् को असत् मानते हैं उन्हें भी उस समय तक साकारतादि को मानना पड़ेगा जब तक कि वे यह न जान लें कि जगत् ही भ्रम या झूठ है। ब्रह्म को शंकर ने भी साकार माना है। चूँकि वे एकवादी हैं इसलिये उनके सम्मुख सृष्टि के बनाये जाने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, वहाँ तो उस एक से उत्पन्न या प्रकट होने वाली बात ही कही जायगी। 'उत्पन्न' सुनने से हमारे सामने भ्रम-वश केवल एक सीमित लौकिक भाव आ जाता है और 'संयोग' शब्द की उपयुक्तता को दृष्टि में नहीं रखते।

यह तो उक्त सूत्र पर शांकर भाष्य की बात हुई जिसमें उन्होंने उभय-लिंग का अर्थ निर्विशेष और सविशेष मान कर किया है। परन्तु हमारी दृष्टि में उक्त वेदान्त सूत्र केवल ब्रह्म और जगत् की एकता स्थापित करने के लिये ही लिखा गया है। इस ब्रह्म की एकता की स्थापना तो शंकर के भाष्य ही में दी है, परन्तु उन्होंने यह स्थापना जगत् मात्र को कल्पना अथवा असत् मानकर

की है। इस कल्पना रूपी जगत् का निरास (त्याग) कर देने से केवल एक चिन्मात्र निर्विशेष रह जाता है। परन्तु हमें इस सूत्र में उस ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन दूसरी दृष्टि से दिखाई देता है। इसमें जगत् को असत् मानकर उसके निरास करने की कोई आवश्यकता नहीं, और न इसमें इस बात की आवश्यकता है कि ब्रह्म को जीव वा प्रकृति से भिन्न मानकर उसके केवल व्यापकत्व के कारण उसकी एकता मानी जाय। इसमें उस ब्रह्म के सामर्थ्य के आधार पर ही उसका और सृष्टि का एकत्व स्थापन है। इस सामर्थ्य के प्रकट होने के लिये यह आवश्यक नहीं कि उसका प्रयोग दूसरे पर किया जाय और न यह ही आवश्यक है कि कोई दूसरा उस पर प्रयोग करे। सूत्र में लिङ्ग शब्द से इसी सामर्थ्य का बोध होता है और वह उत्पादक शक्ति का द्योतक है। साधारणतः लिङ्ग शब्द का अर्थ भी यही लिया जाता है और इसीलिये भाषा में तीन लिङ्ग माने गये हैं। नपुंसक लिङ्ग में असमर्थता का लक्षण रहता है, पुल्लिङ्ग में उत्पन्न करने का सामर्थ्य और स्त्रीलिंग में धारण करने की शक्ति। ब्रह्म सामर्थ्यवान् है इससे वह नपुंसक लिंग तो हो ही नहीं सकता। इसीलिये सूत्र में उभयलिंगों की चर्चा है। सूत्र में कहा है कि वह उभयलिंगी हो ही नहीं सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि वह न पुल्लिग कहा जा सकता और न स्त्रीलिंग, क्योंकि पुल्लिग कहने से क्षेत्रज्ञ का भाव आता है अर्थात् वह शक्ति जो किसी दूसरे में धारण करे, और स्त्रीलिंग वह शक्ति अर्थात् वह क्षेत्र जिसमें कोई दूसरा धारण करे। तात्पर्य यह कि चाहे पुल्लिंग कहो या स्त्रीलिंग, दोनों दशाओं में दो शक्तियों या सत्ताओं का साथ ही साथ रहना मानना पड़ता है—दोनों दशाओं में क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का रहना आवश्यक हो जाता है। जब वह न पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग तो कोई लोग उसे निष्प्रयोजन अथवा उदासीन बताने के अभिप्राय से भाषा के ज्ञान-बल के आधार पर नपुंसक लिंगी कहने लगते हैं। परन्तु यह भ्रम है। वह यदि नपुंसक लिंगी कहा जाय तो सारी सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसके कार्य आदि कहाँ से आवें? नपुंसक कहने से असमर्थता का दोष आ जाता है जो ब्रह्म में कोई भी आरोपित नहीं कर सकता। यदि करे तो सृष्टि ही न हो। सामर्थ्य होते हुए यदि कोई कारणवश

किसी काल तक उसका प्रयोग न करे तो वह नपुंसक नहीं हो सकता। इस सिद्धान्त की दृष्टि से निर्विशेष ब्रह्म को नपुंसक संज्ञा नहीं दी जा सकती। इससे तात्पर्य यह निकला कि जो न पुल्लिंग है, न स्त्रीलिंग है और न नपुंसक लिंग ही है तो फिर क्या है? तब फिर वह एकलिंगी ही कहा जाने योग्य है क्योंकि जो कुछ सृष्टि है उसके उत्पन्न करने के लिये न वह किसी दूसरे के द्वारा उत्पन्न करता है और न वह किसी दूसरे से अपने द्वारा उत्पन्न कराता है। वह स्वयं क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र दोनों है अर्थात् वही पुरुष रूप है और वही स्त्री रूप है। यही भाव श्वेताश्वतर उपनिषद् के "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि—त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः" (अ० ४ मं० ३) में देखिये। यही भाव हमारी उस नित्यप्रति की प्रार्थना में रहता है जब हम कहते हैं 'हे भगवन्! तुम ही हमारी माता हो तुम्हीं हमारे पिता हो—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'। जब वह एकलिंगी है अर्थात् उसके बिना कुछ भी नहीं हो सकता तो सृष्टि की किसी भी वस्तु को देखिये या सृष्टिक्रम के किसी काल वा स्थान-विशेष का विचार कीजिये। सब दृष्टि से सबका मूल कारण वही एकलिंगी ब्रह्म ही दिखाई देगा। सूत्र में 'स्थानतः' शब्द से यही अभिप्राय है। तात्पर्य यह है कि जगत् को चाहे व्यक्ति रूप से देखिये चाहे समष्टि रूप से, चाहे सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व को लेकर निरीक्षण कीजिये चाहे स्थूलातिस्थूल साकारता को लेकर अथवा किसी भी काल-विशेष, स्थान या स्थिति का ध्यान कीजिये; किसी भी दृष्टि से आप ब्रह्म का न पुल्लिंग कह सकते और न स्त्रीत्व के लक्षण युक्त स्त्रीलिंग। वह सदैव एकलिंगी रहता है। इस प्रकार देखने से ब्रह्म से सृष्टि पर्यन्त अथवा आदि से अन्त तक एक अभिन्न अटूट ताँता रहता है। और इसलिये निर्विशेष और सविशेष प्रतिपादक दोनों प्रकार की श्रुतियों का व्यर्थत्व नहीं है। किसी श्रुति ने किसी स्थान पर उसके आदि स्वरूप चिन्मात्र शून्य का वर्णन कर उसे निमित्त मात्र निर्विशेष कहा है, और किसी ने किसी दूसरे स्थान पर उसकी स्फुलिंग-शक्ति का वर्णन किया है, तथा किसी और स्थान पर उसी के वृहत् (विवर्त) रूप का ज्ञान कराया गया है। परन्तु स्थान विशेष का विषय होने के कारण यदि कोई किसी एक ही

वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप में देखकर उसका वर्णन तदनुरूप करे तो उस वस्तु की एकता में कोई भेद थोड़े ही आ सकता है। इसी प्रकार सभी श्रुतियाँ मूल एक लिङ्ग-शक्ति का प्रतिपादन करती हैं और सभी में यथार्थता का वर्णन रहता है, न कि किसी में यथार्थ का और किसी दूसरे में केवल अनर्गल व्यर्थता का। यदि लौकिक वर्णन को उपचार मात्र या व्यर्थ कहा जाता है तो उसका अर्थ केवल यह समझना चाहिये कि लौकिक नाम वा रूपादि की उलझन में भूल कर उसके आदि स्वरूप अर्थात् मूलत्व को न भुलाया जाय—एकत्वभाव न मिटाया जाय। उसीमें परम अर्थ है क्योंकि उसके बिना शान्ति नहीं आती। इस दृष्टि से उपर्युक्त सूत्र को देखने से एक तो ब्रह्म के एकत्व का सिद्धान्त अभङ्ग रहता ही है और दूसरे जगत् को असत् या काल्पनिक मानने का जो दोष प्रतीत होता है वह भी निकल जाता है।* जो द्वैतवादी केवल व्यापकत्व के आधार पर एकत्व की स्थापना करते हैं उनके इस व्यापकत्व के सिद्धान्त पर कोई आँच नहीं आने पाती, केवल उनके प्रतिपादित सामर्थ्यभाव को ठेस पहुँचती है। इस ठेस का कारण भी केवल वाक्-जाल ही है। यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो 'प्रकृति को पकड़ या ग्रहण कर उसे कार्यान्वित कर देना' और 'प्रकृति को प्रकट कर उसे कार्यान्वित कर देना' इन दोनों वाक्यों का अर्थ उस दशा में अभिन्न दिखेगा जब कि मूल सत्ता एक ही मानी जाय। यदि उपर्युक्त दृष्टि से व्यापकत्व और सामर्थ्य का मेल कर लिया जाय तो श्रुतियों में कोई असमता न दिखेगी।

---

*जिस अनुपम ज्ञान-दृष्टि के योग से श्री शंकराचार्य ने जगत् को असत् सिद्ध करके ब्रह्म का निरूपण किया है उसको निराधार बताना असम्भव है। वह जीव को उच्चतम कोटि पर पहुँचाने अथवा मुक्ति प्राप्त कराने का एक ही साधन है। परन्तु जो प्रकृति को ब्रह्म की सहचरी मानते हैं अथवा जो उसे ब्रह्म से भिन्न देखते हैं वे शंकर के 'जगत असत् है' इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना करते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष को असत्य नहीं मान सकते। निष्पक्ष भाव से देखने पर मत-भेद शून्य हो जाता है।

ऐसा देखने पर 'इन्द्रोमायाभिः पुरु रूप ईयते' (ऋ० मं० ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८), 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० मं० अ० २२ सू० १६४ मं० ४६) 'सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च' (कठोपनिषद् वल्ली ५ मं० १०) इत्यादि में ब्रह्म की न केवल व्यापकता ही दिखाई देगी वरन् स्व प्रकट होकर स्वरूप का भी दर्शन होगा। प्रत्येक रूप के सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुओं में व्यापकता तथा उनको प्रकट करने वाला स्वतः एकमात्र कारण, जिससे ही सब कुछ उत्पन्न हुआ, दोनों एक साथ ही दिखाई देंगे।

'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' की आलोचना

तब फिर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि सर्व-रूप ब्रह्म के ही कार्य हैं अथवा ब्रह्म ही सर्व-रूपों का कारण है तो श्रुति में "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" क्यों कहा गया है? इस शंका का समाधान करने के लिये सबसे पहिले हमें यह जानना चाहिये कि यह किस श्रुति में किस प्रसङ्ग पर कहा गया है, और फिर यह देखा जाय कि उस प्रसङ्ग में उसका क्या अर्थ होता है।

यह श्वेताश्वतर उपनिषद् के छठवें अध्याय का, जो उसका अन्तिम अध्याय है, आठवें मंत्र का भाग है। इस अध्याय में श्वेताश्वतर ऋषि ने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म का निरूपण किया है। इस प्रकार के ब्रह्म निरूपण का दिग्दर्शन तभी हो सकता है जब उसमें समस्त विकारों का निराकरण हो जाय और इस प्रकार के निराकरण हो जाने के कारण सम्पूर्ण तेजोमय शान्ति आ गई हो। वही सर्वोच्च निरूपण पुस्तक के अंत में अध्याय के समाप्ति समय १९ वें मंत्र में इस तरह प्रकट किया गया है।

निष्कलं निष्क्रिय ँ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य पर ँ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥

जिसमें समस्त विकारों का निराकरण हो चुकता है उसे निष्कल, निष्क्रिय, निरवद्य, निरञ्जन आदि कहकर पुकारते हैं, और तभी वह शान्ति-स्वरूप होकर दुःख-सागर को पार कराने का परमोत्तम सेतु रूप होता है।

परन्तु यह शान्ति निर्जीव, अचेतन शान्ति नहीं होती। वह विकारहीन तो रहती है पर उसका चेतन-स्वरूप तेज नहीं मिटता, जो ऋषि ने 'दग्धेन्धन-मिवानलम्' उदाहरण देकर समझाया है। अर्थात् जिस प्रकार ईंधन के जल चुकने पर धुआँ रूपी विकार मिट जाता है और केवल धधकती हुई अग्नि रह जाती है उसी प्रकार ब्रह्म को जानो।

इसी छठवें अध्याय में, जहाँ समस्त विकारों का सम्पूर्ण निराकरण करके ब्रह्म संज्ञा की स्थापना की गई है, उक्त 'न तस्य कार्यं...!' आठवाँ मंत्र आया है। उसकी सङ्गति बताने के अभिप्राय से हम उसे ७ वें और ९ वें मंत्र के साथ ही देते हैं :—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥७॥
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥८॥
न तस्य कश्चित्पतिरस्तिलोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥९॥

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" का सीधा अर्थ यह है कि "न उसका कोई कार्य और न कारण होता है।" किसका ? उसी ब्रह्म का जिसे समस्त विकारों का निराकरण हो चुकने के कारण निष्कल, निष्क्रिय आदि कहते हैं। ऐसी सत्ता जिसका निरूपण कार्य रूपी विकारों के त्यक्त हो जाने पर ही किया जा सके और इसलिये जिसे निष्क्रिय संज्ञा भी दे दी जाय, उसी को भला सक्रिय कैसे कहा जा सकता है, अर्थात् यह कैसे कहा जावेगा कि उसका कोई कार्य होता है ! इसीलिये मंत्र में यह कहा गया है कि उसका कोई कार्य नहीं (न तस्य कार्यं)। फिर उसी मंत्र में जब यह कहा है कि न तो कोई उसकी बराबरी का और न उससे कोई बड़ा है (न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते), तो फिर कहो उसका करण (कारण या करने वाला) और दूसरा कौन हो सकता है ? यदि किसी को उसका करण कहा जाय तो उसे उसकी बराबरी का या उससे बड़ा मानना पड़ेगा परंतु ऐसा है नहीं। इसीलिये 'न तस्य करणं

विद्यते' कहा गया है। यदि उसका कोई करण होता तो ७वें मंत्र में यह कदापि न कहा जाता कि वह ईश्वरों का ईश्वर अर्थात् परम महेश्वर, देवताओं का देवता, पतियों का पति इत्यादि है, तथा ९वे मंत्र में यह कभी न आता कि वही कारण (सकारणं) है, वही कारणों के अधिष्ठान का अधिष्ठान (करणाधिपाधिपः) है, उसका कोई उत्पादक या जन्मदाता नहीं (न चास्य कश्चिज्जनिता) और न उसका कोई अधिपति या स्वामी (न चाधिपः) है। इससे यह निश्चय हो गया कि न तो उसका कोई कार्य है और न कोई करण। यदि करण का अर्थ कारण या करने वाला ही लिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि हर एक को यह बात मान्य होगी कि ब्रह्म ही सर्वोपरि है, इसलिये वह स्वयं है, उसका कोई कारण नहीं। परन्तु जब यह कहा जाता है कि उसका कोई कार्य भी नहीं, तब यह प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्म ही एक मात्र है और उसका कोई कार्य भी नहीं है तो फिर समस्त सृष्टि रूपी कार्य किसका है। इस का उत्तर ऋषि ने उसी आठवें मंत्र के उत्तरार्द्ध में स्वयं दे दिया है। उनका कहना है कि यह कार्य उसी ब्रह्म की परा शक्ति का है। यह परा शक्ति कैसी है ? वह अनेक प्रकार की सुनी जाती है और उस में स्वाभाविकी ज्ञान, बल और क्रिया रहती है। (पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च) मंत्र के इस उत्तरार्द्ध के दो अर्थ हो सकते हैं (१) उसकी पराशक्ति जिसमें स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया है और जो अनेक प्रकार की सुनी जाती है, और (२) उसकी पराशक्ति अनेक प्रकार से (अथवा उसकी अनेक प्रकार की पराशक्ति) तथा उसका स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया दोनों सुनी जाती है।* प्रथम अर्थ के लेने से यह यहा जायगा कि यह सृष्टि रूपी कार्य ब्रह्मका

* किसी किसी भाष्यकार ने 'ज्ञान बल क्रिया' का अर्थ ज्ञान-क्रिया और बल-क्रिया किया है अर्थात् 'क्रिया' को संज्ञा और ज्ञान एवं बल को उसके विशेषण माने हैं। इसी प्रकार दूसरी दृष्टि से ज्ञान, बल, और क्रिया इन तीनों को अलग-अलग संज्ञा भी माना जा सकता है। कोई भी अर्थ लिया जाय इसमें क्रिया शब्द विशेष भाव-दर्शी है। उसका सम्बन्ध पूर्वार्द्ध के 'कार्य' शब्द से है।

नहीं है, उसकी पराशक्ति का है; और दूसरा अर्थ लेने से यह कहा जायगा कि वह उसके (अर्थात् ब्रह्म के) स्वभाव का ही कार्य है, अथवा पराशक्ति और स्वभाव दोनों का कार्य है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मर्षि मूलता को यहाँ तक अमूर्तता पर खींच ले गये हैं कि उसका सम्बन्ध उसी की स्वयं की शक्ति वा स्वभाव से विच्छेद कर दिया है, जिसके कारण वह मूलता केवल चिन्मात्र शेष रह गई। जब उसी शक्ति वा स्वभाव का निराकरण कर दिया जाता है तभी उसे निष्क्रिय, निष्कल आदि कहते हैं। एक ही सत्ता में क्रियता रहते हुए उसी में निष्क्रियता के भाव को देखना बड़ा कठिन है परन्तु उसी का दिग्दर्शन दूसरों को कराना तो और भी कठिन है। जब इस भाव का दर्शन आपको हो जाय तब आप 'न तस्य कार्य" का महत्त्व समझ सकते हैं। इसलिये जब यह कहा जाता है कि वह निष्क्रिय है तब यह समझना चाहिए कि उसकी क्रियता नामी शक्ति अथवा क्रियता के स्वभाव का भी उससे निराकरण कर डाला है। और जब उसको उस शक्ति या स्वभाव समेत देखते हैं तब उसे सक्रिय कहा जाता है। अतः उसे निष्क्रिय और सक्रिय दोनों कहने में कोई श्रुति-विरोध नहीं होता। है वह एक ही। अन्तर है केवल कहने, देखने या समझने का। एक दृष्टि से वह सकरण दिखाई देता है और दूसरी से निराकरण। इसी उपनिषद् में ब्रह्मर्षि श्वेताश्वतर ने उसे सकरण देखकर तृतीय वा चतुर्थाध्याय में उसका सकरण निरूपण किया है। इस दृष्टि से जब पाठक इन अध्यायों को पढ़ेंगे तब "य एवैक उद्भवे", "एकोहि रुद्रो", "विश्वतो मुखो" इत्यादि पदों को देखकर यह कभी आश्चर्य न करेंगे कि एक स्थान पर तो ऋषि उसे निष्क्रिय, निष्कल आदि कहते हैं और दूसरे स्थान पर उसी से सब जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय बताकर उसे महान् कर्ता सिद्ध करते हैं। इस भेद पर ध्यान रखने से ही समस्त अध्यायों में सामञ्जस्य दिखेगा और एक ही संज्ञा का वर्णन करने में ऋषि के दो दृष्टिकोण दिखाई देंगे। एक वह जिसमें अपने आपके प्राकृतिक अस्तित्व का सम्पूर्ण निराकरण कर डाला गया हो और दूसरा वह जिसमें प्राकृतिक स्वभाव या शक्ति का निराकरण न किया गया हो। मनुष्य की प्रथम दृष्टि स्वभावतः सक्रियता पर रहती है क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। तत्पश्चात्

विवेक के द्वारा एक के बाद एक का निराकरण करता हुआ वह उसे निराकार, निष्क्रिय आदि रूप में देख पाता है। यही कारण है कि उक्त उपनिषद् के अन्तिम अध्याय में उसके समाप्ति समय ब्रह्म का सर्वोच्च निरूपण निष्कल आदि कहकर किया गया है। इसीलिये यह मूल स्थिति श्रुतियों में केवलं, मात्रं, निगूढं, अमूर्तं इत्यादि शब्दों द्वारा प्रदर्शित की हुई पाई जाती है। जिन्होंने अपनी शिक्षा का स्रोत अंग्रेजी भाषा को बनाकर उसी में अपने आप को रचा-पचा डाला है, वे केवलं, मात्रं इत्यादि शब्दों के भाव को उस समय शीघ्र समझ सकते हैं जब कि उनसे यह कहा जाय कि यह सर्वोच्च की फिलासफी है। एक ही को निष्क्रिय कहना और सक्रिय भी कहना अनर्गल-सा प्रतीत होता है। इस भ्रान्ति में पड़ जाने का मूल एक कारण अज्ञान ही है। यह अज्ञान अपना अड्डा अनेक प्रकार से जमाता है, परन्तु प्रसंगानुसार यहाँ पर हम केवल दो प्रधान बातों पर ध्यान आकर्षित करते हैं। एक तो यह कि हम धर्म-ऐसे असूर्त क्लिष्ट विषय को उसके शास्त्रीय शब्दों के मूलार्थ वा गूढ़ार्थों को जाने बिना ही एकाएक समझ जाने का प्रयत्न करते हैं। जिस तरह प्रत्येक प्रत्यक्ष विज्ञान-क्षेत्र में उसके शास्त्रीय शब्दों का महत्त्व हुआ करता है, उसी तरह धर्म-क्षेत्र में धर्म-विज्ञानियों द्वारा अनेक शब्द प्रणीत हुए पाये जाते हैं। और दूसरी बात यह है कि यद्यपि हम रात दिन यह तो सुनते, कहते रहते हैं कि आत्मा और परमात्मा में अर्थात् हम में वा ईश्वर में कोई भेद नहीं होता तथापि हमें उसका लेश मात्र भी अनुभव प्राप्त नहीं होता। क्षणिक अनुभव-प्राप्त मनुष्य भी उस आनन्द-रश्मि को, और नहीं तो क्षण भर के लिये अवश्य पा सकता है।

इन्हीं दोनों बातों पर, विशेष कर द्वितीय बात पर यदि विचार कर देखेंगे तो एक ही को निष्क्रिय और सक्रिय कहने में कोई विरोधाभास न दिखेगा। पूर्वोक्त आठवें मंत्र में कार्य और करण ये दो ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ करने में भाष्यकारों में मत-भेद दिखाई देता है, जिसके विषय में हम आगे चलकर बतावेंगे। परन्तु उसके उत्तरार्द्ध में दूसरे जो दो शब्द आये हैं उनके विषय में मत-भेद नहीं हो सकता। 'परा शक्ति' और 'स्वाभाविकी' इन दोनों

शब्दों के मूलार्थ वा गूढ़ार्थ को जिस तरह हमने देखा है वही हम लिखते हैं और हमें विश्वास है कि उससे कोई असहमत नहीं हो सकेगा।

पराशक्ति का अर्थ समझने के लिये 'परा' का अर्थ जानना आवश्यक है। 'परा' 'पर' शब्द का रूप है, इसलिये संस्कृत का कोष उठाइये और 'पर' का अर्थ देखिये तो आपको 'पर' का अर्थ लिखा मिलेगा 'बड़ा' वा 'अधिक'। 'पर' विशेषण वा संज्ञा दोनों रूपों में आता है। वह पुल्लिंग है। उसका स्त्री-लिंग अन्य संज्ञाओं के समान 'परा' होता है जैसे 'सुत' से 'सुता'। संज्ञा के लिंग के अनुरूप ही उसके विशेषण का लिंग होता है। चूँकि शक्ति स्त्रीलिंग है इसलिये 'पर' का स्त्रीलिंग 'परा' का प्रयोग विशेषण के रूप में 'शक्ति' के साथ हुआ है। जब पुल्लिंग संज्ञा के साथ प्रयोग होता है तो 'पर' ही कहते हैं जैसे 'पर-ब्रह्म'। तात्पर्य यह निकला कि 'पर' और 'परा' शब्द चाहे संज्ञा के रूप में आवें चाहे विशेषण के रूप में, महत्त्व वा अधिकता वाची हैं। इनका इस अर्थ में प्रयोग हम साधारणतः भी देखा करते हैं, जैसे परब्रह्म, पराकाष्ठा, परम पवित्र, यह मेरी बुद्धि के परे है, इत्यादि। श्रुतियों में ब्रह्म के लिये, जो पुल्लिंग है, 'परः' और प्रकृति के लिये, जो स्त्रीलिंग है, 'परा' का प्रयोग इसीलिये किया हुआ पाया जाता है। अतः यह पराशक्ति वही पराप्रकृति है जिसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के ७वें अध्याय के ५वें श्लोक में आया है। हम पहले उसके विषय में तथा उससे सम्बन्धित अपराप्रकृति एवं अहंस्थितियों के बारे में लिख भी आये हैं।

अब पराशक्त्यन्तर्गत भाव को जानने के पश्चात् हमें 'स्वाभाविकी' शब्द के महत्व को भी जानना चाहिये। 'स्वाभाविकी' शब्द 'स्वभाव' से बना है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। 'स्वभाव' के दो खण्ड हैं, (१) स्व और (२) भाव। स्व का अर्थ है, 'खुद ब खुद' अथवा 'अपने आप ही', यह भी हम सब लोग जानते हैं। 'भाव' 'भव' का रूप है, और 'भव' का मूल है 'भू'। अर्थात् 'भू (भव)' का अर्थ होता है 'होना' (to become)। इस तरह स्वभाव का अर्थ हुआ 'जो आप ही आप हो'। सम्भव है आप कहेंगे, इस अर्थ में कोई ऐसी विशेषता या नवीनता नहीं जिसे आप न जानते हों। यह ठीक

है। हम कहते सुनते तो ऐसी बहुत सी बातें हैं, परन्तु केवल तोते के समान, जिसे उनका कुछ भी मर्म नहीं मालूम रहता। बिना अनुभव के मर्म नहीं जाना जा सकता। क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया है कि जो कार्य आप से आप होता है उसके होने के लिये कर्ता को किसी प्रकार की चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती? इस बात के मान लेने पर यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि स्वाभाविक कार्यों के होते रहने पर भी कर्ता में किसी भी प्रकार की विचलता नहीं आ सकती अर्थात् उसकी अगाध शान्ति भङ्ग ही नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ चेष्टा या प्रयत्न करने का नामो-निशान ही नहीं। जब इस चेष्टा-शून्यता पर विचार किया जाता है तो जिसका स्वाभाविक कार्य हो रहा है उसे कर्ता की उपाधि भी देना भ्रम होगा; क्योंकि कर्ता उसे कहते हैं जो करे, और जो करे अथवा जो कुछ किया जाय उसमें चेष्टा का भाव आ जाता है। यह चेष्टा तो किन्हीं दूसरों की होती है। ये दूसरे कौन हैं? वही परा प्रकृति, वही स्वभाव तथा उनके अधीनस्थ काम करने वाले जिन्हें चाहे अपरा प्रकृति कहो, भूत वा इन्द्रियाँ कहो, गण कहो, गुण कहो, तत्व कहो या तन्मात्रायें कहो, और फिर उन सूक्ष्मतत्वों के अधीनस्थों को चाहे पदार्थ कहो, कण और अणु कहो या विद्युत् कण (electrons) कहो। जब कि चेष्टाएँ वे किन्हीं दूसरों में सीमित रह जाती हैं अर्थात् दूसरों में आरोपित हो जाती हैं, और इसलिये कर्ता संज्ञा यथार्थ में उन्हीं पर लागू हो जाती है, तो चेष्टाशून्य वह वस्तु-विशेष केवल द्रष्टा मात्र रह जाती है। सारांश यह निकला कि जिसमें चेष्टा या प्रयत्न है उसी का कार्य और जो चेष्टाशून्य है उसका कार्य नहीं होता। इसीलिये 'न तस्य कार्य' कहा गया है। दृष्टान्त स्वरूप बिजली से चलने वाले एक बड़े विशाल विस्तृत पुतली घर में जहाँ मशीन द्वारा कपड़े बनाये जाते हैं, पहुँच जाइये और देखिये उस समय उसके एक दूसरे से सम्बन्धित समस्त कल-पुर्जे बन्द पड़े हैं। एक पुरुष आया और उसने एक बटन दबाई। बस, सारी मशीन चलने लगी और कपड़े निकलने लगे। परन्तु यथार्थ में सब कार्य बिजली रूप शक्ति का ही है। पुरुष ने केवल बटन दबा दी, जो मशीन के चलने अथवा कपड़ा बनने का निमित्त मात्र कारण हुआ। तत्पश्चात् वह मशीन के कार्य को

केवल देखता ही रहता है इसलिये वह द्रष्टामात्र कहाया। इस दृष्टान्त में आप कहेंगे, बटन दबाने की चेष्टा तो हुई। हाँ, पर यह स्थूल सृष्टि का दृष्टान्त है; उसमें पूर्णाङ्गी समता नहीं मिल सकती। अतः अब थोड़ी देर के लिये दृष्टान्त स्वरूप आत्मानुभव ही करके देखिये क्योंकि आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं बताया जाता। यथार्थ में ईश्वर वा ब्रह्म निरूपण आत्मानुरूप ही होता है। भगवान् शंकराचार्य ने कहा है:—

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभास वस्तु निरासतः।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥ (विवेक चूड़ामणि श्लो० ३६८)

अर्थ—अपने आत्मा में आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओं का निरास कर देने पर मनुष्य स्वयं अद्वितीय, अक्रिय और पूर्ण परब्रह्म ही है।

पूर्ण परब्रह्म किसे कहते हैं—वह कौन सी स्थिति विशेष है जो अक्रिय है (न तस्य कार्यम्)? उसी को जानने के लिये इस श्लोक में यह बताया गया है कि आप अपनी समस्त प्रवृत्तियों का निरास (त्याग-निरोध) करके अनुभव कीजिये। प्रवृत्ति, आसक्ति आदि शब्दों से लौकिक सम्बद्धता का बोध होता है। इस सम्बद्धता का जो जितना त्याग, निराकरणादि कर डालता है, अथवा जितना उससे निवृत्त या अनासक्त हो जाता है उतना ही वह ब्रह्म रूप के समीपस्थ पहुँच जाता है। सरल शब्दों में इसी को यों कह सकते हैं कि जिसने अपने हृदय को निर्मल बना लिया उसी को ब्रह्म-दर्शन हो गये। "Blessed are the Pure in heart, for they shall see God" अर्थात् वे ही लोग धन्य हैं जिनका हृदय निर्मल हो गया है, क्योंकि उन्हीं को ईश्वर-दर्शन होंगे।* यदि कोई सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को, जो मलरूप ही हैं, सम्पूर्ण निरास कर डाले तो वह पूर्ण निवृत्त-स्वरूप (मुक्त-अनासक्त-शुद्ध) होकर पूर्ण ब्रह्म ही हो जाता है। इस निरास का क्षणांश अनुभव साधारण से साधारण मनुष्य को कभी-कभी बिना प्रयास या प्रयत्न के आप ही आप अचानक इस तरह हो जाया करता है जैसे बिजली चमककर प्रकाश दिखा

*Bible, New Testament, St. Mathew 5-8

जाती और फिर तत्काल ही लोप हो जाती है। परन्तु इस प्रकार से जो क्षण-मात्र के लिये अनायास अनुभव हो जाता है उससे तो क्षणिक अस्थिर ही सुख मिलता है। इसलिये उसे स्थिर रखने के लिये मनुष्य के मन में उत्कण्ठा होती है जिसकी तृप्ति तभी हो सकती है जब कि स्थिरता-प्राप्ति का साधन किया जाय। यह साधन और कुछ नहीं है, केवल उसी का अभ्यास बढ़ाते जाना चाहिये। अभ्यास बढ़ाने से आदत पड़ जाती है और यही आदत अन्त में स्वभाव बन जाता है। धार्मिक क्षेत्र में योग ही एक ऐसा साधन है कि जिससे मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों को, जो शंकराचार्य जी के उक्त कथनानुसार केवल अपने आप में आरोपित कल्पनायें हैं, रोकने का काल अधिक से अधिक बढ़ा सकता है और इस तरह अपने सुख को दीर्घ काल तक स्थिर रख सकता है। दीर्घकालीन स्थिरता प्राप्त होना ही समाधि है। कई लोग योग-समाधि को ही साध्य या ध्येय मानने लगते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। यथार्थ में समाधि लगाना प्रवृत्तियों अर्थात् विकल्पों के निरास का साधन है। चूंकि बिना निरास के सत्यानन्द, जिसे मुक्ति कहते हैं और जो पूर्ण ब्रह्म का ही लक्षण है, कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिये हमारे पूर्वजों ने उसे प्राप्त करने के लिये योग ढूँढ़ निकाला है। जो योग सिद्ध हो जाते हैं वे ही समाधि लगाकर निरास-काल को स्थिर रख सकते हैं।

सृष्टि तो ब्रह्म के साथ ही है इसलिये उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है? ब्रह्म तो उसमें समर्थतापूर्ण व्यापक है, केवल उससे अलिप्त रहता है। सक्रियता के बीच में वह अलिप्त वा अक्रिय बनकर इस तरह रहता है जैसे जल में कमल-पत्र। इसलिये जब तक सृष्टि में रहकर सृष्टि से अलिप्त न रहोगे, सक्रियता से घिरे हुए निष्क्रिय न बनोगे तब तक पूर्ण ब्रह्मानुभव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि योग तुम्हें अपनी वृत्तियों को रोकने का उपाय बताता है और समाधि उसी रोक को दीर्घकाल तक स्थिर रखने का नाम है। प्रवृत्तियों को रोकने अथवा त्याग करने का, योग वा समाधि द्वारा, अभ्यास केवल इसलिये कराया जाता है कि जिससे हमारा यह स्वभाव ही पड़ जाय कि हमारे नित्य-प्रति के कार्य आप ही आप होते रहें पर हम

उनसे किसी प्रकार लिप्त न रहें। 'स्वाभाविकी क्रिया' कहने का यही महत्त्व है। यदि स्वाभाविकत: कार्य होने लग जायँ तो इस बात पर ध्यान नहीं रहता कि हम क्या कर रहे हैं। ध्यान न रहना ही निरास है। इसी प्रकार निरास हो तब कहीं आप पूर्ण ब्रह्मानुभवी कहे जा सकते हैं, क्योंकि ब्रह्म निष्क्रिय होते हुए भी सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता माना जाता है। इसी निरास का महत्त्व श्री शंकराचार्य जी ने उक्त श्लोक में बताया है। और इसी अनासक्त कर्म का महत्त्व योगिराज श्री कृष्ण भगवान् के मुखारविन्द द्वारा गीता में किया गया है। इसी अनासक्ति में ब्रह्मज्ञान का रहस्य है। चूँकि प्रकृति ही कार्य की द्योतक है और चूँकि स्थूलता वा सूक्ष्मता की दृष्टि से प्रकृति को अपरा और परा प्रकृति कहते हैं, इसलिये जो इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों से अनासक्त रहे उसी का नाम ब्रह्म है। यदि प्रकृति को शक्ति या स्वभाव कहें तो ब्रह्म वही है जो उनसे अनासक्त हो। इसलिए ब्रह्मर्षि श्वेताश्वतर ने ब्रह्म की शक्ति वा स्वभाव की स्थापना ब्रह्म से भिन्न की है, और इसीलिये ब्रह्म का कोई कार्य नहीं कहा गया।

चूँकि समस्त धर्म-सिद्धान्तों का यह सिद्धान्त (ब्रह्म ही मूल भाव है) निचोड़ है और चूंकि उसके यथार्थ रहस्य का अनुभव प्राप्त करना मनुष्य के लिये अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है इसीलिये पुनरावृत्ति के दोष का विशेष विचार न कर हम कुछ प्रत्यक्ष सरल दृष्टान्तों द्वारा यह बता देना आवश्यक समझते हैं कि स्वाभाविकी कार्यों का निराकरण कैसा होता है। पैरों का, अथवा यों कहो कि पैरों के अन्तर्गत जो शक्ति है उसका काम चलने का है। आप किसी ओर चले जा रहे हैं, परन्तु आपका मन उस चलने में न रहकर किसी दूसरी वस्तु में लगा है। मन के अनासक्त रहने पर भी स्वाभाविकी चलने का कार्य बराबर सिलसिले से जारी रहता है। मन की गणना चञ्चल इन्द्रियों में है और आत्मा उसके परे है। जब मन-इन्द्रिय अनासक्त रह सकती है तो उसमें अधिष्ठित आत्मा स्वाभाविकी कार्यों से क्यों न अनासक्त रह सकेगी? दूसरा उदाहरण उस मनुष्य का ले लीजिये जो घूमते समय हाथ में बेत लेकर घुमाता रहता है। उसका ध्यान आपके साथ बातचीत करने में लगा हुआ है परन्तु उसका हाथ मय बेत के आप ही आप घूमता चला जाता है। इस मजिस्ट्रेट

को भी देखिये। कुर्सी पर बैठा हुआ वह गवाह और वकीलों से बातचीत करने, बहस सुनने, फैसला लिखने आदि में कितना दत्त-चित्त है; परन्तु साथ ही साथ उसके एक पैर का एक क्षण भर के लिये हिलना बन्द नहीं हो रहा है। उसको पैर हिलाने की इतनी आदत पड़ गई है कि वह पैर बिना प्रयास वा बिना प्रयोजन के ही हिलाता रहता है। इसी तरह किसी भी इन्द्रिय-कार्य बोलना-चालना, खाना-पीना इत्यादि को लीजिये। प्रत्येक कार्य यद्यपि बिना आन्तरिक शक्ति के नहीं हो सकता, तथापि उसके होने के लिये यह आवश्यक नहीं कि आत्मा सप्रयास, सचेष्ट, सप्रयोजन रहे। वह सब कार्यों से अनासक्त रहती है और फिर भी सब ही कार्य आप से आप चलते रहते हैं। ये दृष्टान्त अत्यन्त स्थूल कार्यों के हैं। इनमें यथार्थतः केवल आदत पड़ जाने का रहस्य दिखाई देता है। यदि यह आदत कहीं स्वभाव ही बन जावे तो फिर वहाँ अनासक्ति का पूर्ण रहस्य आपको प्रकट हो जायगा। अब थोड़ी देर के लिये अदृश्य, सूक्ष्म स्वाभाविक क्रियाओं को देखिये। आपके शरीर की आन्तरिक कुछ क्रियाओं पर विचार कीजिये। तन्त्रि-समूह में रक्त-प्रवाह हर समय हो रहा है, श्वास-प्रश्वास हर क्षण चल रही हैं। साधारणतः आपका ध्यान लेश-मात्र भी इन क्रियाओं पर नहीं रहता। वे स्वतः आप ही आप जारी हैं। आपकी उनमें आसक्ति नहीं है। आप क्या हैं? आप की आत्मा ही आप हैं। आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं। आत्मा व्यष्टि रूप है और परमात्मा समष्टि रूप। श्री स्वामी-शंकराचार्य के निम्न शब्द भी उसी भाव का प्रकाशन करते हैं :-"यथाचोच्छ्वास प्रश्वासादयोऽनभिसंधाय बाल्यं किंचित् प्रयोजनं स्वभावादेव संभवन्ति एवमीश्वरस्य—" अर्थात् जिस प्रकार बालक के श्वास वा प्रश्वास बिना चेष्टा और बिना प्रयोजन के स्वभाववश चलते हुए बालकपन को स्थित रखते हैं उसी प्रकार ईश्वर की स्वाभाविक क्रियायें चलती हुई सृष्टत्व को कायम रखती हैं।

अब वायु से भी महीन विद्युत् धाराओं वा ईथर अथवा उससे भी महीन आकाश तत्त्व का विचार कीजिये जो आपके भीतर-बाहर चारों ओर विद्यमान है। जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास बिना प्रयत्न के स्वभाववश चला करती हैं उसी प्रकार आकाश तत्त्व का कार्य आपके अन्दर चलता रहता है।

फिर आकाश तत्व, जो स्थूल ही माना जाता है उसके अन्तर्गत जो सजीवता रूपी पराशक्ति हैं उस पर भी विचार कीजिये। तब आप को पता लग जायगा कि स्वाभाविकी क्रिया क्या होती है और उसके होने के लिये न कोई प्रयत्न करना पड़ता है और न उसके लिये कोई प्रयोजन ही रहता है। इतने पर भी यदि शंका रह जाय तो सूर्य को देखिये। प्रकाश देना उसका स्वाभाविक गुण है। क्या प्रकाश देने के लिये सूर्य को किसी प्रकार का प्रयत्न या प्रयास करना पड़ता है? क्या उस प्रकाश करने में उसका निजी कोई प्रयोजन होता है? जहाँ सूर्य है वहाँ उसके प्रकाश-गुण का होना प्रयासहीन वा निष्प्रयोजन अवश्य-म्भावी है। अतः जहाँ ब्रह्म है वहाँ उसकी पराशक्ति गुण, और जहाँ पराशक्ति है वहाँ उसका स्वाभाविक कार्य बिना किसी प्रयास वा प्रयोजन के होता ही रहेगा, इसमें लेश मात्र भी संदेह करने की गुंजाइश नहीं।

तब तो आप कहेंगे कि जब ब्रह्म निष्क्रिय है और उसकी स्वाभाविक शक्ति ही सृष्टि रूपी कार्य का कारण है तो उन्हीं लोगों का कहना सत्य हुआ, जो प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं। जो प्रकृति को जगत् का कारण कहते हैं वे इस बात को भूलते हैं कि प्रकृति की ब्रह्म से कोई भिन्न सत्ता नहीं। वह तो ब्रह्म का स्वाभाविक गुण है। जहाँ ब्रह्म नहीं वहाँ प्रकृति स्वभाव ही कहाँ रहेगा? यह तो ऐसी ही बात होगी कि कोई सूर्य को भूलकर यह कहने लगे कि जीवधारियों को (सूर्य का) प्रकाश वा तेज ही जीवित रखता है। इसलिये जब स्वभाव अथवा गुण ही ब्रह्म से अलग सत्ता नहीं है तब यही कहना पड़ता है कि ब्रह्म ही सक्रियता का कारण है—ब्रह्म ही सक्रिय है। इसी गुण वा गुणी-स्वभाव वा स्वभावी के भेद को अच्छी तरह जान लेने से निष्क्रि-यता और सक्रियता का भेद समझ में आ जाता है। जो चेतन है अर्थात् जिसमें स्वसामर्थ्य है, जो सूर्य के समान जड़ वा पराधीन नहीं है, उसमें अपने स्वभाव वा गुण को प्रकट करने या न करने का, कुछ काल तक उसे रोक रखने या न रोक रखने का भी बल होता है। इसीलिये मंत्र में स्वाभाविकी क्रिया के साथ स्वाभाविकी बल कहा गया है। प्रलय और सृष्टि का होना इसी रोकने वा न रोकने—प्रकट करने या न करने का नाम है। परन्तु जगत् के अगणित अण्ड-

ब्रह्माण्डों में जो क्रिया चलती है और जिसे चलाने के लिये बल प्रयोग में लाया जाता है, जिससे उत्पत्ति, स्थिति और लय का क्रम जारी रहता है वह सब किसी अनाड़ी का काम नहीं। उसके लिये पूर्ण ज्ञानी नियन्ता की आवश्यकता है। इसीलिये मंत्र में स्वाभाविकी ज्ञान कहा है। सारांश यह है कि ज्ञान, बल और क्रियायें तीनों ब्रह्म के स्वाभाविक गुण हैं, और इन्हीं तीनों की संयुक्त शक्ति का नाम पराशक्ति है जो विविध प्रकार से प्रकट होकर दिखाई देती है।

तात्पर्य यह निकला कि जब द्रष्टा ब्रह्म को उसके स्वाभाविक गुण (जिसे शक्ति या प्रकृति ही कहते हैं) सहित देखता है तब उसी को 'सकारण' कहना पड़ता है। इसी स्वाभाविक गुण सहित को सगुण कहते हैं। यदि वह निष्क्रिय और निर्गुण रूप ही में देखा जाता तो श्वेताश्वतर ऋषि स्वयं यह क्यों कहते ?—

स विश्वकृद्विश्वविदात्म योनिर्ज्ञः काल कालो गुणी सर्व विद्यः।
प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः संसार मोक्ष स्थिति बन्ध हेतुः॥ (अ० ६ मंत्र १६)

इस मंत्र में मोटे शब्दों पर विचारिये तो यही विदित होगा कि ऋषि ने गुणी को गुण से भिन्न नहीं किया और इसीलिये सृष्टि कार्य का कारण उसे ही माना है। (स) वही (विश्वकृत्) विश्व का कर्ता अर्थात् सृष्टा, (योनिः) प्रकट करने वाला अर्थात् कारण, गुणी, प्रधान क्षेत्रज्ञ, गुणेश और (संसार-मोक्ष स्थिति बन्ध हेतुः) संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है। जब प्रवृत्ति का प्रवाह होता है तभी वह बन्धन का कारण बनता, और जब उस प्रवृत्ति रूपी प्रवाह को सोख लिया जाता है अथवा उसकी निवृति कर डाली जाती है तो मोक्ष अर्थात् उससे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।* इससे

---

* 'संसार मोक्ष स्थिति बन्धु हेतुः' का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है। एक तो संसार की तीनों अवस्थायें-मोक्ष (लय-प्रलय) स्थिति और बन्ध (उत्पत्ति जो प्रवृत्ति सूचक होती हैं); और दूसरा मोक्ष-स्थिति तथा बन्ध-स्थिति अर्थात् निवृत्ति सूचक स्थिति याने मुक्ति और प्रवृत्ति सूचक स्थिति याने बन्धन। दोनों अर्थों में उसीसे संसार का प्रकट होना सिद्ध होता है।

पाठक अब समझ गये होंगे कि 'न तस्य कार्यं' का अर्थ क्या और किस दृष्टि से होता है।

जगज्जाल की आसक्ति को कच्छप के समान अन्तःस्थ होकर बच जाइये; प्रवृत्ति-प्रवाह रूप संसार-सागर को अगस्त्य मुनि बनकर सोख जाइये; चित्त-वृत्तियों का निरोधकर योगी बन समाधिस्थ हो निष्क्रियता और निर्गुणता का अनुभव कीजिये, या समस्त विकल्पों का, शंकराचार्य के शब्दों में, निरास कर डालिये तो आपको अनासक्त पूर्ण ब्रह्मानन्द प्राप्त होगा, जहाँ आपकी स्वाभाविक शक्ति का भी लय रहता है अथवा वह सोई हुई सी रहती है। ज्योंही इस स्थिर आनन्द से प्रवृत्ति-प्रवाह निकला कि आप उच्च शिखर से नीचे को उतरे और आपने अपनी आत्मा ही में ब्रह्म-स्थिति से उतर कर ईश्वरावतार का अनुभव किया। इसीलिये सशक्ति और सक्रिय स्थिति को ब्रह्मवादी ईश्वर संज्ञा देते हैं। यहीं से अवतारवाद का रहस्य प्रारम्भ होता है। यहीं पर गुण गुणी से अभिन्न देखे जाने पर गुणी को ही सृष्टि कार्य का कारण ऊर्ण (मकड़ी) का दृष्टान्त देकर बताया जाता है। यथा

"यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वभावृणोत्।"
(श्वे० उप० अ० ६ मं० १०) और

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णाते च" ॥ (मुण्डकोपनिषद् मुं० १ खं १ मं ७)
अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी अपनी नाभि से तन्तुओं को (स्वभाव वश) निकाल कर जाल फैलाती हुई अपने आप ढँक जाती हैं, उसी प्रकार यह अद्वितीय देव (पुरुष-ब्रह्म, प्रकृति में अधिष्ठित) प्रधान रूप हो स्वभाव से सृष्टि रूपी जाल को बुनकर अपने आप को अदृश्य कर देता है।* स्वभाव शब्द में निश्चेष्टता

---

* (क) नाभि शब्द का मूल अर्थ केन्द्र है। इसमें एक से अनेकत्व का चारों ओर फैलाव का भाव रहता है। इसी भाव को दर्शाने के लिये चक्र-नाभ, कमलनाभ, मनुष्यनाभ, मृगनाभ आदि कहते हैं।

(ख) श्वे० उ० अ० ६ मं० १० में जो प्रधान शब्द आया है उसका भावार्थ जानने के लिये पूर्व के उन पृष्ठों को देखिये जहाँ हमने पुरुष प्रधान और प्रकृति में भेद बताया है।

और निष्प्रयोजनता दोनों भाव रहते हैं। सृष्टि-रचना में ईश्वर का कोई निजी प्रयोजन नहीं रहता; इतना कहने या सुनने से मन को सन्तोष नहीं हो सकता। इसलिये धर्म विज्ञों ने यह कहना उपयुक्त समझा कि सृष्टि ईश्वर का खेल है, ईश्वर की लीला, ईश्वर की क्रीड़ा है।

"लोकवत्तु लीला कैवल्यं।" (वेदान्त दर्शन २।१।३३)

अवतार और जीव भेद का मूल मंत्र

इसीलिये जहाँ अवतार-वर्णन होता है वहाँ अवतार-चरित्रों को अवतार-लीला वा अवतार-क्रीड़ा कहते हैं। राम और कृष्ण-सम्बन्धी ग्रंथों में इन शब्दों का प्रयोग आप को मिलेगा। अवतार और जीव में भेद है, जैसा हम गत पृष्ठों में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं, इसलिये जीव-लीला, जीव-क्रीड़ा, कभी कोई नहीं कहता। लीला या क्रीड़ा में बन्धन के भाव का अभाव है, उसमें परवशता या पराधीनता का भाव नहीं रहता; स्वेच्छा का भाव रहता है। जीव संज्ञा पराधीनता, अमुक्त या बन्धन का भाव-दर्शी है, क्योंकि वह अविद्या के वशीभूत होकर कर्म-सङ्ग और कर्म-फलों में आसक्त रहता है जिससे उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से देह-धारण नहीं करता, बल्कि उसे परवश विषय-वासनाओं के—कर्म-सङ्गति तथा कर्म-फलों में आसक्त रहने के—कारण देह धारण करनी पड़ती है। अवतार में अनासक्ति रहती है। उसका कर्मादि से बन्धन नहीं रहता। इसलिये वह शरीर धारण करने में स्वतंत्र है। विषय आदि उसे जन्म लेने के लिये बाध्य नहीं कर सकते। जब वह स्वतंत्र है अर्थात् जब उसके पास अविद्या नामी प्रकृति फटकने नहीं पाती तब वह अविद्या से मुक्त कहाता है। फलतः जन्म लेना या न लेना, अमुक्त शरीर धारण करना या न करना उसकी इच्छा के अधीन रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि प्रकृति उसके अधीन रहती है, न कि वह प्रकृति के अधीन रहता है। जिसके अधीन प्रकृति हो वह मायाधीश, मायापति आदि कहाकर सुखी वा मुक्त कहाता है, और जो प्रकृति के अधीन रहता है वह अविद्याधीन, अमुक्त वा दुखी होता है। इस

भेद को अच्छी तरह जान लेने पर ही उन लोगों के दिमाग ठंडे पड़ सकेंगे जो अवतार वा जीव में कोई भेद नहीं देखते। इस भेद के जान लेने पर इन दोनों में ज़मीन-आसमान का अन्तर दिखाई देने लगता है। एक प्रकृति को अपनी अंगुली के बल नचाता है और दूसरा आपही प्रकृति की अंगुली के बल नाचता है। एक प्रकृति को आश्रय बनाता और दूसरा प्रकृति के आश्रित बनता है। एक के जन्म, जीवन, कर्म, धर्म इत्यादि अलौकिक और दूसरे के लौकिक कहलाते हैं। यदि इस बात पर पूर्णतया ध्यान दिया होता अथवा श्री मद्भगवद्गीता के चौथे अध्याय को ही गवेषणापूर्वक पढ़ा होता तो स्वामी दयानन्द जी ने "यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥" को वेद-विरुद्ध कहकर अप्रामाणिक न कहा होता। स्वामी जी ने उक्त श्लोक पर एक सम्भावना भी प्रकट की है। वे कहते हैं कि ऐसा (भी) हो सकता है कि श्री कृष्ण धर्मात्मा और धर्म की रक्षा करना चाहते थे (इसलिये उन्होंने ऐसा कहा हो कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूं। (ऐसा हो) तो कुछ दोष नहीं। क्योंकि 'परोपकाराय सतां विभूतयः' परोपकार के लिये सत्पुरुषों का तन, मन, धन होता है। तथापि इससे श्री कृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते।"

'यदा यदाहि...' गीतोक्त कथन वेद-विरुद्ध नहीं

श्री कृष्ण ईश्वर-अवतार माने जाते हैं न कि ईश्वर ही, हालां कि सामीप्य के कारण ईश्वर वा अवतार में प्रायः उसी प्रकार अभेद रहता है जैसे ब्रह्म और ईश्वर में। कृष्ण में अवतार-लक्षण थे या नहीं, यह तभी कहा जा सकता है जब हमारा प्रसङ्ग उनके चरित्र वर्णन का हो, और चरित्र वर्णन तभी हो सकता है जब तत्सम्बन्धी साहित्य का संलग्नतापूर्वक भाव-पूर्ण निरीक्षण किया जाय। अभी तो हमें उनके "यदा यदाहि धर्मस्य..." तथा अन्य कथनों पर ही—न कि चरित्रों पर—विचार करके देखना होगा कि उनका कहना वेद विरुद्ध है या नहीं। इस बात को देखने के लिये, इसमें सन्देह नहीं, हमें प्रथम यह देखना चाहिये कि वह कौन मैं (अहम्) है जो बोल रहा है। यह हम पूर्व में कह आये

हैं कि जब कोई धर्म-प्रणेता 'मैं' कहकर उपदेश करता है तब उसमें स्थूल शरीरी प्रत्यक्ष 'मैं' का भाव नहीं रहता और न यह ही भाव रहता है कि सूक्ष्म शरीरी जीव-रूप 'मैं' बोलता है। उस समय अव्यक्त और व्यक्त का भेद उस के समक्ष रहता है, और व्यक्त का त्याग कर अव्यक्त रूप 'मैं' बोलता है। श्री कृष्ण भगवान ने जो कुछ उपदेश इस अमर ग्रन्थ गीता में दिये हैं वे सुपात्र जिज्ञासु अर्जुन को अव्यक्त भाव से सुनाये गये हैं। वही अव्यक्त भाव कहीं प्रथम पुरुष, कहीं मध्यम पुरुष और कहीं अन्य पुरुष सर्वनामों द्वारा प्रकट किया गया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जो मेरे अव्यक्त श्रेष्ठतम-अविनाशी परमभाव को भूल कर मुझे व्यक्तरूप में देखता है वह बुद्धिहीन (मूर्ख) है। (अ० ७ श्लो० २४)। यह 'मैं' वही है जो जगत् की उत्पत्ति वा प्रलय करता है (अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा (अ० ७ श्लो० ६) गीता में प्रत्येक स्थान पर इसी अव्यक्त अहम् (मैं) का प्रदर्शन जानना चाहिये। यह अव्यक्त अवि-नाशी और अपरिछिन्न है, परन्तु उसमें व्यक्त होने का सामर्थ्य है। इसीलिये 'यदा यदाहि...' के पूर्व वाले श्लोक में यह कहा है कि यद्यपि मैं अविनाशी और अजन्मा हूँ तथापि प्रकृति को अपने वश में रखने के कारण स्वेच्छानुसार प्रकट हो जाया करता हूँ। प्रकृति के आश्रित होकर जीव के समान जन्म न लेने का नाम ही अजन्मा है अर्थात् उसका जन्म प्रकृति के आश्रित नहीं है।

जब श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को दूसरे अध्याय में कहे हुए सांख्य (ज्ञान) योग और तीसरे में कहे हुए कर्मयोग का पाठ पढ़ा चुके और कहने लगे कि मैंने इस (अव्ययम्) अविनाशी योग को कल्प के आदि में वैवस्वत को कहा था और उन्होंने अपने पुत्र मनु से और मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा और उसी पुरातन योग को मैं तुमसे कह रहा हूँ तो अर्जुन को संशय हुआ कि यह कैसे सम्भव हो सकता है क्योंकि वैवस्वत, मनु आदि का काल तो सहस्रों वर्ष पहिले का है।* इसलिये उसकी शंका-निवारणार्थ अध्याय

---

*गीता के चतुर्थाध्याय के प्रथम दो श्लोकों के साधारण अर्थ के अतिरिक्त भावार्थ या तत्वार्थ पर विचार किया जाय तभी अत्यानन्द प्राप्त होता

४ में कथित विचार प्रकट किये गये। उन्होंने कहा कि हे अर्जुन मेरे और तेरे

है। हमें दोनों पर यहाँ संक्षिप्ततः प्रकाश डाल देना उचित प्रतीत होता है। साधारण अर्थ जानने के लिये हमें यह जानना चाहिये कि वैवस्वत, मनु, इक्ष्वाकु कौन हैं। सम्भव है कि मनु नाम का कभी कोई व्यक्ति विशेष हो गया हो परन्तु यह शब्द यथार्थ में उपाधि या पीठ का उसी प्रकार प्रतीक है जैसे व्यास। मनुष्य वर्ग के आदि का ज्ञान कराने के लिये उसे (मनु को) मनुष्यों का आदि पुरुष कहते हैं, वा इसी कारण से वह ब्रह्मा का पुत्र कहलाता है। इसी से मनुष्य, मनुज, मानव आदि शब्द बने हैं। आदि 'मनु' तथा मुसलमान वा ईसाइयों के शब्द 'आदम' में समता देखिये। सृष्टि के प्राचीन विज्ञानाचार्यों ने सृष्टिकाल को कल्प और सृष्टिप्रलय को कल्पान्त कहा है। कल्प ब्रह्मा का एक दिन माना गया है जो चार अरब बत्तीस करोड़(४३२००००००) मानव वर्षों का होता है। उन्होंने सृष्टि काल-विभाग तीन दृष्टिकोण से किया है, यथा मानव काल मान, दिव्य (देवताओं का) काल मान, और ब्रह्मा जी का काल मान! परन्तु यह सब यहाँ देना अनावश्यक है, ब्रह्मा के प्रत्येक इस एक दिन (कल्प) में चौदह मनुओं का आविर्भाव होता है। प्रत्येक मनु के काल, को मन्वन्तर (मनु+अन्तर) कहते हैं। ये चौदह मनु हैं—स्वायम्भू, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। इस समय सप्तम मनु याने वैवस्वत का अधिकार काल चल रहा है। इसके समाप्त होने के बाद बाकी मनुओं का काल चलेगा तब कल्पान्त प्रारम्भ होगा। इस प्रकार अनेक कल्पान्त ब्रह्मा जी के आयु काल में होते हैं क्योंकि उन्हीं (ब्रह्मा) के दिन मान से उनकी आयु सौ वर्ष की मानी गई है। मत्स्य पुराण में मनुओं के नाम इन से भिन्न लिखे गये हैं। इक्ष्वाकु सूर्यवंशी राज्य का प्रथम राजा कहा जाता है।

यह तो साधारण अर्थ हुआ। अब तत्वार्थ, जिस तरह हमने समझा है व जिसमें हमें आनन्द आया है वह इस तरह है। 'विवस्वत' सूर्य का गुण-

बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु उन सब को तू नहीं जानता है—मैं जानता

सूचक है इसलिये वैवस्वत सूर्य का पर्यायवाची है। यही कारण है कि कुछ
टीकाकारों ने वैवस्वत का अर्थ सूर्य ही किया है। सूर्य ईश्वरीय तेज का द्योतक
है। 'मनु' मन क्रिया से बना है जिसका अर्थ होता है सोचना, विचारना
अर्थात् जिसमें मनन (चिन्तन-ध्यान) का भाव हो वह मनु। इक्ष्वाकु ईक्ष या
ईक्षा भाव-वाची है। ईक्ष् का अर्थ है विचारना या देखना। मन और ईक्षा
ये दो स्थितियाँ हैं जिन पर बारीकी से विचारने पर भिन्नता मालूम होगी, हालां
कि दोनों का अर्थ साधारणतया विचारना किया जाता है। मन कहने से
भाव की जागर्ति याने प्राथमिक चिन्तन का अर्थ रहता है, और ईक्ष या ईक्षा
कहने में प्राथमिक चिन्त्य पर पूर्णतया विचार करने का भाव रहता है, जिसे
साधारण मुहावरे में कहते हैं चारों ओर से परखना और अंग्रेजी में कहेंगे
ग्रास एण्ड कान्स को देखना। इस तरह तीन स्थितियाँ हुईं। (१) सूर्य, स्वाभाविक
शक्ति-द्योतक, (२) मन, कल्पना (चिन्तन) द्योतक, और (२) ईक्षा निरीक्षण
(परखना) द्योतक। जहाँ सम्पूर्ण निर्विकल्प, अव्यक्त, शान्ति मूर्ति सशक्त ब्रह्म
स्थिति हो वहाँ माया (प्रकृति) का उसमें सम्पूर्ण लय रहता है। यही उसमें
माया का योग हुआ। सशक्त होने के कारण कल्पना उठी और यही वैवस्वत
का पुत्र मनु हुआ। कल्पना उठने पर उसका निरीक्षण परखना प्रारम्भ हुआ
जो मनु का पुत्र इक्ष्वाकु कहाया। यद्यपि मनु-काल से सविकल्पता प्रारम्भ हो
जाती है, तथापि इक्ष्वाकु काल के अन्त तक प्रकृति (माया) में इतनी प्रबलता
नहीं आती कि वह सात्विकता को भङ्ग कर सके। इसी भाव का प्रतिपादन
चौथे अध्याय के प्रथम श्लोक में समझना चाहिये। अर्थात् जब तक किसी
ध्येय (चिन्त्य) का परखना जारी रहता है तब तक माया जोर नहीं पकड़ती है।
और ज्यों ही परख चुकने के पश्चात् कार्य प्रारम्भ हुआ त्यों ही प्रकृति का जोर
बढ़ा और रजोगुण की प्रधानता आई। इसी काल को राजर्षियों का काल
कहिये। इक्ष्वाकु के बाद सूर्य-वंश चला। तात्विक दृष्टि से इसका यह अर्थ हुआ
कि ब्रह्म तेज नामी सूर्य-वंश हुआ अथवा ब्रह्मर्षि-युग से राजर्षि-युग आया।

हूँ (श्लो० ५)। यह क्यों ? इसलिये कि मेरा जन्म प्रकृति के आश्रित प्राकृत मनुष्यों के सदृश नहीं है। फिर कैसा है ? वही कहते हैं।

इस राजर्षि युग में अर्थात् रजो गुण प्रधान काल में भी माया मनुष्य का गला नहीं घोंट पाती क्योंकि उस स्थिति में सशक्त ब्रह्म स्थिति से आई हुई सात्विकता के ज्ञान-योग की धार किसी न किसी अंश में बहती है। परन्तु जब रजोगुण-प्रधानता की स्थिति भी समयान्तर से चली जाती है और तम (अविद्या) का अधिक जोर हो जाता है अथवा सात्विक ज्ञान धार प्रायः सूख जाती है तब उसे फिर से बसाने की आवश्यकता पड़ जाती है, अर्थात् अविद्यान्धकार के मिटाने का उपाय मात्र सात्विक ज्ञान की वृद्धि ही करना है। यह तभी हो सकता है जब हमारी उस ओर रुचि अर्थात् प्रेम हो। तात्विक दृष्टि से इन्हीं उपर्युक्त भावों का प्रतिपादन चौथे अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में मिलेगा। इस दृष्टि से अवलोकन करने पर व्यक्ति और समाज के आध्यात्मिक उत्थान-पतन दोनों का रहस्य प्राप्त होता है। उपर्युक्त विवेचन पर निम्न प्रकार से दृष्टिगत किया जा सकता है :—
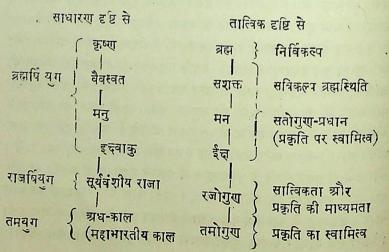
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ श्लोक ६ ॥

अर्थात् (अजः) जन्म रहित, (अव्ययात्मा) अविनाशी तथा (भूतानाम् ईश्वरः) समस्त भूतों का अधिपति होकर भी मैं प्रकृति में स्वतः अधिष्ठित होके (आत्ममायया) उसी निज माया (प्रकृति) को आश्रय करके (संभवामि) स्वप्रकट होता हूँ ।

यह स्वप्रकट होना अन्य लोगों जैसा जन्म नहीं है यही इस श्लोक में बताया है । इस अध्याय में दिये हुए हमारे पूर्व विवेचन को ध्यानपूर्वक पढ़ने से विदित हो गया होगा कि जो कुछ उक्त श्लोक में कृष्ण भगवान् ने कहा है वह श्रुति-सम्मत है न कि श्रुति-विरुद्ध ।

इस श्रुति-सम्मत सिद्धान्त का अविशेष रूप से प्रतिपादन कर भगवान् कृष्ण आगे बढ़े और कहा कि इसी सामर्थ्य से

यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ श्लो० ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ श्लो० ८ ॥

(संक्षिप्तार्थ) जब जब मनुष्य-समाज में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब ही युग युग में साधुओं की रक्षा दुष्कृतों का विनाश तथा धर्म-स्थापना के हेतु प्रकट होता हूँ ॥ ७-८ ॥

परन्तु मेरे इस जन्म (प्रकट) होने की बात को सुनकर कोई यह न समझने लग जाय कि मेरा जन्म अन्य जीवों के समान ही होता है, इसलिये कृष्ण भगवान् ने उस शंका का निवारण निम्न श्लोक में कर दिया है ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ६ ॥

(अर्थात्) मेरा यह जन्म और कर्म स्वेच्छाकृत होने के कारण दिव्य अर्थात् अलौकिक है । जो इसकी यथार्थता की तह में पहुँच जाता है अथवा

जो इसके तत्त्व को जान लेता है वह शरीर को त्याग कर फिर से जन्म नहीं लेता बल्कि मुझे ही प्राप्त कर लेता है। याने मेरे समान ही प्रकृति की अधीनता से बचकर मुक्त हो जाता है।

श्रीकृष्ण द्वारा कथित इस दिव्य-अदिव्य (लौकिक-अलौकिक) जन्म और कर्म के भेद पर विचार करने के कारण स्वामी दयानन्द जी ने कृष्ण को अन्य जीवधारियों के समान प्रकृति-बद्ध (अमुक्त) मान उनके कथन को वेद-विरुद्ध कह डाला और उनमें उसी कर्म-शक्ति का आरोपण कर, जिसके विरुद्ध उन्हीं के द्वारा कही हुई पूरी गीता भरी पड़ी है, उनके पुनर्जन्म होने की सम्भावना कह डाली है। फिर यह भी देखा जाय कि यदि वे जीव-संज्ञा से भिन्न अविद्या-रहित प्रकृत्याधीश हों तो वे ईश्वर क्यों नहीं कहे जा सकते ? यदि वे सम्पूर्णतः ईश्वर न हों, तो भी ईश्वर के अधिकतम समीपस्थ होने के कारण उन्हें जीव संज्ञा से भिन्नता स्थापित करने के हेतु अवतार क्यों न कहा जाय! हमारी समझ में तो—नहीं, सभी धर्माचार्यों की सम्मति से—जो प्रकृति बन्धन से मुक्त होकर उसका स्वामी बन जाता है, वह अभेद रूप से यथार्थ में ईश्वर रूप ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने प्रथम पुरुष सर्वनाम "मैं" का प्रयोग कर अपने मुख से अव्यक्त सत्ता का वर्णन किया है, और यह बताया है कि वह स्वभावतः अपनी योगमाया से व्यक्त होती है, तथा इस व्यक्त हो जाने के सामर्थ्य के कारण वह समय-समय पर मनुष्य समाज के उद्धारार्थ भी प्रकट हुआ करती है। इस प्रकट होने का नाम ही दिव्य जन्म है, जो प्राकृत जन्म से भिन्न है। इस कथन में, भला, असत्य कहाँ—वेद-विरुद्धता कहाँ !!

योग बल से एक शरीर को त्याग कर दूसरे में प्रवेश कर जाना, अष्ट सिद्धियों को प्राप्त कर लेना आदि बातें अवतार विरोधियों को भी मान्य होंगी, इसमें सन्देह नहीं।* इन सब का कारण क्या है ? प्रकृति के स्वाभाविक गुणों

*अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि आठ सिद्धियों की विलक्षणता पर ध्यान देने से मालूम होगा कि हम अपने सूक्ष्म स्वरूप द्वारा अत्यन्त आश्चर्य-प्रद घटनायें कर सकते हैं।

को अपने वशीभूत कर लेना ही न ? इस प्रकार के गुण-प्राप्त योगी को हम अलौकिक या विलक्षण उपाधि देने लगते हैं। यदि इनसे भी अधिक विलक्षणता प्राप्त कोई परम योगी हो जो सब ओर से सब काल में प्रकृति पर स्वामित्व इस तरह प्राप्त कर सका हो जो लौकिक जीव में न पाया जाता हो तो उसे अवतार क्यों न कहा जाय ? ईश्वर भी परम योगी इसीलिये कहा जाता है कि वह प्रकृति का सोलहों आना स्वामी है। इसीलिये प्रकृति को उसकी योग-माया कहते हैं। जीव और अवतार में भेद जानने के लिये सौ मूल का एक मूल मंत्र यही है कि यह देखा जाय कि वह प्रकृति का स्वामी है अथवा प्रकृति उसकी स्वामिनी है। इसमें सन्देह नहीं कि बिना शरीर धारण किये हुए भी परमात्मा की प्रेरणा रूप क्रियायें दुष्टता के विनाश के हेतु और साधुता के स्थापनार्थ स्वाभाविकगति से अदृश्य रूप होकर चला करती हैं। परन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि चाहे आप आध्यात्मिक दृष्टि से विचार कीजिये या तात्त्विक वैज्ञानिक दृष्टि से, भले-बुरे सब के श्वास-प्रश्वासों, भाव कुभावों की पहुँच अन्तर्यामी, सर्वव्यापी परमात्मा तक होती रहती है। भक्तों की भावनायें और आर्तों की पुकारें उस अनन्तगुण-सम्पन्न, स्वाभाविक करुणा और प्रेमागार तक बिना पहुँचे कैसे रह सकती हैं ?* स्थूल दर्शी जीवधारी आन्तरिक-अदृश्य

---

*यहाँ पर पाठक पूर्वकथित तीन बातों पर अपना ध्यान स्थिर करके विचारें तो यह भाव शीघ्र समझ में आ जावेगा। (१) परमात्मा नाम की सत्ता जो अपनी सूक्ष्मता (शून्यता) के कारण सर्व संसार में एक सी व्याप्त है (२) नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों की करामात जैसे अत्यन्त दूर देश की बातों को तत्काल सुनना (रेडियो के द्वारा) और प्रतिमाओं को देखना (टेलीविजन के द्वारा) इत्यादि। आन्तरिक प्रवाहित विद्युत्-धाराओं द्वारा यह सब होता है, और (३) परमात्मा नाम सत्ता तो इन पार्थिव विद्युत्-धाराओं आदि से अधिक-तम सूक्ष्म है तब फिर भावों का परस्पर सम्पर्क होते रहना कोई आश्चर्य नहीं। इससे आत्मा की आन्तरिक भावनाओं की पहुंच परमात्मा तक नहीं रुक सकती।

स्वाभाविक गति से अपने जीवन को प्रभावित करने में प्रायः असमर्थ रहता है इसलिये प्रत्यक्ष लोक-चरित्र नायकता की समय-समय पर आवश्यकता होती है। जब परमात्मा को सर्वसमर्थ, नियन्ता, करुणागृह मान लिया जाता है, तो 'त्रयाणामपि लोकानां कार्यार्थं मम सम्भवः'* के मानने में क्या कोई शंका हो सकती है ?

अवतार का स्पष्टीकरण दृष्टान्त द्वारा

अब यदि हम दृष्टान्त द्वारा अवतार का संक्षिप्ततः स्पष्टीकरण करें, ताकि पाठक उसे सहज ही में समझ सकें तो वह इस प्रकार कहा जा सकता है। पाठक अपने स्वरूप को देखने के लिये अपने सम्मुख रखे हुए एक दर्पण पर ध्यान दें। यदि दर्पण के बनाने तथा उसे समुचित रूप से सम्हाल रखने में हम परवश हैं तो हमारी प्रतिबिम्बित आकृति बिम्ब-आकृति से भिन्न दिखेगी, क्योंकि हम दर्पण-माध्यम (Medium) के आश्रित हैं। यदि इसी दर्पण को हम में अपनी स्वेच्छानुसार ठीक प्रकार से बना लेने और सम्हाल रखने की शक्ति हो तो फिर सन्देह नहीं कि हमारा प्रतिबिम्ब हमारे बिम्ब के समान ही दिखेगा, क्योंकि हम दर्पण रूपी आश्रय के आश्रित नहीं हैं, बल्कि वह हमारे आश्रित है। हमने तो अपने सच्चे स्वरूप को पूर्णतः अपने समान ही देखने के लिये उस दर्पण का केवल आश्रय लिया है। परन्तु जो आकृति दर्पण में दिखी वह तो निरी वाह्यचर्माकृति है। हमारा यथार्थ आन्तरिक स्वरूप उसमें व्यक्त नहीं हो सका, क्योंकि दर्पण रूपी आश्रय में उसे व्यक्त करने की शक्ति नहीं। वह स्थूल शक्ति-हीन पदार्थ है। अब यदि एक्स-रे, रेडियो, टेलीविज़न आदि आधुनिक आविष्कारों का स्मरण कर हम इस आश्रय को सूक्ष्मातिसूक्ष्म यंत्र-रूप बनाते जायँ तो हमारी प्रतिबिम्बत आकृति भी हमारे शरीरान्तर्गत हड्डी, मांस, स्नायु, अणु, परमाणु आदि युक्त दिखती जायगी। विचार पूर्वक इस अनुमान को

---

*तीनों लोकों का कार्य करने के लिये मैं स्वयं होता (अवतार लेता) हूँ।

यहाँ तक बढ़ाते जाइये कि अन्त में एक इतना सूक्ष्म-भेदी अदृश्य माध्यम (आश्रय) प्रतीत होने लगे कि जिसके द्वारा आपकी प्रतिबिम्बित आकृति में वे सब स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ एवं तत्त्वादि प्रकट हो जावें जो आपके यथार्थ बिम्ब में हैं। जब यह स्थिति आपकी नज़र में झूलने लगे तब देखिये ऐसा सूक्ष्म-भेदी अदृश्य आश्रय कौन सा है ? वही प्रकृति—वही माया, वही परा शक्ति—वही स्वभाव है, जिसके विषय में पूर्व में कहा जा चुका है। तब फिर यह देखेंगे कि बिम्ब में वही प्रकृति, आश्रय में वही प्रकृति और प्रतिबिम्ब में भी वही प्रकृति—सब ओर वही प्रकृति है। केवल प्रकृति को अपनी इच्छानुसार वश में कर लेने की आवश्यकता है। जहाँ उस पर पूर्णतः स्वामित्व हुआ वहाँ अपने आपका स्वरूप प्रकट करना क्या कोई बड़ी बात है ?

: १२ :

अवतार-भेद

अवतार-परिभाषा

संस्कृत में तृ धातु का अर्थ होता है 'पार करना' परन्तु 'अव' के साथ तृ के आ जाने से 'अवतृ' के अर्थ करने में निराकारवादी और साकारवादियों में मतभेद होने लगता है। निराकारवादी 'अवतृ' का अर्थ उतरना करता है—इसमें 'अव' उपसर्ग का अर्थ 'नीचे' होता है। इसलिये वह साकार-वाद की उपेक्षा करने के अभिप्राय से 'अवतार' की परिभाषा 'अवतरति इति अवतारः' (जो उतरे वही अवतार है) कहकर करता है। इस परिभाषा में अवतार-संज्ञा के प्रति उपेक्षा-दृष्टि भले ही हो, परन्तु इसे स्वीकार करते हुए भी हमारा पक्ष यह रहा है कि अवतार शब्द को समझने के लिये स्थूल जगत् के 'उतरना' शब्द की उपमा देना मूर्खता है। इसके विपरीत साकारवादी कहता है 'अव-तरन्ति जनायेन सअवतारः' अर्थात् अवतार वह है जिसके अवलम्ब से मनुष्य भव-सागर को पार कर जाते हैं। वस्तुतः अवतार शब्द में उक्त दोनों भावों का समावेश है। निर्विकल्प ब्रह्म-संज्ञा से प्रकृति सहित नीचे उतरना तथा प्रकृति के वशीभूत न होकर उसके साथ क्रीड़ा या लीला करते हुए ईश्वर-संज्ञा के समीपस्थ रहना, ये ही लक्षण अवतार संज्ञा के हैं। इसलिये यदि हमसे कोई अवतार की परिभाषा संक्षिप्त में करने के लिये कहे तो हम यह कहेंगे— "सर्वोच्च निर्विकल्प-शान्ति पूर्ण ब्रह्म की सविकल्प स्वाभाविक-पराशक्ति से प्रकट वह स्वरूप अवतार कहाता है, जो प्रकृति-बद्ध न होने के कारण जीव-संज्ञा से भिन्न अलौकिक या दिव्य कहलाने का अधिकारी हो तथा ईश्वरीयगुण-सम्पन्नता के कारण ईश्वर रूप हो अथवा उसके समीपस्थ रहकर तत्कालीन आदर्श चरित्र-नायक हो।"

प्रधानावतारों के नाम

इस परिभाषा के पढ़ने से हमारा ध्यान केवल मानवी अवतारों की ओर जाता है न कि उन सब अवतारों की ओर जिनके विषय में हम पढ़ते

वा सुनते रहते हैं। जैसे वराह, मत्स्य, कूर्मावतार आदि। यों तो अवतार शब्द के मूलार्थ (अवतरित इति अवतारः) पर ही विचार किया जाय तो सारी सूक्ष्म वा स्थूल सृष्टि ही अवतार कही जा सकती है। परन्तु सारी सृष्टि से भिन्नता स्थापित करने के अभिप्राय से ही लौकिकता और अलौकिकता की कसौटी लगाई जाती है। अलौकिकता कभी-कभी केवल मनुष्यों ही में नहीं वरन् अन्य योनियों के अन्य जीवधारियों में भी प्रकट हुआ करती है। इन अलौकिकता प्राप्त जीवधारियों को निरावतार-वादी जीव विशेष की उपाधि देकर ही सन्तोष कर लेता है। इन जीव विशेषों में भी जो विशिष्टतर हो वही साकारवादी की दृष्टि में जीव से भिन्न अवतार कहा जा सकता है। इस प्रकार अनेक अलौकिक जीवधारियों में से भी कुछेक थोड़े ही अवतारों की श्रेणी में आने योग्य होते हैं। इसलिये श्री मद्भागवतादि ग्रन्थों में ईश्वरावतार अनन्त या असंख्य कहे गये हैं परन्तु उनमें से मुख्य केवल २४ माने गये हैं। एक प्रेमी महाशय ने 'कल्याण' के ईश्वराङ्क में लिखा है कि "जिस प्रकार ८४ लाख आसनों और योनियों में केवल ८४ आसन और ८४ योनियाँ प्रधान हैं और ८४ में भी सिर्फ ३२ ही मुख्य हैं, उसी प्रकार अनन्त अवतारों में भी २४ अवतार प्रधान व प्रख्यात हैं, और उन २४ में भी केवल १० ही मुख्य माने जाते हैं।" कोई कोई २४ अवतारों के बजाय ३९ अवतारों की गणना प्रधान अवतारों में करते हैं। श्रीमद्भागवत में प्रधान २४ अवतारों के नाम इस प्रकार से हैं।

(१) सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमार, जिनका उत्पन्न होना ब्रह्मा की नाक से कहा है और जो सदा पाँच वर्ष के ब्रह्मचारी बने रहते हैं, (२) वराह (३) यज्ञपुरुष (४) हयग्रीव (५) नरनारायण (६) कपिलदेव (७) दत्तात्रेय (८) ऋषभदेव (९) राजा पृथु (१०) मत्स्य (११) कूर्म या कच्छप (१२) धन्वन्तरि (१३) मोहनीमूर्ति (१४) नरसिंह (१५) वामन (१६) हंस (१७) नारद (१८) हरि अवतार (जिससे गजेन्द्र ग्राह-मुख से छूटा) (१९) परशुराम (२०) रामचन्द्र (२१) वेदव्यास (२२) कृष्ण (२३) बुद्ध (२४) कल्कि। इनका संकेत मात्र श्री मद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के तृतीयाध्याय तथा द्वितीय स्कन्ध

के सप्ताध्याय में मिलता है। इनमें से १० मुख्य ये हैं। (१) मत्स्य (२) कूर्म (३) वराह (४) नृसिंह (५) वामन (६) परशुराम (७) राम (८) कृष्ण (९) बुद्ध और (१०) कल्कि। इनमें से कल्कि अवतार अभी कलियुग के अन्त में होगा।

इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी अवतार कहा जाता है, यह आपको श्री मद्भागवत के दूसरे स्कन्ध के सातवें अध्याय ही में लिखा मिलेगा। वहीं यह भी लिखा हुआ मिलता है कि ब्रह्मा जी नारद से कहते हैं—"हे नारद! कई बार मेरे से ब्रह्मा और तुमसे नारद संसार में उत्पन्न हो चुके हैं"। महेशावतार के स्थान में शिव या रुद्रावतार भी कहते हैं। कहीं पर यज्ञावतार का भी वर्णन आता है।

अवतार-कथाओं में असामञ्जस्य

अवतारों के विषय में सुनते ही नवीन युग की शिक्षा से प्रकाशित जनों के मन में सब से प्रथम जो विचार उठता है वह यह है कि अवतार-वाद सब गप्प है। दर असल बात भी ऐसी है कि जिस ढंग से अवतारों की कथा-वार्ता पढ़ने वा सुनने के लिये मिलती है वह विश्वासोत्पादक नहीं प्रतीत होती। एक ही अवतार के एक ही आख्यान में कुछ ऐसे प्रसङ्ग लिखे मिलते हैं जो एक दूसरे की सत्यता को काट देते हैं और शंकायें उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त एक ही अवतार की भिन्न-भिन्न पुस्तकों में भिन्नता बोधक आख्यायिकायें भी पढ़ने में आती हैं। कुछ बातें परस्पर विरोधात्मक और कुछ असम्भव होती हैं जिनके कारण यदि उन पर विश्वास न हो तो कुछ आश्चर्य नहीं। परन्तु इसमें केवल लेखन शैली ही का दोष नहीं कहना चाहिये। दोष का भाग वाचकों पर भी रहता है। लेखन-कला का समय अथवा काल के अनुसार परिवर्तन होते रहना अनिवार्य्य होता है। कभी वह कविता-प्रधान रहती है, कभी कहानी प्रधान इत्यादि। कविता-प्रधान और कहानी-प्रधान लेखों का भाव समझने के लिये वाचक को विशेष प्रयत्नशील होने की आवश्यकता रहती है। पुराणों का जन्म प्रधानतः इसलिये हुआ कि उनके लेखों द्वारा

साधारण जनता भी वेद-विहित सिद्धान्तों को सरलता से समझ सके और इसीलिये उनमें बहुत से आध्यात्मिक भावों को कहानियों द्वारा बताया गया है, और अवतार-वार्ता उनमें से एक है। परन्तु इनमें सन्देह नहीं कि ये कहानियाँ वर्तमान समय में अनेक स्थानों पर तात्त्विक प्रश्नों को सुलझाने वाली न होकर उलझाने-वालीसी हो गई हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि जो धर्म-प्रेमी विद्वज्जन पुराण-लिखित बातों को मानते हैं वे वैयक्तिक या सामूहिक परिश्रम करके पुराणों में व्यक्त बातों को इस ढंग से प्रकाशित करें या करावें कि उनकी मूल सत्यता पर कोई आँच न आवे और साथ ही उसमें विश्वास उत्पन्न हो और पढ़ने की ओर रुचि बढ़े।

अवतार-विषय के विभाग

इस अध्याय में हमें पाठकों के विचारार्थ एक प्रधान विषय उपस्थित करना है, और वह है वही विषय-विभाग का महत्त्व जिसके बारे में हम पहिले इसी पुस्तक में अन्यत्र कह आये हैं। किसी विषय को पाठ्य या रुचिकर बनाने के लिये यह आवश्यक होता है कि उसका निदर्शन उपयुक्त विभागों में विभक्त करके किया जाय। यही कारण है कि सर्वव्याप्त परमात्मा को देखने के लिए धर्म-शास्त्रों में भिन्न-भिन्न विभाग मिलते हैं। इसी हेतु श्री स्वामि नारायण सम्प्रदाय में परमात्मा को पाँच प्रकार से व्यवस्थित कहते हैं। यथा 'पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा'। श्री पं० कृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण जी ने 'कल्याण' के ईश्वराङ्क में अपने 'श्री स्वामि नारायण सम्प्रदाय में परमेश्वर' शीर्षक लेख में उक्त स्वरूपों का वर्णन निम्न प्रकार से दिया है—

"पर स्वरूप वह है जो अक्षरधाम संज्ञक ब्रह्मलोक में अनन्त मुक्त मनुष्यों को दिव्य साकार स्वरूप से दर्शन दे रहे हैं, वह मुक्ति दशा है।

"व्यूह स्वरूप वह है जो कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध स्वरूप से प्रख्यात हैं।

"विभव स्वरूप वह है जो कि किसी एक ऐश्वर्य तथा विशेष शक्ति सहित प्रकट होते हैं।

"अन्तर्यामी स्वरूप वह है जो सब के हृदय में विराजमान हैं।

"अर्चा स्वरूप = मूर्ति—प्रतिमा स्वरूप से भक्तों की भावना के अनुसार शुभ मन्दिरादि में विराजमान हैं।"

इन पाँच स्वरूपों में से व्यूह वा विभव स्वरूप ही अवतार रूप से प्रकट होते हैं, शेष तीन नहीं, जैसा कि उनके पूर्व वर्णन के पढ़ने से आप ही आप ज्ञात होगा। विभव स्वरूप के भी उक्त पंडित जी के शब्दों में निम्न मुख्य पाँच भेद हैं :—

"मुख्य अवतार—दिव्य स्वरूप से अकस्मात् प्रकट होने वाले नृसिंहादि।

"गौण अवतार—नियत कार्य के लिये प्रकट होने वाले विष्णु आदि।

"पूर्ण अवतार—अनेक कलाओं से परिपूर्ण श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्रादि।

"अंश अवतार—किसी एक कला-विशेष से जीव में प्रवेश करके प्रकट होने वाले।

"आवेश अवतार—जिसमें स्वयं ईश्वर प्रवेश करके प्रकट हुए हों।"

अवतार-विषय को रोचक और विश्वासोत्पादक बनाने के उपाय

विषय-प्रतिपादक के दृष्टिकोण के अनुसार एक ही विषय भिन्न-भिन्न प्रकार से विभक्त किया जा सकता है। इसलिये अध्ययन के अभिप्राय से अवतारों के उक्त भेदों की श्रेष्ठता के विषय में कोई आपत्ति नहीं होती। उनकी श्रेष्ठता उनके परंपरागत होने तथा धर्मनिष्ठ को धर्मानुशील बनाने में ही है। उनमें, हमारी समझ में, वह शक्ति नहीं है जो आधुनिककाल की वैज्ञानिक जगमगाहट के अन्धकार में टटोलनेवालों के मन में अवतार-सम्बन्धी विषय को पढ़ने की ओर रुचि उत्पन्न कर तथा उसमें सत्यता की झलक दिखाकर विश्वास जागरित कर सके। यह उस समय तक कठिन प्रतीत होता है जब तक कि इस धर्म-विषय रूपी सूत्र में ऐतिहासिकता, विकास-वाद एवं युक्तिपूर्ण भाव दर्शन रूपी मोती न पिरोये जावें। इसलिये जो अवतार-रहस्य का रसास्वादन करना चाहते हैं उन्हें सब से प्रथम जगत् के सूक्ष्म अदृश्य स्वरूप का

ध्यान करना चाहिये, और फिर स्थूल जगत् का। सूक्ष्म अदृश्य जगत् में स्थूल मनुष्य-शरीर को भूल कर सर्वव्याप्त, सर्वसमर्थ, सर्वनियामिका शक्ति के भाव को मन में लाना होगा, तब कहीं ब्रह्मावतार, विष्णु अवतार, रुद्रावतार आदि की सत्यता पर विश्वास हो सकेगा। जितने शक्त्यवतार हैं वे, हमारी सम्मति में, शक्ति-वाचक भाव ही हैं। यह दूसरी बात है कि जब हम ब्रह्म की प्रारम्भिक सविकल्पता या शक्ति ही को शरीर उपाधि देते हैं तो उस दृष्टि से वे शक्ति-वाचक भाव ही शरीरधारी अवतार कहे जा सकते हैं।

सूक्ष्म अदृश्य जगत् के पश्चात् जब हम स्थूल जगत् का विचार करते हैं तब हमारा दृष्टि-कोण केवल हमारी पृथ्वी तक ही सीमित रहता है, क्योंकि आखिरकार हमारा क्षितिज महानकर्त्ता के महान ब्रह्माण्डों तक पहुँच ही कैसे सकता है ? हमारी दौड़ धूप मण्डूक के समान ही तो रह सकती है ? यही कारण है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, दुर्गा आदि जो भाववाची अवतार हैं उनका भी अनुसन्धान हम केवल सीमित स्थूल जगत् के आधार पर ही लगाते हैं। इनके अतिरिक्त जितने अन्य और अवतारों के विषय में हम लोग पढ़ते-सुनते हैं उन सब को केवल हमारे सीमित स्थूल जगत् (अर्थात् पृथ्वी) से ही सम्बन्धित समझना चाहिये। और हमारी पृथ्वी है क्या ? विकास की ही पुत्री तो है ! यह हमें विदित ही है कि हम स्थूल-द्रष्टा हैं, और इसीलिये हमारा सृष्टि-ज्ञान पंचभूतों के परे जाने में साधारणतः असमर्थ रहता है। हम इन्हीं पञ्चभूतों से सृष्टि-उत्पत्ति मानते हैं। चूंकि हम पृथ्वी पर रहने वाले जीवधारी हैं, इसलिये पृथ्वी किस तरह बनी, उसके पहिले क्या था, उस पर रहने वाले प्राणी या जीव-धारी किस-किस क्रम से विकम्पित हुए, और फिर मन-बुद्धि आदि का विकास इन प्राणियों में किस तरह होता गया इत्यादि-इत्यादि पृथ्वी सम्बन्धी विषयों की खोज हम लोगों ने की। इन पञ्चभूतों में से जल और पृथ्वी ही दो ऐसे स्थूल तत्त्व हैं जिन्हें साधारण पुरुष भी देख सकते हैं। इसलिये प्रलय काल का ज्ञान केवल इतनी बात को कहकर कराया जाता है कि उस समय सब ओर सब स्थानों में सब कुछ जलमय हो जाता है और फिर उस जल से पृथ्वी का प्रकट होना बताया जाता है। जल नाम अप् का है। विचारवान जिज्ञासुओं को

इन्हीं सब बातों का ज्ञान-भाण्डार अवतार-वाद में मिलता है। प्रलय के पश्चात् एक ओर पृथ्वी का जल के भीतर से वराह के द्वारा प्रकट होना, और दूसरी ओर जब तक केवल जल है तब तक उसमें शंख-घोंघी आदि का होना और फिर क्रमशः एक प्राणी के बाद दूसरे प्राणी का विकास होते जाने के पश्चात् जल जन्तुओं में से प्रधान जल-जन्तु मछली (मत्स्य) का विकास होना आप को मिलेगा। अर्थात् जब तक जलमय कोष रहा तब तक केवल जल ही में रहने वाले अनेक प्राणियों की उत्पत्ति एक के बाद एक की होती गई यहाँ तक कि उन सब में बड़ा मत्स्य हुआ। उस युग में सब से अधिक महत्त्व-शाली होने के कारण मछली श्रेणी के प्राणियों में से भी सब से बड़े महत्त्व वाले मत्स्य को मत्स्यावतार माना गया है। जल जन्तुओं के बाद किस क्रम से पृथ्वी पर प्राणियों का विकास होता गया वह भी देखिये।* कूर्म (कच्छप) एक ऐसा जन्तु है जो आवश्यकतानुसार जल के किनारे पृथ्वी-भाग पर भी कुछ काल के लिये रह सकता है, इससे कूर्मावतार प्रसिद्ध हुआ। फिर पृथ्वी पर रहने वालों का युग बढ़ता गया। इनसे वराह, नृसिंह और फिर नर-काल आया। इस प्रकार शरीर-विकास के साथ-साथ मन-बुद्धि आदि के विकास की भी वृद्धि होती गई जिसका क्रम नर-युग में भी जारी रहा। पहिले वामन, फिर परशुराम, फिर राम तत्पश्चात् कृष्ण और बुद्ध। इन सब में, हमारी समझ में आदर्श बुद्धिमत्ता और ज्ञानमय कोष का क्रम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से बढ़ना बताया है। यह विकास समय की गति के साथ ही जारी रहता है, इसे हम सभी मानेंगे। और अवतार भी वही कहा जाता है जो समय के अनुकूल ही (संभवामि युगे युगे) प्रकट होता है और जो तत्कालीन प्रकट स्वरूपों में भी अपने गुण-कर्मादि की दृष्टि से सब से अधिक प्रधानता रखता हो। अर्थात् समकालीन श्रेष्ठतम प्राणिवर्ग का श्रेष्ठतम प्राणी ही इस काल का अवतार कहा

---

*दी बुक-आफ नालेज (The Book of Knowledge) भारतीय संस्करण के प्रथम भाग के १०वें पृष्ठ पर दिया हुआ चक्र प्राणि-विकास पर अच्छा प्रकाश डालता है।

जाने का अधिकारी होता है। अवतारवादी महाशय कहीं हमारी इस
बात को पढ़कर हम पर नाक-भौंह न सिकोड़ने लगें और कहने लगें
कि हम एक अवतार को दूसरे अवतार से कम कहते हैं। अवतार जिस सत्ता
का होता है वह तो सदा एक ही है, उसमें कमी-बढ़ी का काम ही क्या है ?
उसमें तो समय के अनुसार ही युग-युग में प्रकट होने का काम रहता है।

विकास-युगों तथा प्रत्येक विकास-युग से स्वतः होते रहने वाले विकास-क्रम
और उस विकास-क्रम की एक अन्तिम श्रेष्ठ विभूति पर विचार रखा जाय तो
"सम्भवामि युगे युगे" में अविश्वास होने की तनिक भी गुंजाइश न रहेगी।
विकासत्व में न केवल ऐतिहासिक सत्यता ही रहती वरन् उसमें 'सम्भवामि'
वाली धार्मिक सत्यता भी पाई जाती है। इस तरह देखने पर जब आप यह
समझ लेंगे कि पहिले जल से धीरे-धीरे पृथ्वी का उद्भव हुआ और उसी क्रम
से एक-एक विशिष्टता-प्रधान युग स्थापित होता गया तब आप नर-प्रधान युग
में पहुँच जाते हैं। वहाँ पहुँचकर नर-विषयक अनेक प्रकार के आन्तरिक, मान-
सिक वा आध्यात्मिक विकास बताने के लिये आप को अनेक अवतार मिलते
हैं। कहीं क्षत्रियत्व, कहीं भक्ति, कहीं ज्ञान, कहीं दया आदि, को प्रकट करने
वाले अवतार-पुरुष आपको दिखाई देते हैं। श्रीभागवत में जिस क्रम से अवतारों
के नाम दिये हैं वे हमारी समझ में विकासानुसार नहीं है। इसलिये गवेषणा-
पूर्ण विवेचन करने के पश्चात् अवतार-क्रम का निर्धारित करना अत्यन्त आव-
श्यक है। जो क्रम सबसे मुख्य १० अवतारों का हमने ऊपर दिया है* उसमें
हमें ऐतिहासिक विकास की सत्यता दिखाई देती है। भागवतादि में जो प्रधान
अवतारों की सूची दी है उनमें अधिकतर नर रूप हैं। उनमें से कुछेक की
ऐतिहासिक सत्यता पर निराकारवादियों तक को सन्देह नहीं होता हालांकि
वे उन्हें जीव-विशेष ही कहते हैं, जैसे कपिलदेव, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि। कुछ
दूसरे केवल भाव-वाची प्रतीत होते हैं जैसे ग्राह के मुख से गजेन्द्र को छुड़ाने

---

*'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में पूर्वोक्त 'एक प्रेमी महाशय' द्वारा दिये
हुए क्रम को ही हमने अपना क्रम लिखा है।

वाले हरि।* नर-रूपों के अतिरिक्त वराह, कूर्म, मत्स्यादि ऐसे अवतार हैं जिनकी सत्यता पर निराकारवादियों को कदापि विश्वास नहीं आता। सम्भव है वे विकास-वाद की बात को सुनकर उनके महत्त्व को मान लें और उन्हें भी अपने-अपने वर्ग के जीव-विशेष कहने में कोई हानि न समझें। परन्तु जब कभी कोई अवतार-सिद्धि के हेतु वेद वा स्मृत्यादि के मंत्र वा श्लोकों में प्रयुक्त ब्रह्मा, वराह, हंसादि अवतार-सूचक शब्दों को प्रमाण स्वरूप उपस्थित करता है तो निरावतारवादी उनकी व्याख्या कर उन्हें केवल भाव-वाचक सिद्ध करते हैं। जैसे ब्रह्मा, विष्णु को सूर्य का, वराह को मेघ और यज्ञ का, हंस को ब्रह्म का प्रतीक कहते हैं और इसी तरह रुद्र, यज्ञ, वामनादि को भी भावसूचक ही बतलाते हैं। उनकी दृष्टि में भाववाचक कह देने से अशरीरता सिद्ध हो जाती है। परन्तु हम यह देख चुके हैं कि सविकल्पता ही निर्विकल्प ब्रह्म के संतुलन में सशरीर हो जाती है। इसलिये यदि कोई अवतारसूचक संज्ञा को भाव-वाचक ही सिद्ध कर सके तो भी वह सशरीर होने के कारण अवतार ही कहा जा सकता है। परन्तु इस सब का निर्णय यहाँ पर होना असम्भव है। यहाँ तो जो कुछ कहा गया है वह केवल संकेत मात्र स्वल्प विचार धारा है, जो शंकर जैसी काली काली सघन जटाओं में से उलझती हुई सूक्ष्म रूप लेकर बह निकली है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

---

*गजेन्द्र (गणेश) सात्विक बुद्धि का भाव-वाची है और ग्राह उस बुद्धि को निगल जाने वाली कुवृत्तियां आदि। इसलिये यदि गजेन्द्र और ग्राह की कहानी केवल भाव-दर्शी है तो उसका अर्थ यह होता है कि ज्यों ही तुम्हारी सात्विक बुद्धि विचलित हो त्यों ही ईश्वर का स्मरण करो और केवल इतना ही कहो "हे हरि! दौड़ो···"। बस! तत्काल आप कुबुद्धि से मुक्त हो जाते हैं। इसमें बड़ा गम्भीर भाव है। विचारिये। आपको मालूम होने पर उसका मूल्य विदित होगा। विचार आया कि मैं कुमार्ग पर हूँ बस तुरंत मुक्त। अपनी दिन-चर्या ही में जब किसी समय किसी कारण-वश आपको अशान्ति या दुःख हो उसी समय आप अपना मन वहाँ से उचटा दीजिये और देखिये तुरंत शान्तिमय स्थिति आती है।